सामाजिक विज्ञान

भाग 1

आधुनिक भारत

कक्षा आठ के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तक

सामाजिक विज्ञान

भाग 1

आधुनिक भारत

कक्षा आठ के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तक

अर्जुन देव

इंदिरा अर्जुन देव

अनुवादक

गुणाकर मुले

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण

मई 1989 वैशाख 1911 (आधुनिक भारत)

पुनर्मुद्रण

अगस्त 2004 श्रावण 1926

मार्च 2005 चैत्र 1927 (सामाजिक विज्ञान-भाग 1)

PD 150 + 25 TRA

ISBN 81-7450-354-4

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नई दिल्ली 110 016

108, 100 फीट रोड
[illegible]
[illegible] III [illegible]
बैंगलूर 560 085

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
[illegible]
पनिहटी
कोलकाता 700 114

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगांव
गुवाहाटी 781021

इस पुस्तक में सम्मिलित सभी मानचित्र भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित हैं। समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।

रु 30.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटर मार्क 70 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा न्यू भारत ऑफसेट प्रिंटर्स, बी - 124, सैक्टर-6, नौएडा द्वारा मुद्रित

प्रकाशक की टिप्पणी

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) बच्चों और शिक्षकों के लिए विद्यालयी पाठ्यपुस्तकें और अन्य शैक्षिक सामग्री तैयार तथा प्रकाशित करती रही है। ये प्रकाशन विद्यार्थियों, शिक्षकों, अभिभावकों और शिक्षक-प्रशिक्षकों से प्राप्त पुनर्निवेशन के आधार पर नियमित रूप से संशोधित किए जाते हैं। एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा किए गए शोध-कार्य भी इस पाठ्य सामग्री के संशोधन व उसे अद्यतन बनाने का आधार होते हैं।

यह पुस्तक विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा और इसके अनुरूप तैयार किए गए पाठ्यक्रम पर आधारित है। मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने इतिहास की पुस्तकों के पुनरीक्षण के लिए इतिहासकारों की एक समिति का गठन किया। इस समिति की अनुशंसा को ध्यान में रखते हुए एन.सी.ई.आर.टी. की कार्यकारिणी समिति ने *19 जुलाई 2004* को *आयोजित बैठक में यह निर्णय लिया कि अकादमिक* सत्र 2005-2006 में इतिहास की पुरानी पुस्तकें कुछ संशोधनों के साथ इस प्रकार वापस लाई जाएँ, ताकि वे वर्तमान पाठ्यक्रम से संगत हो सकें। अन्य विषयों की पाठ्यपुस्तकों के परीक्षण के लिए त्वरित समीक्षा समितियों का भी गठन किया गया। इस निर्णय का अनुपालन करते हुए इतिहास की पुरानी पाठ्यपुस्तक *आधुनिक भारत* कुछ आवश्यक संशोधनों के साथ प्रस्तुत है। यह पुस्तक *सामाजिक विज्ञान-भाग 1* के रूप में प्रकाशित की गई है, जो सामाजिक विज्ञान के संशोधित पाठ्यक्रम की इकाई-1 के अनुरूप है। हमें आशा है कि पुस्तक का यह संशोधित संस्करण शिक्षण व अधिगम का प्रभावी माध्यम सिद्ध होगा। इस पाठ्यपुस्तक की गुणवत्ता में और अधिक सुधार के लिए हमें आपके सुझावों की प्रतीक्षा रहेगी।

सचिव
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और
प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
जनवरी 2005

भारत का संविधान

उद्देशिका

हम, भारत के लोग, भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न, **समाजवादी, पंथ-निरपेक्ष,** लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को:

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय;

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता;

प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए

तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और **राष्ट्र की एकता और अखंडता** सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए;

दृढ़संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।

आभार

इस पुस्तक के पुनर्मुद्रण में सहयोग के लिए डा. किरन देवेन्द्र के प्रति तथा इसमें सम्मिलित मानचित्रों को तैयार करने हेतु श्री सैयद फ़रमान हैदर के प्रति परिषद् आभारी है।

भारत का संविधान

भाग 4क

नागरिकों के मूल कर्तव्य

अनुच्छेद 51 क

मूल कर्तव्य – भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे;

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे;

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे;

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे;

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों;

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे;

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे;

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे;

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे;

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू सके; और

(ट) यदि माता-पिता या संरक्षक है, छह वर्ष से चौदह वर्ष तक की आयु वाले अपने, यथास्थिति, बालक या प्रतिपाल्य को शिक्षा के अवसर प्रदान करे।

विषय-सूची

भारत का संविधान

भाग 3 (अनुच्छेद 12-35)

(अनिवार्य शर्तों, कुछ अपवादों और युक्तियुक्त निर्बंधन के अधीन)

द्वारा प्रदत्त

मूल अधिकार

समता का अधिकार

- विधि के समक्ष एवं विधियों के समान संरक्षण;
- धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर;
- लोक नियोजन के विषय में;
- अस्पृश्यता और उपाधियों का अंत।

स्वातंत्र्य-अधिकार

- अभिव्यक्ति, सम्मेलन, संघ, संचरण, निवास और वृत्ति का स्वातंत्र्य;
- अपराधों के लिए दोष सिद्धि के संबंध में संरक्षण;
- प्राण और दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण;
- छः से चौदह वर्ष की आयु के बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा;
- कुछ दशाओं में गिरफ्तारी और निरोध से संरक्षण।

शोषण के विरुद्ध अधिकार

- मानव के दुर्व्यापार और बलात श्रम का प्रतिषेध;
- परिसंकटमय कार्यों में बालकों के नियोजन का प्रतिषेध।

धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार

- अंतःकरण की और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार की स्वतंत्रता;
- धार्मिक कार्यों के प्रबंध की स्वतंत्रता;
- किसी विशिष्ट धर्म की अभिवृद्धि के लिए करो के संदाय के संबंध में स्वतंत्रता;
- राज्य निधि से पूर्णतः पोषित शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा या धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के संबंध में स्वतंत्रता।

संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार

- अल्पसंख्यक-वर्गों को अपनी भाषा, लिपि या संस्कृति विषयक हितों का संरक्षण;
- अल्पसंख्यक-वर्गों द्वारा अपनी शिक्षा संस्थाओ का स्थापन और प्रशासन।

सांविधानिक उपचारों का अधिकार

- उच्चतम न्यायालय एव उच्च न्यायालय के निर्देश या आदेश या रिट द्वारा प्रदत्त अधिकारो को प्रवर्तित कराने का उपचार।

अध्याय 1

भारत और आधुनिक दुनिया

कल्पना करो कि सत्रहवीं सदी का कोई व्यक्ति किसी करिश्मे से पुनः जीवित होकर आज की दुनिया में पहुंचता है। उसे आज की दुनिया उसकी अपनी 17वीं सदी की दुनियाँ से काफी बदली हुई नज़र आएगी। उसे अपने समय की कुछ इमारतें आज भी खड़ी दिखाई दे सकती हैं। उनमें कुछ इमारतें खंडहर बन चुकी होंगी, तो कुछ साबुत भी होंगी। मगर शेष अधिकांश चीजें उसे एकदम बदली हुई दिखाई देंगी। वह कई सारे नए नगरों और शहरों को देखेगा। वह यह भी देखेगा कि उसके ज़माने के शहरों से आज के शहरों का स्वरूप भिन्न है। भूदृश्य भी उसे बदला हुआ दिखाई देगा, क्योंकि उसके ज़माने में न तो आज जैसे कारखाने थे और न ही पक्की सड़कें। उसके समय के मकान भी आज जैसे नहीं थे। सड़कों पर उसे तरह-तरह की ऐसी गाड़ियां दिखाई देगी जिनकी उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी। आसमान में उड़ते हवाई जहाज़ को और पटरियों पर दौड़ती रेलगाड़ी को देखकर वह चकित रह जाएगा। दुकानों में उसे ऐसी चीजें दिखाई देंगी जिनको उसने पहले कभी नहीं देखा था। उनका इस्तेमाल करना भी उसे सीखना होगा। गावों में उसे खेती करने के कुछ नए तरीके देखने को मिलेंगे। कुछ ऐसी फसलें भी हो सकती हैं जिन्हें उसने पहले कभी नहीं देखा था। उसी प्रकार, समाज, राजनीति और संस्कृति में भी उसे आश्चर्यजनक परिवर्तन नज़र आएगा। कहा जा सकता है कि लगभग सब कुछ बदला हुआ दिखाई देगा। यहां तक कि लोगों को जो भाषा वह बोलते सुनेगा वह भी उसकी अपनी भाषा से कुछ भिन्न होगी। इस तरह वह अपने को एक ऐसी काफी बदली हुई दुनिया में पाएगा जिसकी उसने सपने में भी कल्पना नहीं की होगी।

इस पुस्तक में उन प्रमुख घटनाओं की जानकारी दी गई है जो पिछले दो-तीन सौ सालों में दुनिया में और खासकर हमारे अपने देश में घटित हुई हैं। इन घटनाओं ने दुनिया को, और साथ ही भारत को भी, इतना अधिक बदला है कि 17वीं सदी के

हमारे काल्पनिक दोस्त को आज की अधिकतर चीजें अपरिचित नज़र आती हैं। तुम प्राचीन और मध्ययुग के लोगों के जीवन के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त कर चुके हो। तुम जानते हो कि यह दुनिया अपने आरम्भकाल से लेकर आज तक कभी भी स्थिर नहीं रही। यह मानव के सामूहिक क्रिया-कलापों के कारण निरंतर बदलती रही है। समाज, अर्थव्यवस्था, राजनीतिक संस्थाएं, कला, संस्कृति आदि प्राय: सभी क्षेत्रों में परिवर्तन होते रहे हैं। पिछले कुछ सौ वर्षों में ये परिवर्तन बड़ी तेज़ी से हुए हैं।

वे कौन से परिवर्तन हैं जिन्होंने हमारी आज की दुनिया को पुरानी दुनिया से काफी भिन्न बना दिया है? ये परिवर्तन कब और कैसे शुरू हुए और इन्होंने दुनिया को किस तरह प्रभावित किया? इन परिवर्तनों को समझने के लिए हमे पिछले दो-तीन सौ सालों का इतिहास जानना होगा।

इस काल का इतिहास हम कैसे जान सकते हैं? तुम पहले पढ़ चुके हो कि पुराने ज़माने के अवशेष–पुरातत्वविदों द्वारा खोज निकाले गए मकान और हथियार-औजार या धातुपत्र अथवा पत्थर पर उकेरे गए अभिलेख या पुस्तकें और दस्तावेज़-प्राचीन तथा मध्यकाल का इतिहास रचने में किस प्रकार सहायक सिद्ध हुए हैं। आधुनिक काल का इतिहास लिखने के लिए हमें प्रर्याप्त स्रोत-सामग्री मिलती है। इस स्रोत-सामग्री को बहुत कम क्षति पहुंची है। लोगों ने भी इनमें से कई स्रोतों को सावधानी से सुरक्षित रखा है। सरकारी कामकाज से संबंधित दस्तावेज, अभिलेख और किताबें अभिलेखागारों में सुरक्षित रखी गई हैं। इन्हें तुम देख सकते हो, पढ़ सकते हो। इस काल में लिखी और छापी गई अन्य पुस्तकें अब भी पुस्तकालयों में मौजूद हैं और कुछ घरों में भी मिल सकती हैं। इनमें से अनेक पुस्तकें और रिपोर्टें हर साल पुन: मुद्रित होती हैं और इस प्रकार उनके लिए ये आसानी से उपलब्ध हो जाती हैं जो इन्हें पढ़ना चाहते हैं। इनके अलावा और भी कई चीज़ें हैं जिन्हें तुम देख सकते हो, समझ सकते हो। उदाहरण के लिए, पुरानी महत्त्वपूर्ण इमारतें और 19वीं सदी के लगभग मध्यकाल से उपयोग में लायी जा रही वें मशीनें जो या तो औद्योगिक संग्रहालयों में सुरक्षित रखी गई हैं या आज भी इस्तेमाल हो रही हैं। फिर, आज भी ऐसे अनेक लोग जीवित हैं जिन्होंने आधुनिक काल में हमारे देश में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने में मदद की है। ऐसे अनेक व्यक्ति आज भी जीवित हैं जिन्होंने भारत को आज़ाद करने के लिए साम्राज्यवाद के ख़िलाफ संघर्ष किया। हम उनसे आज़ादी के आन्दोलन के बारे में

जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार, ऐसी अनेक चीज़ें हैं जिनसे हमें अपने देश के आधुनिक इतिहास के विभिन्न पहलुओं के बारे में पर्याप्त जानकारी मिल सकती है।

हम आधुनिक भारत के इतिहास की शुरुआत अठारहवीं सदी से क्यों मानते हैं? अन्य देशों के इतिहास की तरह भारत के इतिहास को भी आमतौर पर प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक कालों में विभाजित किया जाता है। यह विभाजन यह स्पष्ट करने के लिए किया जाता है कि प्रत्येक काल में समाज, अर्थव्यवस्था, राजनीति तथा संस्कृति की स्थिति पहले के काल से काफी भिन्न रही है। किसी भी काल के लिए पहले से चली आ रही चीज़ों की बनिस्बत उसी काल में जन्म लेने वाली चीज़ें ज्यादा महत्त्व की होती हैं। प्राचीन भारत के इतिहास और मध्यकालीन भारत के इतिहास में अंतर दर्शाने वाले कुछ कारणों को तुम जानते हो। हमारे इतिहास के मध्यकाल तथा आधुनिक काल में और भी अधिक बुनियादी अंतर है। इसका कारण यह है कि आधुनिक काल में परिवर्तन की रफ्तार पहले की अपेक्षा बहुत ज़्यादा रही है। इस पुस्तक में आधुनिक भारत का इतिहास हम अठारहवीं सदी से आरम्भ करते हैं, क्योंकि आधुनिक काल के परिचायक अनेक परिवर्तनों की शुरुआत इसी सदी में हुई । ये परिवर्तन पहले दुनिया के अन्य भागों में शुरू हुए और फिर हमारे देश में इनका आगमन ऐसी परिस्थितियों में हुआ जिन पर हमारा कोई बस नहीं था, क्योंकि हमारा देश विदेशियों के कब्ज़े में चला गया था। फिर भी इन परिवर्तनों ने हमारे देश के लोगों के जीवन को काफी गहराई तक प्रभावित किया है। इसलिए जानना ज़रूरी है कि कौन-कौन से परिवर्तन हुए और वे किन रूपों में हुए।

तुम्हें याद होगा कि अठारहवीं सदी के शुरू में हमारा देश किस प्रकार टुकड़ों में बंट गया था। प्रशासन कमज़ोर था और जन-जीवन तथा सम्पत्ति असुरक्षित थी। यूरोप के सौदागरों ने, जो उस भारत के विभिन्न भागों में व्यापार में जुटे हुए थे, देश की इस दयनीय स्थिति से फायदा उठाया। उनमें से जो सौदागर इंग्लैंड से आए थे वे हमारे देश के मालिक बन गए। आगे के दो सौ सालों तक भारत ग़ुलाम बना रहा। फलस्वरूप आधुनिक बनने में वह पीछे रह गया। मगर भारत की ग़ुलामी का यही काल भारतीय जनता की जागृति का भी काल था। इसी काल में अपनी आज़ादी की लड़ाई लड़ने के लिए भारतीय जनता एकजुट हुई। भारत 1947 में स्वतंत्र हुआ और भारतीय जनता ने एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अपने देश के पुनः निर्माण का कार्य शुरू कर दिया।

इस काल में भारत के पतन और पुन: उत्थान की कहानी शुरू करने के पहले हम दुनिया में घटित हुए मुख्य परिवर्तनों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे। आधुनिक युग को जन्म देने वाले अनेक परिवर्तनों की शुरुआत सबसे पहले यूरोप में हुई।

नवजागरण, पूंजीवाद का उदय और औद्योगिक क्रांति

आदमी की जिज्ञासु और साहसी मनोवृत्ति उसे अज्ञात को खोजने तथा जानने के लिए हमेशा ही प्रेरित करती रही है। मानव के ज्ञान-भंडार में वृद्धि करने और अज्ञात देशों को खोजने की नई प्रेरणाएं प्रमुखत: एक ऐसे आंदोलन से मिलीं जिसका जन्म मध्ययुग के अंतिम दौर में इटली के कुछ नगरों में हुआ था। "नवजागरण" नामक इस आंदोलन के बारे में तुम पढ़ चुके हो। नवजागरण ने यूरोप के अनेक व्यक्तियों को स्वतंत्र-चिंतन के लिए और चिरस्थापित सिद्धांतों तथा प्रथाओं के बारे में निस्संकोच प्रश्न उठाने के लिए प्रेरित किया। फलत: वैज्ञानिक पद्धति का प्रसार हुआ। वैज्ञानिक पद्धति का अर्थ है, प्रश्न उपस्थित करके पर्यवेक्षण तथा प्रयोग के द्वारा ज्ञान प्रयाप्त करना। आधुनिक विज्ञान और टेक्नालॉजी के अविष्कार पूर्णत: इसी पद्धति पर आधारित हैं। प्रश्नचिन्ह लगाने की इस प्रवृत्ति ने कई यूरोपवासियों को निरंकुश शासकों और रोमन कैथोलिक चर्च की अंधविश्वास पर आधारित आपत्तिजनक प्रथाओं के खिलाफ विद्रोह करने के लिए उकसाया। व्यापार-संबंधों और अन्य सम्पर्कों के ज़रिए इस दृष्किोण का धीरे-धीरे दुनिया के अन्य भागों में भी फैलाव हुआ।

मध्यकाल के उत्तरार्ध में, व्यापार में वृद्धि के कारण, यूरोप के अनेक नगरों की समृद्धि बढ़ी। ये नगर या तो व्यापारी मार्गों के चौराहों पर बसे हुए थे या समुद्र तथा नदी के उन तटवर्ती स्थानों पर जो व्यापार की दृष्टि से सुविधाजनक थे। जैसा कि स्वाभाविक था, नगरों में रहने वाला यह व्यापारी समुदाय वहां का सबसे प्रमुख वर्ग बन गया। देहाती क्षेत्र की अपेक्षा शहरों में ज़्यादा खुला वातावरण था। इसलिए शहरों में तरह-तरह के नए विचारों का और कला तथा साहित्य से संबंधित कलापों का खूब विकास हुआ। जैसे-जैसे व्यापार में वृद्धि हुई, वैसे-वैसे व्यापारी वर्ग का महत्त्व बढ़ता गया। समाज और सरकार में व्यापारियों को उच्च पद प्राप्त हुए। इस प्रकार सरदारों और आम लोगों के बीच एक नए वर्ग—मध्यवर्ग—का उदय हुआ। व्यापारियों के साथ कुशल कारीगर भी जुड़ गए। बाद में निर्माता भी उनके समुदाय में सम्मिलित हुए। इस प्रकार मध्यवर्ग का दायरा

और महत्त्व बढ़ता गया। नवजागरण का युग महान खोजयात्राओं का भी युग था। यूरोप के नाविकों और नौचालकों ने एशिया के देशों में पहुंचने के लिए समुद्री-मार्गों की खोज की। उन्होंने ऐसे अनेक देशों की खोज की जिनकी यूरोपवासियों को जानकारी नहीं थी। तुम पहले पढ़ चुके हो कि किस प्रकार वास्को डि गामा ने भारत के समुद्री-मार्ग की और कोलंबस ने अमरीका महाखंड की खोज की। नए मार्गों और भूभागों की खोज के कारण यूरोप के सौदागरों के व्यापार में खूब वृद्धि हुई। यूरोपवासियों ने अपने व्यापारी बंदरगाह और उपनिवेश भी स्थापित किए। यूरोप के कुछ देशों के लोग अमरीका पहुंच कर वहां अनेक क्षेत्रों में आबाद हुए।

इस सारे विकास के परिणामस्वरूप यूरोप में सामंतवाद का पतन आरंभ हुआ। इसके स्थान पर एक नई समाज-व्यवस्था, जिसे पूंजीवाद कहते हैं, अस्तित्व में आने लगी। इस नई समाज-व्यवस्था की मुख्य विशेषता थी : पूंजीपतियों और श्रमिकों के दो नए वर्गों का उदय। पूंजीपति दलालों तथा मशीनों के और कारखानों में उन मशीनों द्वारा तैयार होने वाली वस्तुओं के मालिक थे। उनका मुख्य उद्देश्य था मुनाफा कमाना। वस्तुओं के बिक्री पर भी उन्हीं का नियंत्रण था। श्रमिक लोग वस्तुओं का उत्पादन करते थे और पूंजीपतियों से वेतन प्राप्त करते थे।

यह नई समाज-व्यवस्था किस तरह अस्तित्व में आई? देश में और विदेशों में व्यापार का विस्तार हुआ तो यूरोप का व्यापारी समुदाय उत्पादन की प्रणाली में सुधार करने के लिए विवश हुआ, ताकि कम समय में ज़्यादा वस्तुएं तैयार की जा सकें। वस्तुओं की मांग ज़्यादा बढ़ जाने के कारण उत्पादन के तरीकों में बड़ी तेज़ी से परिवर्तन हुए। उसके पहले कारीगर अपने सामान्य औज़ारों से अपने घरों में काम करते थे और उनके परिवारों के सदस्य उनकी मदद करते थे। वे आवश्यक कच्चा माल व्यापारियों प्राप्त करते थे और फिर तैयार की गई वस्तुएं उन्हें मुहैया कराते थे। यह "घरेलू व्यवस्था" बाज़ार की लगातार बढ़ती मांग की पूर्ति करने में समर्थ नहीं थी। अठारहवीं सदी में इसका स्थान "कारखाना व्यवस्था" ने ले लिया। कारखाने का मालिक पूंजी लगाकर बड़ी मात्रा में कच्चा माल खरीदता था, नई आविष्कार की गई मशीनों की मदद से उत्पादन करने वाले कारीगरों को काम पर लगाता था और तैयार की गई वस्तुओं को बाज़ार में बेचता था। श्रमिक अब अपने घरों में नहीं, बल्कि कारखानों में काम करते थे।

पहले की समाज-व्यवस्था में राजा या सामंत सबसे शक्तिशाली व्यक्ति होते थे,

मगर नई व्यवस्था में उनका स्थान कारखाने के मालिक या पूंजीपति ने ले लिया। सबसे पहले इंग्लैंड में इस नई समाज-व्यवस्था का उदय हुआ। मशीनों का उपयोग भी सबसे पहले इंग्लैंड में हुआ। सूत कताई की मशीन, नए किस्म के करघों और भाप की शक्ति से चलने वाले इंजन के आविष्कार के कारण इंग्लैंड में सूती कपड़ों के उत्पादन में खूब वृद्धि हुई।

विकास के इस नए दौर को—कारखानों में मशीनों की मदद से वस्तुओं के उत्पादन को-औद्योगिक क्रांति का नाम दिया गया है। इस क्रांति की शुरूआत इंग्लैंड में 18वीं सदी के उत्तरार्ध में हुई। बाद में इस क्रांति ने अन्य जगहों की उत्पादन-प्रणाली को भी प्रभावित किया। आगे जाकर बिजली तथा धमन भट्ठी जैसे आविष्कारों ने और लोहे की ढलाई तथा बेलनी के नए साधनों ने औद्योगिक क्रांति को पहले से भी अधिक प्रभावकारी बना दिया। नई पूंजीवादी समाज-व्यवस्था और औद्योगिक क्रांति ने समूचे संसार के इतिहास को एक नई दिशा दी।

अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांतियां

अठारहवीं सदी के अंतिम दशकों में दो और क्रांतियां हुईं। उन क्रांतियों ने आधुनिक दुनिया के निर्माण में बड़े महत्त्व की भूमिका अदा की। वे क्रांतियां थीं : अमरीकी स्वतंत्र्य युद्ध और फ्रांसीसी क्रांति।

पहली क्रांति का सरोकार अंग्रेज़ी सरकार द्वारा उत्तरी अमरीका में बसाए गए तेरह उपनिवेशों से था। उक्त उपनिवेशों के अधिकांश लोग इंग्लैंड से आए थे। परंतु उन्हें वे अधिकार नहीं दिए गये थे जो कि इंग्लैंड में बसे हुए अंग्रेज़ों को प्राप्त थे। उत्तरी अमरीका के उन उपनिवेशों में बसे हुए लोग अंग्रेज़ी सरकार के अधीन थे। अंग्रेज़ी सरकार उनसे कर वसूल करती थी। करों में वृद्धि होती गई और वाणिज्य-व्यवस्था तथा प्रशासन पर अनेक प्रकार के प्रतिबंध लगाए गए तो उपनिवेशों ने विरोध शुरू कर दिया। अठारहवीं सदी के सातवें और आठवें दशक में अनेक जगहों पर विद्रोह हुए। वे अपने को अमरीकी मानने लगे और मांग करने लगे कि उनका राष्ट्र इंग्लैंड से स्वतंत्र होना चाहिए।

अनेक उपनिवेशी लोगों को उस समय के क्रांतिकारी विचारों से प्रेरणा मिली थी। उस समय के कुछ अंग्रेज़ और फ्रांसीसी दार्शनिकों ने विचार व्यक्त किए थे कि मनुष्य को कुछ मौलिक अधिकार प्राप्त हैं जिन्हें कोई भी सरकार छीन नहीं सकती। अन्याय के खिलाफ विद्रोह करना ऐसा ही एक अधिकार था। इस अधिकार का उपयोग करने के लिए अमरीकी नेता थामस जेफ़रसन ने अपने उपनिवेशी

उत्तरी अमरीका में ब्रिटिश उपनिवेशों के लोग "स्वतंत्रता की घोषणा" का उत्सव मनाते हुए

साथियों को प्रोत्साहित किया। 4 जुलाई, 1776 को तेरह उपनिवेशों के प्रतिनिधि आपस में मिले और उन्होंने "स्वतंत्रता की घोषणा" की। इस घोषणा में कहा गया कि सभी मनुष्य जन्मतः समान हैं और मनुष्य को जो कतिपय जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त हैं उन्हें कोई नहीं छीन सकता। इन अधिकारों में जीवन, स्वतंत्रता तथा सुख-प्राप्ति के अधिकार शामिल हैं। चूंकि अंग्रेज़ी सरकार इन अधिकारों को मानने के लिए तैयार नहीं थी इसलिए अमरीकियों ने स्वतंत्रता की लड़ाई शुरू कर दी। अन्ततोगत्वा उपनिवेशों को स्वतंत्रता मिली। उन्होंने गणतंत्र प्रणाली की सरकार स्थापित की और वे अपने को संयुक्त राज्य अमरीका कहने लगे। गणतंत्र में सरकार की उसकी शक्ति जनता से मिलती है। जनता के जिन प्रतिनिधियों ने अमरीका में एक नई सरकार का गठन किया उन्होंने एक अधिकार-विधेयक (बिल आफ राइट्स) स्वीकार किया। इस विधेयक ने अमरीकी नागरिकों को कुछ अधिकार प्रदान किए।

उसके तुरंत बाद, आज से दो सौ साल पहले, फ्रांस में क्रांति हुई। उस समय फ्रांस की आम जनता की दशा बड़ी दयनीय थी, जब कि सामंती सरदार और चर्च के उच्च पदाधिकारी सभी प्रकार के विशेषाधिकार भोग रहे थे। यहां तक की जो लोग धनी थे मगर सामंती परिवार के नहीं थे, जैसे कि व्यापारी,

14 जुलाई, 1789 को पेरिस में जनता द्वारा बैस्टील के राजकीय कैदखाने पर धावा फ्रांस की क्रांति का प्रतीक हुआ।

उन्हें भी अधिकार प्राप्त नहीं थे। चर्च और सामंती सरदार, जिनके पास बड़ी-बड़ी जागीरें थीं, कोई कर नहीं देते थे। केवल आम जनता ही कर देती थी। ऊपर से फ्रांस का राजा सोलहवां लुई अधिक कर लगाना चाहता था और नए ऋण के नाम पर जनता से धन उगाहना चाहता था। मगर तब तक फ्रांसीसी दार्शनिकों के क्रांतिकारी विचार आम जनता को स्वशासन या अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रेरित कर चुके थे। अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए जनता उठ खड़ी हुई और इस प्रकार क्रांति की शुरूआत हुई। जनता के प्रतिनिधियों ने अपने को 'फ्रांस की राष्ट्रीय असेंबली' के रूप में गठित कर लिया। 14 जुलाई, 1789 को जनता ने पेरिस में बैस्तील के कैदखाने को तोड़ दिया। हर साल वह दिन फ्रांस के राष्ट्रीय दिवस के रूप में मनाया जाता है।

राष्ट्रीय असेंबली ने "मनुष्य और नागरिक के अधिकारों का घोषणापत्र" पारित किया। इस घोषणापत्र में कहा गया कि "सभी मनुष्यों को जन्म से ही स्वतंत्रता और समानता के अधिकार जीवनभर के लिए मिले हुए हैं।" क्रांति के बाद फ्रांसीसी गणराज्य की स्थापना हुई। स्वतंत्रता, बंधुत्व और समानता उसके मार्गदर्शक सिद्धांत बन गए।

राष्ट्रवाद

संसार के सभी देशों में जनतंत्र और जनता की सार्वभौम सत्ता स्थापित करने में प्रयत्नशील लोगों को अमरीका और फ्रांस की क्रांतियों से प्रेरणा मिली। इन क्रांतियों ने राष्ट्रीयता के विचार को भी दृढ़ बनाया। राष्ट्रीयता और राष्ट्रों का निर्माण नई स्थापनाएं थीं। तुम प्राचीन और मध्यकाल के राज्यों तथा साम्राज्यों के बारे में पढ़ चुके हो। वे उस अर्थ में 'राष्ट्र' नहीं थे जिस अर्थ में आज हम इस शब्द का प्रयोग करते हैं। राष्ट्रों का निर्माण तब शुरू हुआ जब एक निश्चित भूभाग में रहने वाले लोगों ने, जिनका अपना एक लंबा और एक-सा इतिहास था, अपने को एक जनगण के रूप में मानना शुरू कर दिया। वे लोग एक-दूसरे पर आश्रित और दूसरों से अलग थे। मध्ययुग में यूरोप के अधिकांश देशों के राजाओं के हाथों में बहुत

कम शक्ति रह गई थी। अपनी जागीरों में सामंती सरदार अत्यंत शक्तिशाली बन गये थे। यहां तक कि एक ही देश के कायदे-कानून दूसरे प्रदेश के कायदे-कानून से भिन्न थे। जहां सम्राज्य थे वहा अक्सर ही एक देश का शासक दूसरे देशों के कुछ हिस्सों को हड़पने की कोशिश करता था। राज्यो की सीमाएं अक्सर बदलती रहती थीं।

सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के साथ-साथ बड़े पैमाने पर राजनीतिक परिवर्तन भी शुरू हुए। जो देश के कई राज्यों में बंटे हुए थे वे एकजुट हुए। इस प्रकार एक देश के विभिन्न भाग संयुक्त होकर एक राज्य बन गए। यूरोप में इंग्लैंड और फ्रांस पहले देश थे जिनका स्वतंत्र और संयुक्त राज्यों के रूप में उदय हुआ। जो देश आंशिक या पूर्ण रूप से विदेशी शासन के अधीन था उसने गुलामी की जंजीर तोड़ फेंकने के लिए और अपने को एक संयुक्त राष्ट्र के रूप में स्थापित करने के लिए संघर्ष शुरू कर दिया। उन्नीसवीं सदी में पौलेंड, ग्रीस (यूनान), जर्मनी, इटली तथा अन्य अनेक देशों में स्वतंत्रता और राष्ट्रीय एकता के लिए संघर्ष हुए। दूसरे देशों ने संघर्ष जारी रखकर बींसवी सदी में आज़ादी हासिल की। उन्नीसवीं और बींसवी सदी की दुनिया के निर्माण में विदेशी अधिपत्य से स्वतंत्रता प्राप्ति तथा राष्ट्रीय एकीकरण के लिए किए गए संघर्ष ने सबसे महत्व की भूमिका अदा की है।

साम्राज्यवाद

जब यूरोप और अमरीकी महाखंड के देशों में जनतांत्रिक और राष्ट्रीय सरकारें स्थापित हो रही थीं और उद्योगों के विकास के लिए मशीनों का प्रयोग हो रहा था, तब भारत और एशिया तथा अफ्रीका के अन्य देशों में क्या हो रहा था?

तुम यूरोप के उन नाविकों और व्यापारियों के बारे में पढ़ चुके हो जो पंद्रहवीं सदी से लगातार एशिया के बंदरगाहों में पहुंचने लगे थे। वे मसाले, सूती कपड़ा, मलमल, चाय, चीनी, शोरा आदि चीज़ें खरीदने आते थे। यूरोप में इन चीज़ों की बड़ी मांग थी। यूरोप से आने वाले ये नाविक और व्यापारी मुख्यत: पुर्तगाल, हालैंड, डेनमार्क, इंग्लैंड तथा फ्रांस के निवासी थे। ये सब समुद्र-तटवर्ती देश थे। यूरोप के व्यापारी अपना माल श्रीलंका, भारत, मलेशिया, इंडोनेशिया, आदि देशों से खरीदते थे। इस व्यापार से उन्हें भारी मुनाफा होता था, इसलिए वे आपस में अक्सर लड़ते रहते थे। इस लड़ाई में उन्हें अपनी-अपनी सरकारों से मदद मिलती थी अठाहरवीं सदी के मध्यकाल तक इगलैंड की ईस्ट इंडिया कंपनी एशिया के साथ व्यापार करने वाले यूरोप के व्यापारी

समुदाय में प्रमुख स्थान प्राप्त कर चुकी थी। इस कंपनी का मुख्य केंद्र भारत था। यूरोप के अन्य देशों के व्यापारियों ने अपने केंद्र एशिया के अन्य देशों में स्थापित किए।

उस समय एशिया और अफ्रीका के देशों की स्थिति यूरोप से काफी भिन्न थी। इनकी सरकारें कमजोर थीं। इनमें से किसी के पास अच्छी नौसेना भी नहीं थी। जिन आर्थिक परिवर्तनों ने यूरोप के देशों को शक्तिशाली बना दिया था उनकी एशिया और अफ्रीका के देशों में अभी शुरूआत भी नहीं हुई थी। व्यापार के लिए एशिया के देशों में पहुंचे हुए यूरोपवासियों ने छल-कपट और लड़ाइयों से इन पर कब्ज़ा कर लिया।

एशिया और अफ्रीका के देश कमज़ोर तो थे ही, मगर एक और महत्त्वपूर्ण कारण था जिसने यूरोपवासियों को इन देशों पर अपना कब्ज़ा जमाने और इनमें अपने उपनिवेश स्थापित करने के लिए प्रेरित किया। हम देख चुके हैं कि औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप वस्तुओं के उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि हुई थी। कारखानों में उत्पादन लगातार होता रहे और उनके मालिकों को अधिक मुनाफा मिलता रहे इसके लिए कच्चे माल के नए स्रोत और तैयार किए माल के लिए उपयुक्त बाज़ार खोजना आवश्यक था। यूरोप के व्यापारी एशिया के बाज़ारों से अच्छी तरह परिचित थे। इन बाज़ारों पर कब्ज़ा करने के लिए इन पर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया गया।

इस प्रकार एशिया पर साम्राज्यवाद का औपनिवेशिक कब्ज़ा शुरू हुआ। उन्नीसवी सदी के मध्यकाल से अफ्रीका भी इसकी चपेट में आ गया। यूरोप के जिन देशों ने अपने उद्योगों का विकास कर लिया था और

अफ्रीका और एशिया के बहुत से देशों में यूरोप के सौदागरों ने व्यापारिक केंद्रों और उपनिवेशों को स्थापित करना शुरू किया। चित्र में 18वीं शताब्दी में चीन के शहर कैंटन में ब्रिटेन और अन्य यूरोपीय देशों द्वारा स्थापित व्यापारिक केंद्रों को दिखाया गया है।
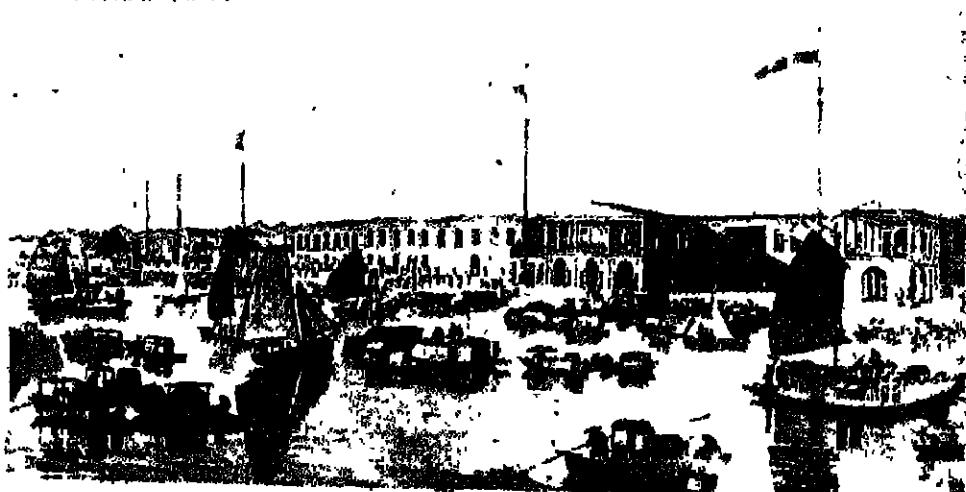
जो सैनिक दृष्टि से अधिक बलशाली थे उन्होंने एशिया और अफ्रीका की जनता पर विजय प्राप्त की।

उन्नीसवीं सदी के अंत तक एशिया और अफ्रीका के अधिकांश प्रदेश यूरोपीय साम्राज्यावाद के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष नियंत्रण में चले गए। यूरोपवासियों के ये उपनिवेश उनके लिए आर्थिक लाभ के स्रोत तो थे ही, इसके अलावा ये उनके राष्ट्रीय स्वाभिमान के भी प्रतीक बन गए। दूसरे महायुद्ध (1939 – 1945) ने साम्राज्यवादी शक्तियों को कमज़ोर बना दिया। उपनिवेशों पर उनका कब्ज़ा ढीला पड़ गया। साम्राज्यवाद के विरुद्ध विश्व-जनमत भी तैयार हो गया। मगर उपनिवेशों में साम्राज्यवादी शक्तियो के विरुद्ध संघर्ष काफी पहले शुरू हो गए थे। स्वतंत्रता सेनानियों को कड़ा मुकाबला करना पड़ा था और अनेक कुर्बानियां देनी पड़ी थीं। सन् 1945 ई. में दूसरा महायुद्ध समाप्त होने पर एशिया और अफ्रीका के लगभग सभी देश स्वतंत्र हो गए।

नए आंदोलन

बीसवीं सदी में कुछ नई क्रांतियां हुईं। इन्होंने कुछ देशों में एक नई समाज-व्यवस्था स्थापित करने में योग दिया। फ्रांसीसी क्रांति ने एक ऐसे जनतंत्र का प्रचार किया था जो हर व्यक्ति को समान अधिकार देने का समर्थक हैं। मगर पूजींवाद के विकास ने जनता को दो प्रमुख वर्गों में बांट दिया– पूजींपति–वर्ग और मज़दूर–वर्ग। मज़दूरों को नए उद्योगों के अधिकांश फायदे नहीं मिले और वे ग़रीब और प्रायः बेरोज़गार बने रहे। ऐसी स्थिति में आर्थिक तथा सामाजिक समानता से रहित राजनीतिक समानता को अधूरा समझा जाने लगा।

उन्नीसवीं सदी के दौरान मज़दूरों ने अपने आम हितों की रक्षा और प्राप्ति के लिए अपने संगठन बनाने शुरू कर दिए। ये संगठन 'मजदूर संघ' (ट्रेड यूनियन) कहलाए। नई और बेहतर ज़िंदगी के लिए उन्होंने राजनीतिक आंदोलन भी शुरू किए। कुछ विचारकों और दार्शनिकों ने यह मांग उठाई कि ज़मीन, कारखाने और उत्पादन के अन्य साधन चंद व्यक्तियों के कब्ज़े में नहीं रहने चाहिए। इन पर समूची जनता का स्वामित्व होना चाहिए। इनमें दो ऐसे विचारक हुए जिनके सिद्धांतों का सारी दुनिया पर असर पड़ा। ये दो विचारक थे: कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स। दोनों घनिष्ठ मित्र थे और दोनों ने करीब 40 साल तक साथ-साथ काम करके अपने विचारों को विकसित किया। उन्होंने कहा कि पूंजीवाद के स्थान पर एक नई समाज–व्यवस्था–समाजवाद–की स्थापना होगी।

7 नवम्बर 1917 में व्लादिमिर इलिइच लेनिन के नेतृत्व में रूसी क्रांति हुई। चित्र में लेनिन का और पीटर्सबर्ग के शीत महल पर जनता के धावे को दिखाया गया है।

समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन के सारे साधन– ज़मीन, कारखाने, आदि–पूरे समाज की सामूहिक संपत्ति होंगे; इन पर चंद लोगों का अधिकार नहीं रहेगा। इन विचारकों के सिद्धांतों के आधार पर, समाजवाद की स्थापना के लिए, दुनिया के लगभग सभी भागों में राजनीतिक आंदोलन शुरू हुए। इनके विचारों से प्रेरित पहली सफल क्रांति 1917 ई. में रूस में हुई, जिसने वहां की निरंकुश ज़ारशाही को उखाड़ फेंका। क्रांति के बाद वहां समाजवादी व्यवस्था का निर्माण शुरू हुआ। पहले घटित अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांतियों की तरह ही रूसी क्रांति का भी सारी दुनिया पर बड़ा असर पड़ा। हमारा राष्ट्रीय आंदोलन भी रूसी क्रांति के असर से अछूता नहीं रहा। मार्क्स तथा एंगेल्स के विचारों ने और रूसी क्रांति ने दुनिया के सभी देशों को प्रभावित किया है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि पिछले दो-तीन सौ सालों में दुनिया अनेक आंदोलनों और क्रांतियों से गुज़री है। दुनिया में बहुत अधिक परिवर्तन हुआ है। इस काल में दुनिया के सभी देश एक-दूसरे के निकट संपर्क में आए हैं। दुनिया के एक हिस्से में यदि कोई घटना होती है तो उसकी सूचना दुनिया के दूसरे हिस्से में फौरन पहुंच जाती है। एक देश में घटित होने वाली घटनाएं अक्सर अन्य देशों को प्रभावित करती है। बीसवीं सदी में दो महायुद्ध हुए, जिन्होंने दुनिया के प्रायः सभी देशों को प्रभावित किया। इन महायुद्धों में लाखों लोग मारे गए। परंतु युद्धों का अंत करने और एक ऐसी शांतिमय दुनिया के निर्माण के भी प्रयास हुए हैं जिसमें सभी मनुष्य समान अधिकार प्राप्त करेंगे और अभाव व दारिद्र्य से मुक्ति पाएंगे। आज समूची दुनिया के सामने और दुनिया के प्रत्येक देश के सामने अनेक समस्याएं हैं। जिस दुनिया में हम रहते हैं उसे और साथ ही अपने देश को भी, समझना हमारे लिये जरूरी है। वर्तमान को समझने के लिये अतीत की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

आगे के अध्याय तुम्हें उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं को समझने में मदद देंगे जो हमारे देश में 1947 तक घटित हुईं जब हम एक स्वाधीन राष्ट्र बने।

अभ्यास

1. पारिभाषिक शब्द

पुरातत्व – प्राचीन स्थलों के अवशेषों और शिल्प उपकरणों के उत्खनन पर आधारित प्राचीन निवासियों के जीवन और संस्कृति का वैज्ञानिक अध्ययन।

अभिलेख – पत्थरों, सिक्कों, धातुपत्रों और अन्य वस्तुओं पर खुदे हुए लेख।

पूंजीवाद – एक आर्थिक पद्धति जिसमें उत्पादन के साधन और उसका वितरण पूंजीपतियों के हाथ में होता है और उत्पादन एवं वितरण उनके लाभ के लिए किए जाते हैं।

समाजवाद- एक सामाजिक व्यवस्था जिसमें उत्पादन के साधनों का स्वामी नीजी व्यक्तियों की अपेक्षा संपूर्ण समाज होता है।

2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो:
   1. आधुनिक विश्व के निर्माण में पुनर्जागरण का क्या योगदान था?
   2. यद्यपि औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप वस्तुओं के उत्पादन में बहुत अधिक मात्रा में वृद्धि हुई, किन्तु श्रमिकों की स्थिति दयनीय हो गई इसके लिए कौन से कारण ज़िम्मेदार थे?
   3. अमरीकी स्वतंत्रता की लड़ाई और फ्रांसीसी क्रांति की क्या उपलब्धियां थीं ?
   4. एशिया और अफ्रीका पर साम्राज्यवादी देशों के विजय के क्या कारण थे?
   5. 1917 की क्रांति का आर्थिक एवं सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा?

3. कालम "क" में कुछ व्यक्तियों के नाम दिए हैं। कालम "ख" में घटनाओं या स्थानों के नाम हैं इन दोनों को इस तरह व्यवस्थित करो कि कालम "क" के नामों और "ख" की घटनाओं का स्थानों में मेल हो जाए।

	"क"		"ख"
1.	कार्ल मार्क्स	–	फ्रांस का राजा
2.	लुई सोलहवां	–	फ्रांसीसी दार्शनिक
3.	रूसो	–	रूसी क्रांति

4. थामस जेफरसन – अमरीकी स्वतंत्रता की लड़ाई
5. ज़ार – रूसी सम्राट

4. नीचे कुछ कथन दिए गए हैं। जो सही हों उनके आगे (√) निशान और जो ग़लत हों उनके आगे (×) निशान लगाओ।
   1. आधुनिक युग का शुभारम्भ एकाएक हुआ।
   2. पुनर्जागरण काल ने यूरोप के लोगों को स्वयं सोचने के लिए प्रेरित किया।
   3. मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में व्यापार की उन्नति के कारण यूरोप के अधिकांश शहर समृद्धिशाली हुए।
   4. रूसी क्रांति के परिणामस्वरूप यू.एस.एस.आर. में समाजवाद का उदय हुआ।
   5. द्वितीय विश्वयुद्ध ने समाजवादी शक्तियों को मज़बूत किया।
   6. एशिया और अफ्रीका के बहुत से देश प्रथम विश्वयुद्ध के बाद स्वाधीन हो गए।
   7. एशिया और अफ्रीका के देश यूरोपीय शक्तियों द्वारा शोषित किए गए।

5. **निम्नलिखित घटनाओं को कालक्रम से रखोः**

   पुनर्जागरण, अमरीकी क्रांति, औद्योगिक क्रांति, प्रथम विश्वयुद्ध, फ्रांसीसी क्रांति, रूसी क्रांति, लीग आफ् नेशन्स, द्वितीय विश्व युद्ध, संयुक्त राष्ट्र।

6. **करने के लिए कार्य**

   विश्व के मानचित्र पर एशिया और अफ्रीका के पाँच अंग्रेज़ी उपनिवेशों को दिखाओ।

अध्याय 2

अठारहवीं सदी का भारत

मुग़ल साम्राज्य का विघटन

तुम 'मध्यकालीन भारत' पुस्तक में पढ़ चुके हो कि मुग़ल साम्राज्य ने लगभग समूचे देश को एक सूत्र में बांध दिया था। अकबर के शासन में कुशल प्रशासन कायम हो गया था, जिसने आगे के 150 सालों तक साम्राज्य के स्थायित्व और विस्तार में मदद दी। इस काल में साहित्य, संगीत, कला और स्थापत्य के क्षेत्र में हुई प्रगति के बारे में भी तुम पढ़ चुके हो।

अंतिम महान मुग़ल सम्राट औरंगज़ेब के शासनकाल में साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह हुए। ये विद्रोह मराठों, जाटों, सिक्खों आदि लोगों ने किए थे। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद मुग़ल साम्राज्य तेजी से बिखरने लगा। देश जल्दी ही छोटे-छोटे प्रदेशों में बंट गया। उनमें से कई प्रदेश लगभग स्वतंत्र हो गए।

परवर्ती मुग़ल

औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद जो मुग़ल बादशाह गद्दी पर बैठे उन्हें परवर्ती मुग़ल कहते हैं। इन शासकों के समय में वास्तविक सत्ता सरदारों के हाथों में चली गई। ये सरदार अपने-अपने मूल स्थान के आधार पर कई गुटों में बंटे हुए थे। उदाहरण के तौर पर, मध्य एशिया के तूरान प्रदेश से आए सरदारों ने अपना एक गुट बनाया और वे तूरानी कहे जाते थे। इसी तरह, ईरानी, अफग़ानी और हिंदुस्तानी सरदारों के अपने अलग-अलग गुट थे। इनमें से प्रत्येक गुट ने अपनी सर्वोच्चता और सत्ता स्थापित करने के प्रयास किए।

तुम पहले पढ़ चुके हो कि औरंगज़ेब के शासन के अंत समय तक साम्राज्य में मनसबदारों की संख्या काफी बढ़ गई थी, मगर राजस्व घट गया था। प्रत्येक मनसबदार पहले से बड़ी जागीर की मांग करने लगा, ताकि उसे ज़्यादा आमदनी हो सके। मनसबदारों ने अपने तबादलों का विरोध किया और जागीरों पर अपने अधिकार पक्के और पुश्तैनी बनाने के प्रयास किए। जागीरें बांटने का काम वज़ीर करता था। इसलिए वज़ीर के ओहदे पर कब्ज़ा करने के लिए सरदारों
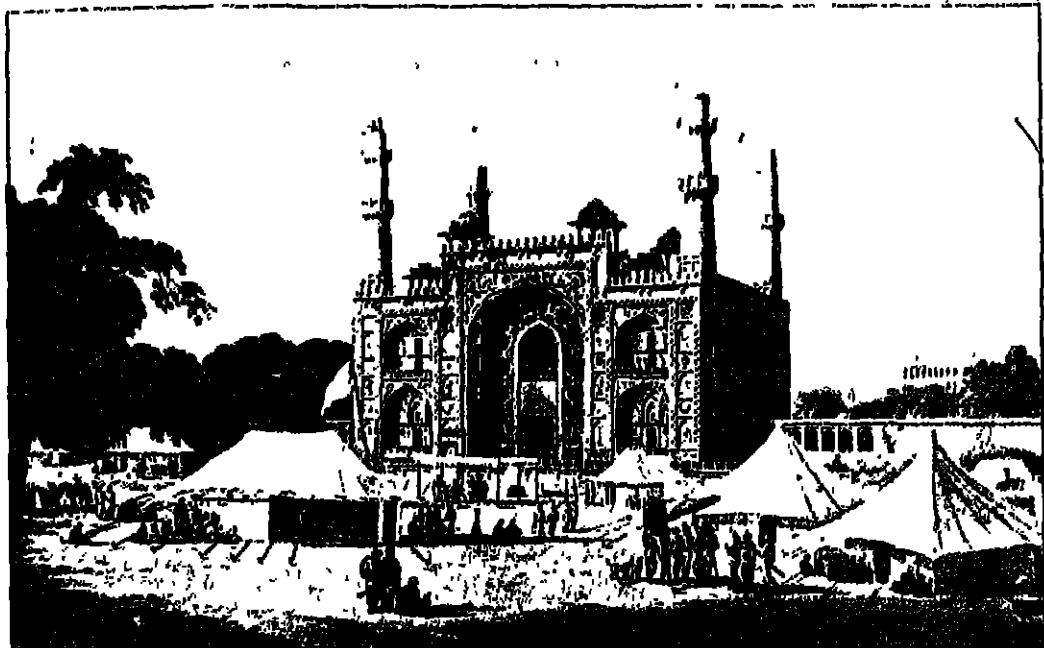
सिकंदरा मे मुगल सम्राट अकबर का मकबरा–(18वीं शताब्दी में डैनियल्ज़ द्वारा बनाया गया चित्र)

के बीच संघर्ष चला। कोई भी सरदार वज़ीर के ओहदे पर कब्ज़ा करके ही अपने रिश्तेदारों और अनुयायियों का हित साध सकता था।

औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद गद्दी के लिए हुए संघर्ष में बहादुरशाह विजयी हुआ। बहादुरशाह ने अपने अल्प शासनकाल (1707–1712 ई.) में मराठों और राजपूतों से मेल-मिलाप करके मुग़ल साम्राज्य की साख फिर से कायम करने की कोशिश की। औरंगज़ेब ने शिवाजी के पोते साहू को कैद किया था। बहादुरशाह ने उसे छोड़ दिया।

जुल्फ़िकार खाँ की मदद से 1712 ई. में जहांदार शाह गद्दी पर बैठा। जुल्फ़िकार खाँ औरंगज़ेब का सबसे ऊंचे ओहदे वाला सेनापति था। जहांदार शाह के शासनकाल में जज़िया कर खत्म कर दिया गया। मगर एक साल से कुछ अधिक समय बाद ही जहांदार शाह को गद्दी से हटा दिया गया। फ़र्रूख्सियर 1713 ई. में बादशाह बना। उस समय अब्दुल्ला खाँ और हुसैन अली खाँ सबसे शक्तिशाली सरदार थे। वे "सैयद बंधु' के नाम से जाने जाते हैं। बादशाह ने जब इन सयैद बंधुओं की शक्ति को तोड़ने की कोशिश की, तो उसे 1719 में मौत के घाट उतार दिया गया। सैयदों ने तब फ़र्रूख्सियर के रिश्ते के दो भाइयों को एक-एक कर गद्दी पर बैठाया और

चचेरे भाई मुहम्मदशाह को 1720 ई. में बादशाह बनाया। मगर जल्दी ही चिन किलिच खां के नेतृत्व में सरदारों के एक दल ने सैयद बंधुओं को उखाड़ फेंका। चिन किलिच खां औरंगज़ेब का एक मशहूर सेनापति रह चुका था।

मुहम्मदशाह ने 1748 ई. तक 29 साल शासन किया। मगर साम्राज्य का बिखरना जारी रहा। सरदारों के विभिन्न दलों के बीच जारी कलहों ने केंद्रीय सत्ता की शक्ति को कमजोर बना दिया था। वास्तविक सत्ता सरदारों ने हथिया ली थी। वे बादशाह के प्रति औपचारिक निष्ठा तो दिखाते रहे, मगर अपना उल्लू सीधा करने के लिए उसे शतरंज के मोहरे की तरह इस्तेमाल करते रहे। धीरे-धीरे अनेक इलाके साम्राज्य से अलग हो गए और बंगाल, अवध, हैदराबाद तथा रुहेलखंड में अर्ध-स्वतंत्र राज्यों का उदय हुआ। नादिरशाह ने 1739 ई. में करनाल में मुग़ल सेनाओं को हराया। उसके बाद दिल्ली में कत्ले-आम हुआ और धन-दौलत लूटी गई। नादिरशाह के आक्रमण के बाद साम्राज्य का और अधिक विघटन हुआ। मुग़ल साम्राज्य का गौरव एक तरह से समाप्त हो चुका था।

मुहम्मद शाह के उत्तराधिकारी- अहमदशाह (1748-1754), आलमगीर द्वितीय (1754-1759) और शाह आलम द्वितीय (1759-1806) केवल कहने भर को ही बादशाह थे। इस दौरान देश में मराठों की अत्यंत महत्त्वपूर्ण शक्ति का उदय हुआ।

स्वतंत्र राज्यों का उदय

बंगाल

मुर्शिद कुली खाँ औरंगज़ेब के मातहत बंगाल का दीवान था। फ़र्रुख़सियर ने उसे बंगाल का सूबेदार बना दिया। वह जल्दी ही एक तरह से स्वतंत्र शासक बन गया। वह अपनी राजधानी मध्य बंगाल के एक

शाह आलम द्वितीय
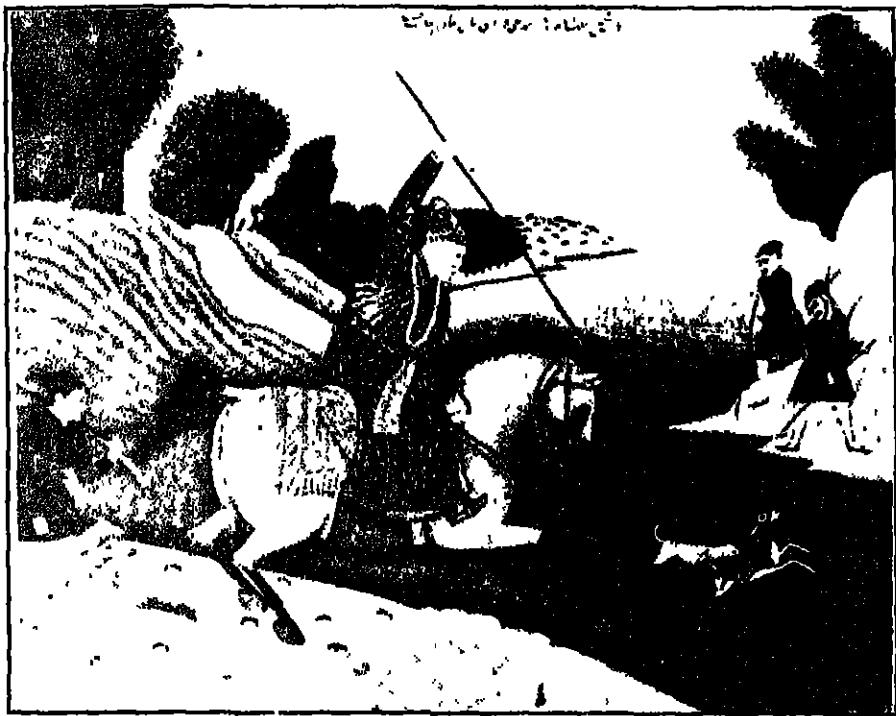
बंगाल के नवाब अलीवर्दी खाँ

स्थान पर ले गया जिसे उसने मुर्शिदाबाद का नाम दिया। मुर्शिद कुली खाँ और उसके उत्तराधिकारी नवाबों ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर स्वतंत्र शासकों की तरह शासन किया,यद्यपि वे मुग़ल बादशाह को नियमित रूप से राजस्व भेजते रहे। उन्होंने सूबे के प्रशासन का पुनर्गठन किया और कृषि, व्यापार तथा उद्योग को बढ़ावा दिया। राजस्व की वसूली नियम से और सख़्ती से की जाती थी। ग़रीब किसानों को कर्ज़ दिया था, मगर राजस्व की मात्रा में कटौती नहीं की जाती थी। इस प्रकार प्रांत में राजस्व के साधनों को बढ़ाया गया, यद्यपि किसानों को कोई राहत नहीं मिली।

हैदराबाद

चिन किलिच खाँ को निज़ाम-उल-मुल्क की पदवी दी गई थी और उसे दक्कन का सूबेदार बना दिया था। 1722 ई. में उसे वज़ीर बनाया गया, मगर वह जल्दी ही दक्कन लौट गया और उस प्रदेश पर उसने अपने अधिकार को अधिक मज़बूत किया। यद्यपि उसने अपने को कभी भी स्वतंत्र घोषित नहीं किया, मगर दक्कन

पर उसने एक स्वतंत्र शासक की तरह ही राज कि ।। उसने आसेफ़जाही वंश की नींव डाली। उसके उत्तराधिकारी हैदराबाद के निज़ाम कहलाए।

अवध

सआदत खाँ एक छोटा मुग़ल अफसर था। उसने सैयद-बंधुओं को उखाड़ फेंकने में मदद की थी। उसे 1722 ई. में अवध का सूबेदार बना दिया गया था। उसका उत्तराधिकारी था, उसका दामाद सफ़दरजंग जो कुछ सालों तक साम्राज्य का वज़ीर भी रहा। अवध के शासकों ने अराजकता खत्म करने, सूबे के वित्तीय साधनों को बढाने तथा न्याय व शांति का शासन स्थापित करने के प्रयास किए। उन्होंने एक शक्तिशाली सेना खड़ी की थी। उसमें मुसलमानों और हिंदुओं के अलावा नागा सन्यासी भी थे। अवध के शासकों के राज्य का विस्तार रुहेलखंड तक था। रुहेलखंड प्रदेश दिल्ली के पूर्व में था। इस प्रदेश में भारत की पश्चिमोत्तर सीमा की पर्वत-श्रेणियों (रुह) से अफगान लोग बड़ी संख्या में आकर बस गए थे। उन्हें रुहेला कहते थे। रुहेला सरदार इस प्रदेश में अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की कोशिशें कर रहे थे।

पंजाब

दिल्ली के उत्तर में लाहौर और मुलतान के क्षेत्रों पर मुग़ल सूबेदारों का शासन था। परंतु नादिरशाह और बाद में अहमद शाह अब्दाली के हमलों के कारण उनकी शक्ति खत्म.हो गई और उस क्षेत्र में एक सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति के रूप में सिक्खों का उदय हुआ।

उसी दौरान दिल्ली, आगरा और मथुरा के आसपास के क्षेत्र में जाटों की एक नई शक्ति का भी उदय हुआ। उन्होंने भरतपुर में अपना राज्य कायम किया और वहां से वे आसपास के इलाकों में लूट-पाट मचाते रहे। उन्होंने दिल्ली दरबार में चल रहे षड्यंत्रों में भी भाग लिया।

अन्य भारतीय राज्य

तुम ऊपर पढ़ चुके हो कि किस प्रकार मुग़ल साम्राज्य के अधिकारियों ने अपने स्वतंत्र राज्य कायम किए। साथ ही, अनेक राज्यों ने, जो पहले मुग़ल साम्राज्य के अंग थे, अपने को स्वतंत्र घोषित किया और वे अपना प्रभाव बढ़ाने लगे।

राजपूत

राजपूत सरदार अकबर के समय से ही मुग़ल साम्राज्य को दृढ़ समर्थन देते आ

दिल्ली में सफ़दरजंग का मक़बरा

18वीं शताब्दी में भारतीय राज्य
भारत की वर्तमान बाह्य सीमा
1756 की सीमाएँ निज़ाम के राज्य की सीमाएँ 1748 की हैं
मैसूर सीमा 1790
कश्मीर
जम्मू
लाहौर
अमृतसर
सिख रियासतें
पानीपत
दिल्ली
मथुरा
बरेली
नेपाल
राजपूत रियासतें
जयपुर
भरतपुर
अवध
फ़ैज़ाबाद
जोधपुर
आगरा
लखनऊ
सिंध
ग्वालियर
इलाहाबाद
बकसर
पटना
मराठा
सिंधिया
बंगाल
ढाका
मुर्शिदाबाद
प्लासी
अहमदाबाद
होलकर
चंदरनगर (फ्रां.)
बड़ोदा
इंदौर
कलकत्ता (अंग्रेजी)
सूरत
बुरहानपुर
भोंसले
नागपुर
उड़ीसा
औरंगाबाद
पेशवा
बम्बई (अंग्रेजी)
पूना
निज़ाम का राज्य
सतारा
हैदराबाद
बीजापुर
गोवा (पुर्त.)
मसूलीपट्टम
मैसूर
श्रीरंगपटनम
मद्रास (अंग्रेजी)
आरकाट
पांडिचेरी (फ्रां.)
कालीकट
मालाबार
त्रावणकोर
कर्नाटक
त्रिवेन्द्रम
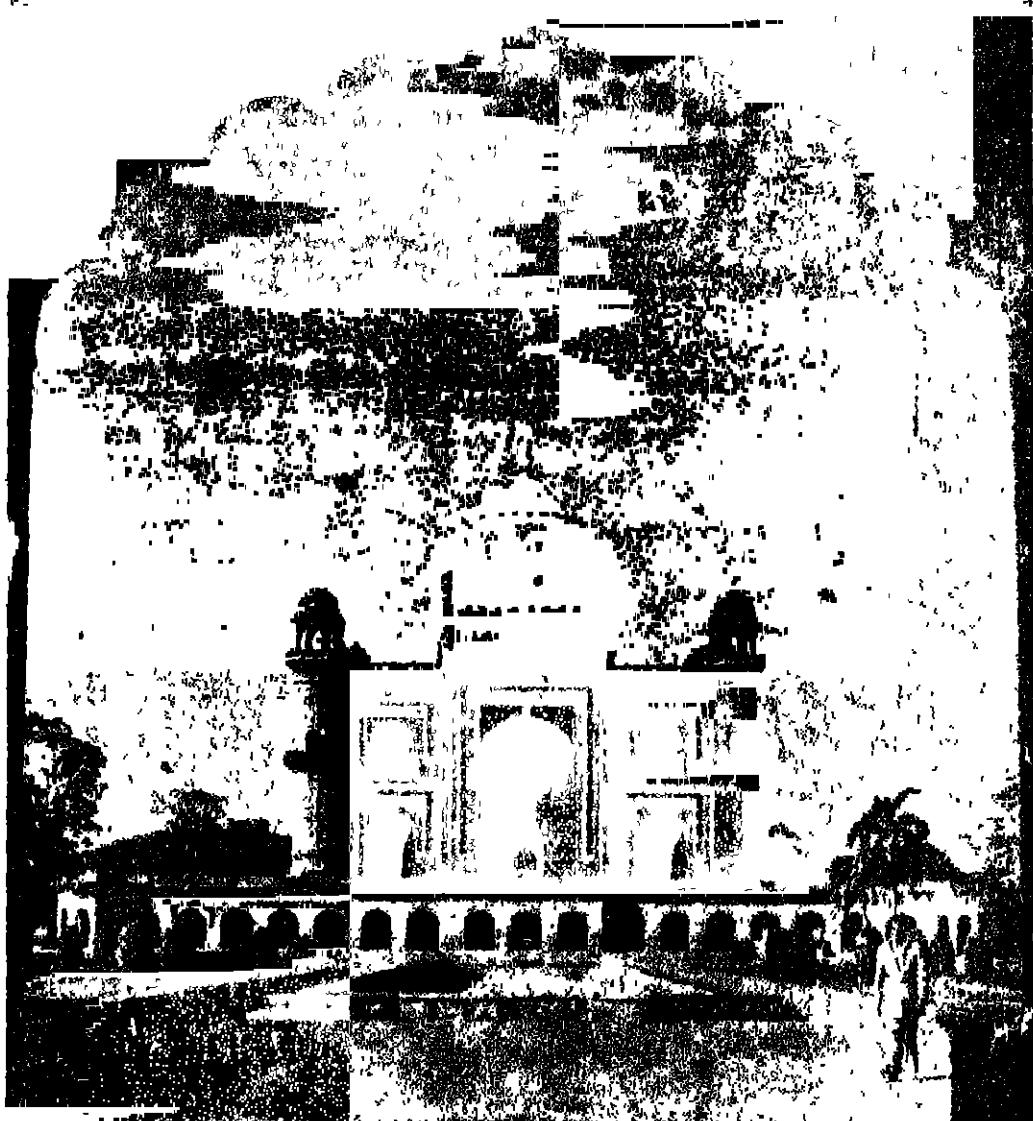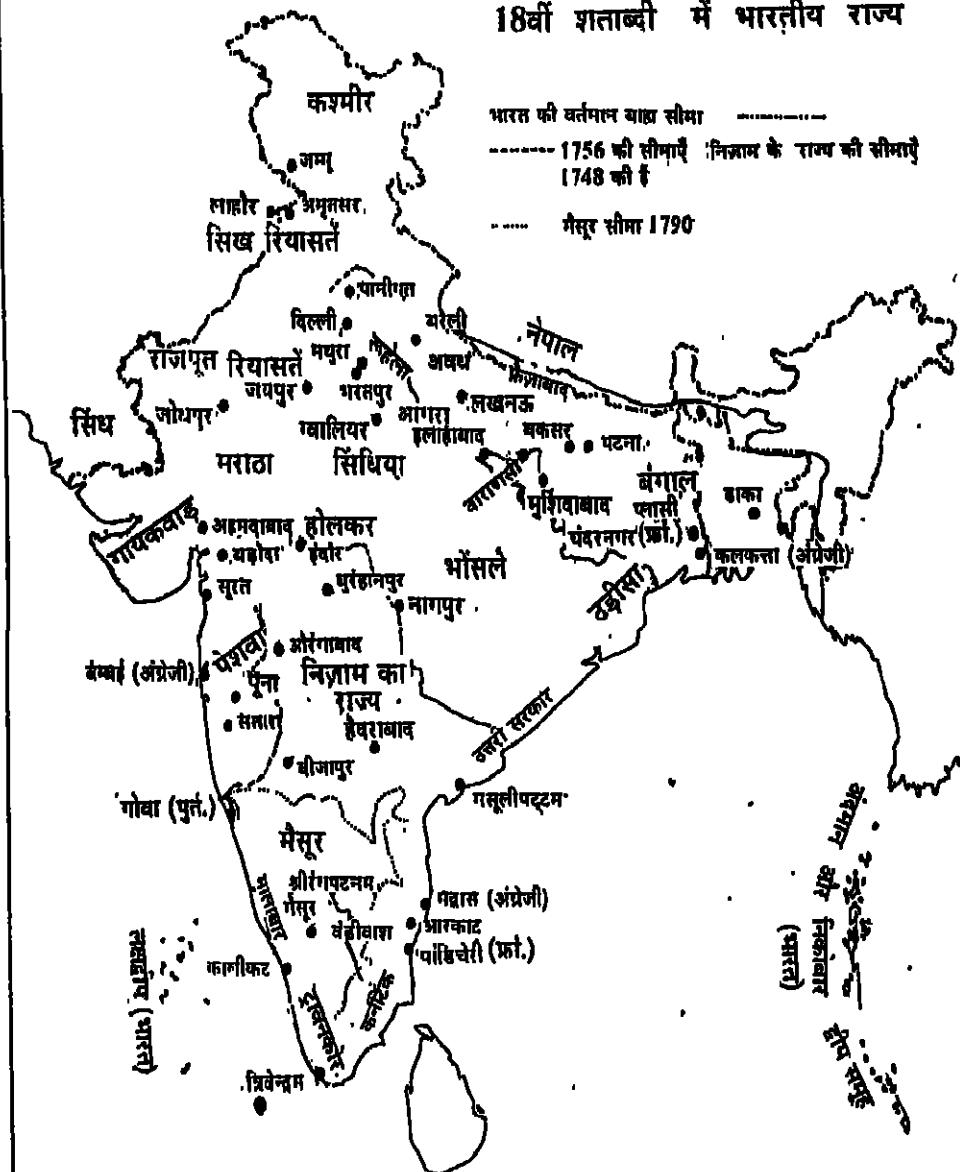
रहे थे। मगर उनमें से बहुतों ने औरंगज़ेब के विरुद्ध विद्रोह किया। इसका कारण यह था कि औरंगज़ेब उनके पैतृक भूमि के उत्तराधिकारी में हस्तक्षेप करने लगा था। औरंगजेब की मृत्यु के बाद उन्होंने मुग़ल साम्रज्य के बंधन से अपने को मुक्त करने के प्रयास किए। उन्होंने अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने के भी प्रयास किए।

जोधपुर और आमेर के शासकों को क्रमश: गुजरात और मालवा का सूबेदार बनाया गया। कुछ समय तक लगा कि राजपूत मुग़ल साम्राज्य में अपना स्थान और प्रभाव पुन: प्राप्त कर रहे हैं और जाटों तथा मराठों के विरूद्ध साम्राज्य के मुख्य समर्थक बन रहे हैं।

इस काल में सबसे श्रेष्ठ राजपूत शासक आमेर का सवाई राजा जयसिंह (1681-1743 ई) था। उसने खूबसूरत जयपुर नगर बनवाया और खगोल के अध्ययन के लिए दिल्ली, जयपुर, वाराणसी, उज्जैन तथा मथुरा में वेधशालाएं स्थापित कीं।

परंतु राजपूतों का प्रभाव ज़्यादा दिनों तक नहीं टिका। वे आपसी कलहों में इतने अधिक उलझे रहे कि अपने प्रभाव-क्षेत्रों के बाहर सत्ता की होड़ के लिए उनमें न ताकत थी और न ही क्षमता। जाटों, मराठों और सूबाई शासकों की शक्ति बढ़ी तो राजपूतों के हाथों से राज्यों के बाहर की उनकी जागीरें निकल गईं और उनका प्रभाव घटने लगा।

राजपूतों का राजनीतिक प्रभाव यद्यपि घट गया था, परंतु राजस्थानियों के एक समूह का देश की अर्थ-व्यवस्था में प्रभाव बढ़ गया। ये सौदागर लोग थे और उस समय गुजरात, दिल्ली तथा आगरा के महत्त्वपूर्ण केंद्रों के अंतर्राज्यीय व्यापार में लगे हुए थे। मुग़ल साम्राज्य की अवनति के साथ इन केंद्रों का व्यापारिक महत्त्व भी घट गया। राजस्थानी सौदागर नए केंद्रों में पहुंचे और उन्होंने बंगाल, अवध तथा दक्कन में वाणिज्य-व्यापार पर अपना कब्ज़ा जमाना शुरू कर दिया।

सिक्ख

तुम पहले जान चुके हो कि गुरू गोविंद सिंह ने जो सिक्खों के दसवें और अंतिम गुरू थे, लड़ाकू सिक्खों के एक समूह का गठन किया था, मगर औरंगज़ेब के शासनकाल में वे अपना राज्य स्थापित नहीं कर पाये थे। गुरू की मृत्यु के बाद सिक्खों को बंदा बहादुर के रूप में एक योग्य नेता मिला। उसके नेतृत्व में सिक्खों ने मुग़लों का बहादुरी से मुकाबला
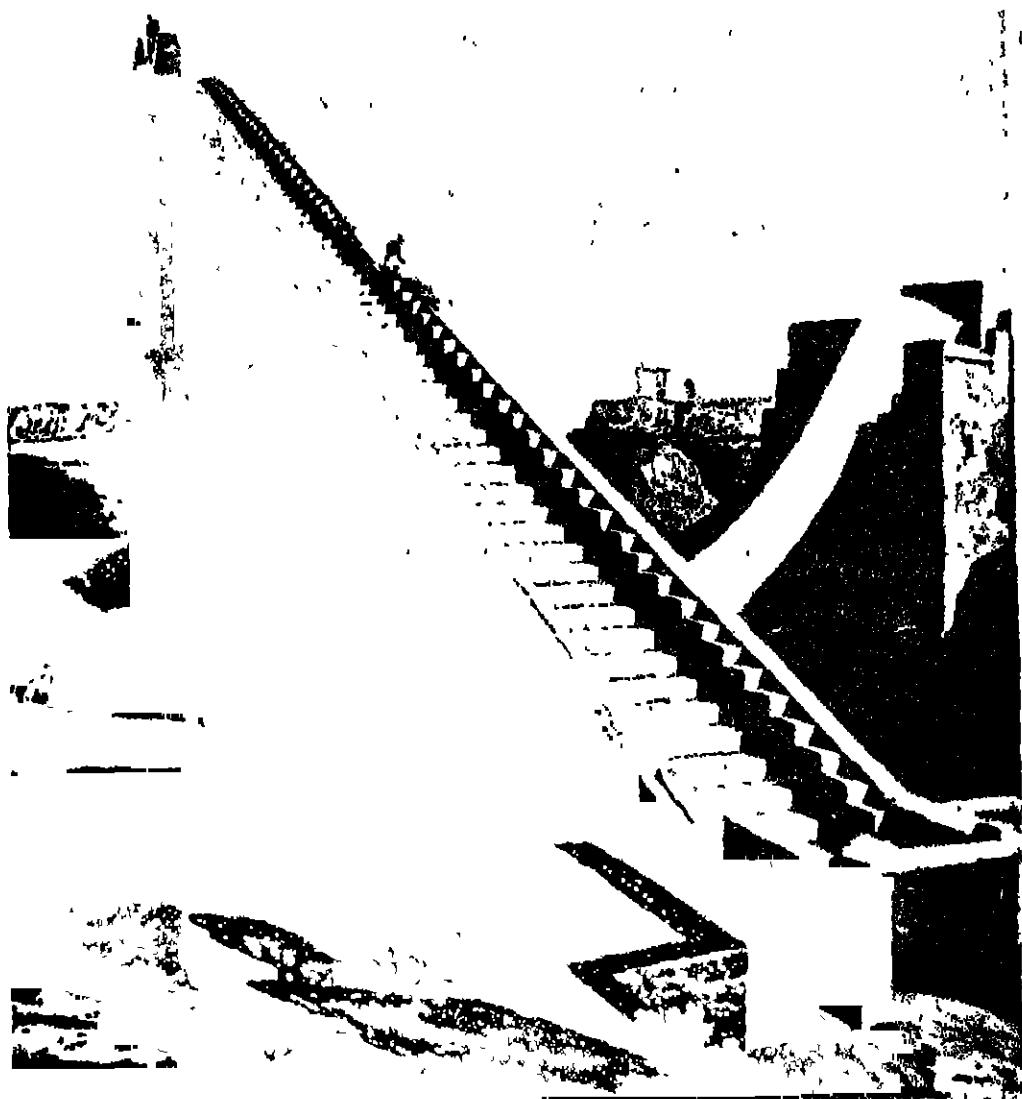
दिल्ली में सवाई राजा जयसिंह द्वारा निर्मित जंतर-मंतर। (डैनियल्ज़ द्वारा बनाया गया एक चित्र)

महाराजा रणजीत सिंह

किया और वे लाहौर से दिल्ली तक के सारे इलाके में छा गए। मगर अंत में उनकी पराजय हुई और बंदा बहादुर को मौत के घाट उतार दिया गया। कुछ समय बाद उन्होंने फिर से अपने को संगठित कर लिया। नादिरशाह के आक्रमण के बाद पंजाब में मुग़ल सत्ता का पतन हो गया और अफगानों तथा उस क्षेत्र में नादिरशाह द्वारा छोड़े गए उसके अनुयायियों के बीच संघर्ष छिड़ जाने के कारण गड़बड़ी की स्थिति पैदा हो गई। उस स्थिति का फायदा उठाकर सिक्खों ने धीरे-धीरे उस सूबे पर कब्ज़ा जमाना शुरू कर दिया। उन्होंने अपने को बारह छोटे समूहों में संगठित किया। उन समूहों को मिसल कहते थे। मिसल के नेताओं ने इलाकों को आपस में बांट लिया। अहमद शाह अब्दाली भी इन मिसलों को खत्म नहीं कर सका। उसके चले जाने के दो साल के अंदर ही उसके लाहौर और सरहिंद के सूबेदारों को निकाल बाहर किया गया। नाभा, पटियाला और कपूरथला जैसे छोट राज्यों का उदय हुआ। अठारहवीं सदी के अंतिम दौर में महाराजा रणजीत सिंह ने मिसलों का एकीकरण किया और एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की।

कर्नाटक और मैसूर

अठारहवीं सदी के दौरान भारत में अनेक नए राज्यों का उदय हुआ। इनमें से कुछ ने अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में यूरोपीय कंपनियों के साथ झगड़ों में फंस कर काफी महत्त्व प्राप्त किया। इन राज्यों के बारे में विस्तारपूर्वक तुम अगले अध्यायों में पढ़ोगे।

कर्नाटक का सूबा धीरे-धीरे दक्कन के मुग़ल सूबेदार के क़ब्ज़े से निकल गया। तुम्हें याद होगा कि दक्कन के सूबेदार ने अपने को मुग़ल सत्ता से लगभग स्वतंत्र कर लिया था और हैदराबाद में निज़ाम के आसफ़जाही वंश की स्थापना की थी।

1761 ई. में हैदर अली ने मैसूर के राजा से गद्दी छीनकर राज्य पर अधिकार

कर लिया। हैदर अली ने अपना जीवन एक मामूली सैनिक के रूप में शुरू किया था। हैदर अली और उसका बेटा टीपू सुल्तान दोनों ही योग्य शासक थे। उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण सुधार किए। फलत: मैसूर भारत का एक अत्यंत शक्तिशाली राज्य बन गया। उदाहरण के लिए, उन्होंने सैनिक प्रशिक्षण और संगठन के आधुनिक तरीकों को अपनाया और आधुनिक किस्म के हथियार बनाने के लिए एक कारखाना खोला। उन्होंने कुछ नए उद्योग स्थापित करने के भी प्रयास किए। धार्मिक मामलों में वे काफी समझदार और उदार थे, इसलिए उन्होंने अपनी सारी प्रजा का समर्थन प्राप्त कर लिया। तत्कालीन भारत के अधिकांश शासकों के विपरीत उन्होंने दुनिया की घटनाओं के बारें में अच्छी जानकारी प्राप्त की।

मराठा शक्ति का उत्थान और पतन

तुम पढ़ चुके हो कि शिवाजी ने औरंगज़ेब के शासनकाल में मराठा राज्य की स्थापना की थी। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद शिवाजी के पोते साहू को कैद से रिहा कर दिया गया। राजाराम की विधवा पत्नी ताराबाई ने अपने बेटे को एक प्रतिद्वन्दी राजा के रूप में कोल्हापुर की गद्दी पर बिठा दिया, जबकि साहू सतारा में शासन करने लगा। इससे मराठा राज्य के दो दावेदारों के समर्थकों के बीच युद्ध छिड़ गया। आखिरकार साहू का आधिपत्य दृढ़तापूर्वक स्थापित हो गया।

पेशवाओं का उदय

साहू की सफलता में बालाजी विश्वनाथ का बड़ा हाथ था। उसने पेशवा का पद प्राप्त किया और उसके साथ ही मराठा राज्य के विस्तार का युग शुरू हुआ। उसने सैयद बंधुओं में से एक के साथ समझौता किया।

शिवाजी के राज्य के सारे क्षेत्र साहू को वापस मिल गए। उसे दक्कन के छह सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करन के के अधिकार भी मिल गए। बदले में साम्राज्य की सेवा के लिये 15000 घुड़सवारों की सेना रखना साहू ने स्वीकार कर लिया। 1719 ई. में पेशवा मराठा सेना लेकर सैयद बंधुओं में से एक की मदद को दिल्ली गया और वहां फ़र्रुखसियर को गद्दी से हटा दिया गया। दिल्ली में मराठों ने मुग़ल साम्राज्य की कमज़ोर दशा देखी, तो उनमें मराठों की प्रभुसत्ता स्थापित करने की लालसा जागी। पेशवा का पद सबसे शक्तिशाली बन गया और उसने मराठा राजा की शक्ति को निस्तेज कर दिया।

बालाजी विश्वनाथ का बेटा बाजीराव (प्रथम) 1720 ई. में पेशवा बना। उसने निज़ाम के राज्य पर हमले करने की और खिराज वसूल करने के लिए उत्तर की ओर मराठा शक्ति का विस्तार करने की नीति अपनाई। उसने मालवा, उत्तर गुजरात तथा बुंदेलखंड को जीत लिया और ठेठ दिल्ली तक हमले किए। मगर उसने दिल्ली पर कब्ज़ा नहीं किया, क्योंकि अभी भी मुग़ल बादशाह की काफी इज़्ज़त थी। मराठों ने ये हमले राज्य-विस्तार के इरादे से नहीं किए थे। उनकी दिलचस्पी

18वीं शताब्दी में डैनियल्ज़ द्वारा चित्रित किया गया तिरुचिरापल्ली कर्नाटक सूबे का एक भाग था। तिरुचिरापल्ली का एक दृश्य।

हैदर अली
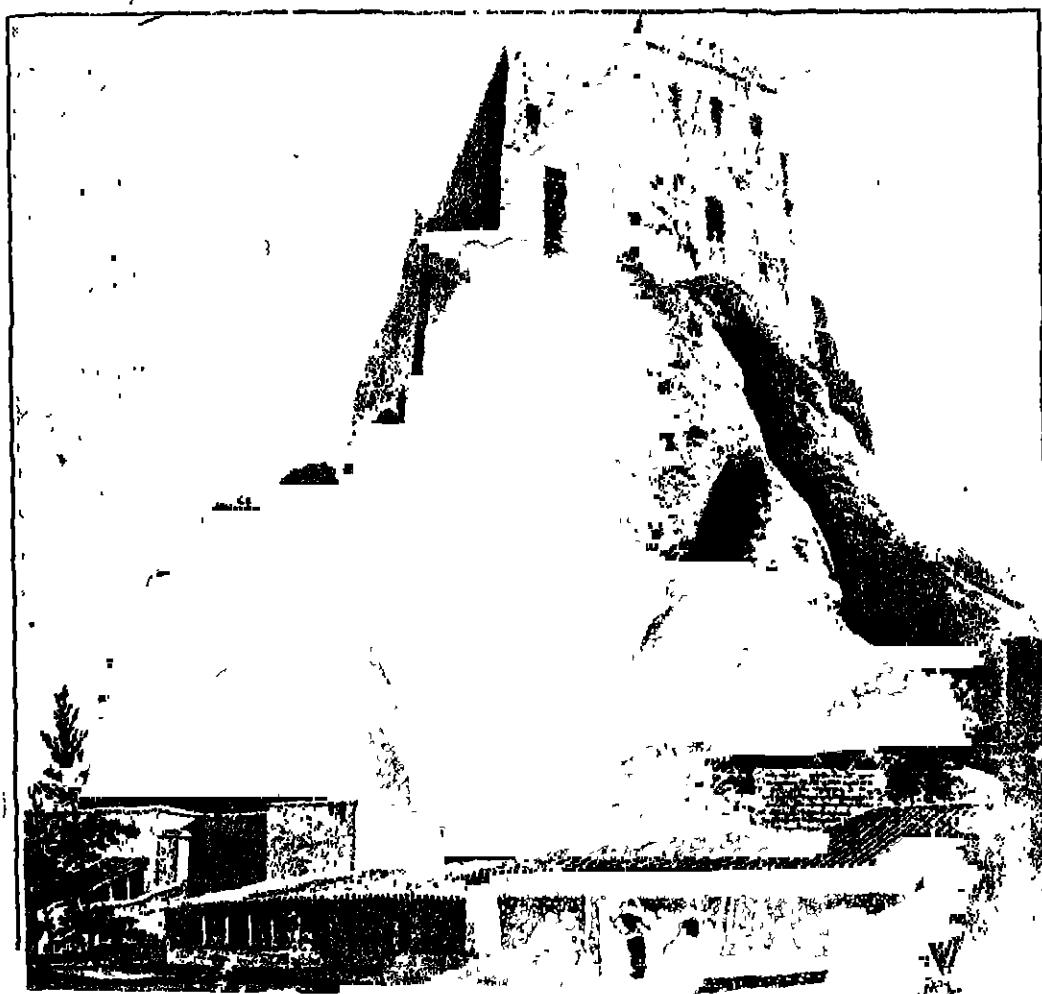
मुख्य रूप से उन इलाकों से भू-राजस्व का अधिकांश हिस्सा हथियाने की थी।

बाजीराव के पुत्र बालाजी बाजीराव ने अपने पिता की विस्तार की नीति को जारी रखा। उसके पेशवा-काल में मराठे पूर्व में बिहार तथा उड़ीसा तक और उत्तर में पंजाब तक पहुंचे। वह मराठा-शक्ति के महत्तम विस्तार का काल था।

मराठों की राज्य-व्यवस्था की कमजोरिया

मराठा-शक्ति की अपनी कुछ बुनियादी कमज़ोरियां थीं जिनके कारण आखिर में उसका पतन हुआ। मराठे एक ऐसी राज्य-व्यवस्था कभी विकसित नहीं कर पाए जो उन्हें अपनी विजयों को स्थायी बनाने और एक सुस्थिर प्रशासन कायम करने में सहायता दे सकती। वस्तुतः जिस नीति ने उन्हें अपनी सत्ता के विस्तार में मदद दी उसी ने उन्हें आखिर में बर्बाद भी किया। चौथ और सरदेशमुखी के रूप में राजस्व का एक निश्चित हिस्सा सतारा में मराठों की केंद्रीय सरकार को भेज दिया जाता था। शेष हिस्से को मराठा सरदार अपने पास रखते थे और उनकी अपनी-अपनी सेनाएं थीं। ये सरदार कहने को पेशवा के प्रतिनिधि थे, मगर उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में काफी हद तक अपनी स्वतंत्र सत्ताएं स्थापित कर ली थीं। वे सभी सतारा की सरकार के प्रति अपनी राजनिष्ठा से छुटकारा पाना चाहते थे। इस प्रकार अठारहवीं सदी के मध्यकाल तक पांच स्पष्ट मराठा-शक्तियों का उदय हुआ। ये शक्तियां थीं-पुणे में पेशवा, बड़ौदा में गायकवाड़, नागपुर में भोंसले, इन्दौर में होलकर और ग्वालियर में सिंधिया।

मराठों ने अपनी खास ढंग की राज्य-व्यवस्था के कारण अन्य लोगों की सहानुभूति खो दी। उनके छापों के कारण दूसरे शासक उनके शत्रु बन गए। उनकी

कर-वसूली से आम जनता के, विशेषकर किसानों और व्यापारियों के, कष्ट बढ़े। पानीपत की तीसरी लड़ाई (1761 ई.) ने उनकी भीतरी कमज़ोरियों को और अन्य जगहों से उन्हें न मिलने वाले सहयोग को उजागर कर दिया।

पानीपत की तीसरी लड़ाई

नादिरशाह के बारे में तुम पहले पढ़ चुके हो। उसे उसके सैनिकों ने ही मार दिया था। उसने अफ़ग़ानिस्तान के जो इलाके जीते थे वे उसके एक सेनापति अहमदशाह अब्दाली के हाथों में चले गए। अहमद शाह अब्दाली ने दुर्रानी वंश की स्थापना की।

इसी बीच मराठों ने दिल्ली और पंजाब में अपना प्रभाव शुरू कर दिया। मराठों और अब्दाली के बीच युद्ध अवश्यंभावी हो गया। मराठों के अलावा इस काल में उत्तर में अन्य शक्तियां थीं– अवध का नवाब, जाट और रुहेला। मुग़ल बादशाह की कोई पूछ नहीं थी। अब्दाली अवध के नवाब और रुहेलों का समर्थन प्राप्त करने में सफल हो गया। मराठों का साथ लगभग सभी ने छोड़ दिया था। जब 1716 ई. में पानीपत में निर्णायक लड़ाई हुई, तब न राजपूतों ने, न जाटों तथा सिक्खों ने और न ही अन्य किसी शक्ति ने मराठों की मदद की। मराठों की करारी हार हुई और उनके श्रेष्ठ नायक तथा [illegible] सैनिक मारे गए। यह लड़ाई इतिहास में पानीपत के तीसरी लड़ाई के नाम से प्रसिद्ध है। पानीपत की पहली लड़ाई, जैसाकि तुम जानते हो, बाबर और इब्राहिम लोदी के बीच 1526 ई. में और पानीपत की दूसरी लड़ाई हेमू और अकबर की सेनाओं के बीच 1556 ई. में हुई थी।

अहमद शाह अब्दाली के साथ लड़ाई के नतीजे मराठों के लिए भयंकर साबित हुए। भारत में, विशेषकर उत्तरी क्षेत्रों में, मराठों के आधिपत्य को गहरा धक्का लगा। उनके बीच जो कुछ एकता कायम थी वह लड़ाई के बाद खत्म हो गई। मराठा सरदार आपस में झगड़ने लगे और अपने इस आंतरिक कलह में अन्य शक्तियों की मदद खोजने लगे। कुछ समय के लिए मराठों ने अपने खोए हुए इलाके पुनः प्राप्त कर लिए थे, मगर उनकी वह स्थिति कुछ समय तक ही बनी रही।

इस बीच भारत के राजनीतिक मामलों में यूरोप की व्यापारी कंपनियों के हस्तक्षेप के कारण देश के राजनीतिक जीवन में बड़े भारी परिवर्तन हो रहे थे।

समाज और राजनीति की कुछ विशेषताएं

राजनीतिक संघर्षों के इस काल में वाणिज्य-व्यवसाय में वृद्धि होती गई। इस काल में वाणिज्य-व्यापार के कुछ प्रमुख केंद्र

थे - बंगाल में मुर्शिदाबाद और ढाका, दक्षिण में हैदराबाद और मछलीपट्टनम् तथा अवध में फैज़ाबाद, वाराणसी, लखनऊ और गोरखपुर।

सूबे के शासकों ने हिंदू व मुसलमान अधिकारियों तथा सरदारों का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश की। राज्य के विभिन्न पदों पर नियुक्तियां करते समय धर्म का ख्याल नहीं किया जाता था। तुम देख चुके हो कि अवध के नवाब की सेना में नागा सन्यासी भी थे। हिंदुओं और मुसलमानों के परस्पर निकट आने से एक मिली-जुली संस्कृति के विकास में मदद मिली। भारतीय भाषाओं ने, जैसे, बंगला, मराठी, तेलुगु और पंजाबी ने अच्छी प्रगति की और उनका साहित्य अधिक समृद्ध बना। पहले से विकसित होती आ रही उर्दू का अब अधिक इस्तेमाल होने लगा, खासकर शहरों में। उसका साहित्य समृद्ध होने लगा, विशेषकर काव्य। शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में, जैसे, ख्याल और अर्ध-शास्त्रीय गायन-शैली ठुमरी तथा गज़ल में, खूब प्रगति हुई। मुगल और राजपूत शैलियों के प्रभाव से देश के कई हिस्सों में, विशेषकर कुलू, कांगड़ा और चंबा में, चित्रकला का विकास हुआ। इस प्रकार, कलहों और युद्धों के बावजूद, सांस्कृतिक प्रगति जारी रही।

अठारहवीं सदी के भारत में राजनीतिक एकता का बड़ा अभाव था। मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद उसके तुल्य शक्ति और प्रतिष्ठा वाले ऐसे किसी अन्य भारतीय राज्य का उदय नहीं हुआ जो देश का एक केंद्रीय सत्ता में एकीकरण कर सके। नए भारतीय राज्यों में मराठों ने सबसे ऊंची हैसियत प्राप्त कर ली थी, मगर वे भी एकीकरण की भूमिका को निभाने में असमर्थ रहे। विस्तार के उनके तरीकों ने उन्हें अन्य शासकों और लोगों से विलग कर दिया। विभिन्न राज्यों में अधिकारियों की श्रेणियां विरोधी गुटों में बंटी हुई थीं और उनकी आपसी प्रतिद्वंद्विता ने उनके राज्यों को कमज़ोर बना दिया था।

भारतीय समाज में भी एकता नहीं थी। जैसा कि तुम जानते हो, हिंदू ऊंच-नीच के भेदभाव से ग्रसित थे और अनगिनत जातियों में बंटे हुए थे। ऐसा कोई समान उद्देश्य नहीं था जो सभी पृथक गुटों को एक साथ ला सकता। ऊंची जातियों के लोग जनता के एक बड़े समूह के साथ दुर्व्यवहार करते थे और उन्हें "अछूत" समझते थे। मुसलमानों में भी समुदाय थे और कुछ समुदाय अपने को दूसरों से श्रेष्ठ समझते थे।

एकता न होने के अनेक कारण थे। तुम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हो कि यूरोप के अनेक देशों में हुए आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप किस प्रकार राष्ट्रगत राज्यों

का उदय हुआ था। वाणिज्य–व्यवसाय में वृद्धि और बाद में उद्योगों के उदय ने विभिन्न देशों की जनता के आर्थिक जीवन को एकसमान बनाने में मदद दी। उन परिवर्तनों ने देश के विभिन्न भागों को एक–दूसरे पर निर्भर बना दिया और ऐसी परिस्थितियां पैदा कर दी कि किसी एक भाग में रहने वाले लोगों का हित दूसरे भागों की घटनाओं से प्रभावित होता था। जो देश अनेक स्वतंत्र राज्यों में बंटे हुए थे उन्हें उन देशों की जनता एक सूत्र में बांधने के लिए संघर्ष कर रही थीं। जनता सरकार के पुराने ढांचों को नष्ट करने के लिए भी लड़ रही थी। वे जनतंत्र की स्थापना की दिशा में आगे बढ़ रहे थे। जनतंत्र का अर्थ था एक देश के सब नागरिकों के लिए समान अधिकार और एक ऐसी सरकार जो जनता की इच्छाओं के अनुसार बनती हैं और काम करती है। सत्रहवीं सदी में ही इंग्लैंड में गृहयुद्ध हुआ था और राजा को मौत के घाट उतार दिया गया था। यद्यपि राजतंत्र की फिर से स्थापना हुई, मगर वास्तविक सत्ता संसद के हाथों में चली गई। राजा धीरे–धीरे नाममात्र का राजा रह गया। अठारहवीं सदी में उत्तरी अमरीका और फ्रांस में क्या घटित हुआ, यह हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं।

यूरोप की तरह के अनेक तत्व अठारहवीं सदी के भारत में मौजूद नहीं थे। बाहरी दुनिया के साथ, और देश के भीतर भी, व्यापार काफी अधिक मात्रा में हो रहा था, मगर इसने जनता के आर्थिक और सामाजिक जीवन को अधिक प्रभावित नहीं किया। हर गांव अपनी ज़रूरत की वस्तुएं स्वयं बना लेता था। इस प्रकार गांव एक स्वतंत्र आर्थिक इकाई था। राज्य गांव से बड़ी मात्रा में राजस्व वसूल करता था। आमतौर पर गांव के कुल उत्पादन का आधे से अधिक राजस्व के रूप में ले लिया जाता था। वह राजस्व बड़ी सेनाएं रखने में और सरदारों के विलासी जीवन पर खर्च होता था। शासकों में परिवर्तन, नए राज्यों का उदय और इसी प्रकार के अन्य राजनीतिक परिवर्तन गांवों के जीवन को नहीं के बराबर प्रभवित करते थे। साथ ही, यूरोप में जिस तरह के मध्य वर्ग का उदय हुआ था वैसा मध्य वर्ग भारत में नहीं था। मगर ऐसे परिवार अवश्य थे जो व्यापार के ज़रिए धनी हो गए थे। परंतु उन्होंने जो धन–दौलत इकट्ठी की थी उसका उपयोग कर्ज़ देने और ब्याज कमाने के लिए किया गया, न कि नगए हुनर, वस्तुओं के उत्पादन की नई विधियां और नई तकनीक विकसित करने के लिए।

स्मरण रहे कि इस काल में इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति शुरू हो गई थी जो जल्दी ही यूरोप के कुछ देशों में फैलने वाली थी। देश के राजनीतिक जीवन में होने वाले परिवर्ननों ने किसानों के कष्टों को और अधिक बढ़ा दिया। सुबाई शासकों ने अपनी सत्ता की सुरक्षा और बढ़ोत्तरी के लिए दूसरे शासकों के विरुद्ध और उन स्थानीय सरदारों के खिलाफ भी लड़ाइयां लड़ीं जो उनका प्रतिरोध करते थे। इन लड़ाइयों का खर्च मुख्यत: किसानों को उठाना पड़ता था। उन्हें अपने उत्पादन का पहले से अधिक हिस्सा लाडाइयों के लिए देना पड़ता था।

भारतीय राज्यों के शासक संसार की घटनाओं से बेखबर थे। भारत के राजनीतिक जीवन में एक नए तत्व का प्रवेश हुआ था। यूरोप की व्यापारी कंपनियों ने, जिनके आरम्भिक इतिहास के बारे में तुम पहले पढ़ चुके हो, इस देश के राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया था। साथ ही, वे कंपनियां अपनी राजनीतिक सत्ता स्थापित करने के प्रयास में भी जुटी हुई थीं। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति ने उन्हें ऐसा करने के लिए अवसर प्रदान किए। मगर भारतीय राज्यों के शासक उनके अपने शासन के लिए पैदा हो रहे इस खतरे से बेखबर थे। वास्तव में वे अपने प्रतिद्वंद्वियों के मुकाबले अपना स्वार्थ साधने की आशा में विदेशी व्यापारी कंपनियों के हाथों की कठपुतली बनने के लिए पूर्णत: तैयार थे। पानीपत की तीसरी लड़ाई में मराठों की पराजय होने के पहले ही भारत में ब्रिटिश विजय की शुरूआत हो चुकी थी। आग के दशकों में उनकी यह विजय जारी रही। धीरे-धीरे लगभग सारे भारत पर अंग्रज़ों का कब्जा हो गया।

अभ्यास

1. पारिभाषिक शब्द

चौथ - मुग़ल साम्राज्य को दिए जाने वाले लगान का एक चौथाई भाग जिसको मराठे अतिरिक्त कर के रूप में उन लोगों से वसूल करते थे जो उनके राज्य के बाहर रहते थे। उसके बदले में मराठे उनको वचन देते थे कि वे उनके क्षेत्र में लूट-मार नहीं करेंगे तथा उनपर आक्रमण भी नहीं करेंगे।

सरदेशमुखी– कुल लगान का दसवां भाग जो मराठे सारे क्षेत्र से वसूल करते थे।

वज़ीर– मुग़ल साम्राज्य का मुख्य वित्त मंत्री।

स्वराज्य– महाराष्ट्र का वह हिस्सा जहाँ शिवाजी ने अपना राज्य स्थापित किया था। मराठों ने वहाँ अपना नियमित और स्थायी शासन कायम किया। स्वराज्य के बाहर के क्षेत्रों पर मराठे धावा करते तथा लूट-मार मचाते थे और कर लगाते थे।

मिसल– अठारहवीं शताब्दी में सिक्खों के बीच एकता आने लगी थी। उस समय सिक्खों ने अपने को बारह मिसलों या राजनीतिक-इकाइयों में संगठित किया। हर मिसल अपने नेता के प्रति निष्ठावान थी।

2. **निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो:**
   1. औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद केंद्रीय सरकार की सत्ता का पतन क्यों हुआ?
   2. सूबाई राज्य सदा लड़ाई में क्यों लगे रहते थे?
   3. औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद राजपूत सत्ता का पतन क्यों हो गया?
   4. अठारहवीं शताब्दी के भारत की राजनीतिक स्थिति की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं?
   5. नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों का भारत की राजनीतिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा?
   6. स्थायी साम्राज्य स्थापित करने में मराठों की विफलता के क्या कारण थे?
   7. मराठों की विजय की क्या मुख्य विशषताएँ थीं?
   8. अठारहवीं शताब्दी में भारत की मुख्य सांस्कृतिक उपलब्धियाँ क्या थीं?

3. **1707 ई. और 1761 ई. के बीच की घटनाओं के संबंध में कुछ कथन नीचे दिए गए हैं। सही कथनों के सामने (√) निशान और गलत कथनों के सामने (×) निशान लगाओ।**
   1. बहादुरशाह प्रथम के बाद कई शासक गद्दी पर बैठे जिन्होंने मुग़ल साम्राज्य की पुरानी सत्ता को फिर से स्थापित किया।
   2. निज़ाम-उल-मुल्क को सैयद बंधुओं ने उखाड़ फेंका।
   3. वस्तुत: स्वतंत्र हो जाने के बाद भी सूबेदार मुग़ल बादशाहों के प्रति औपचारिक निष्ठा प्रदर्शित करते रहे।

4. अहमदशाह अब्दाली ने जब भारत पर आक्रमण किया तब अधिकतर भारतीय शासकों ने उसका प्रतिरोध किया।
5. मराठे आंतरिक कमज़ोरियों से विहीन एक सूत्रबद्ध शक्ति थे।
6. मराठों ने अपने विजय-अभियानों के कारण अन्य भारतीय शासकों की सहानुभूति खो दी।

4. कालम "क" में कुछ व्यक्तियों के नाम और कालम "ख" में उनके संबंध में कथन दिए हुए हैं। कालम "ख" में कथनों को इस प्रकार रखो कि वे कालम "क" के नामों के अनुकूल हो जाएँ।

"क"	"ख"
1. सवाई राजा जयसिंह	1. वह पेशवा के पद पर था।
2. चिन किलिच खाँ	2. वह बंगाल का शासक था।
3. मुर्शिद कुली खाँ	3. वह अवध का नवाब था।
4. हैदर अली	4. उसने मैसूर में एक नए राजवंश की नींव रखी।
5. सफदरजंग	5. वह जयपुर का शासक था।
6. हुसैन अली खाँ	6. वह हैदराबाद का पहला निज़ाम था।
7. बाजी राव	7. वह सैयद बंधुओं में से एक था।

5. करने के लिए कार्य

क. उन सूबाई राज्यों की सूची उनकी राजधानियों के साथ तैयार करो जिनका उदय 18 वीं शताब्दी में हुआ। उन्हें भारत के मानचित्र पर दिखाओ।

ख. अपने शहर के उन ऐतिहासिक स्थानों पर जाओ जो 18वीं शताब्दी के किसी-न-किसी भारतीय शासक से संबद्ध रखता है। अपने पर्यटन-स्थलों के संबंध में एक रिपोर्ट तैयार करो। रिपोर्ट में निम्नलिखित बातों में से कुछ पर प्रकाश डालो :

उस शासक का नाम जिससे स्थल विशेष में संबद्ध रहा है, उसका शासनकाल तथा उसके शासनकाल की मुख्य घटनाएँ, स्थान विशेष पर अवस्थित इमारत आदि (उदाहरण के लिए, जामा मस्जिद, मकबरा, किला आदि में से क्या हैं?) और स्थान विशेष के बारे में जानने की अन्य दिलचस्प बातें।

अध्याय 3

ब्रिटिश शासन का उदय और विस्तार

भारत में यूरोप की व्यापारी कंपनियां

तुम पहले पढ़ चुके हो कि वास्को डि गामा ने भारत पहुंचने के समुद्री मार्ग का 1498 ई. में पता लगाया था। तुम यह भी जानते हो कि भारत तथा एशिया के अन्य भागों से व्यापार करने के लिए यूरोप के कई देशों में व्यापारी कंपनियां स्थापित हुई थीं।

यूरोप के विभिन्न देशों की कंपनियों ने भारत के विभिन्न हिस्सों में अपने व्यापारी केंद्र स्थापित किए थे। इनमें पुर्तगाल, हालैंड, इंग्लैंड फ्रांस तथा डेनमार्क की कंपनियां प्रमुख थीं। इनके व्यापारी केंद्र मुख्यत: समुद्र तटवर्ती क्षेत्र थे। इन व्यापारी केंद्रों को "फ़ैक्टरी" कहा जाता था। "फ़ैक्टरी" का मतलब था वह स्थान जहां "फ़ैक्टर्स" यानि कंपनी के अफसर काम करते थे। कुछ "फ़ैक्टरियों" की किलाबंदी भी की गई थी। किलाबंदी का उद्‌देश्य था प्रतिद्वंद्वियों के हमलों से "फ़ैक्टरियों" की रक्षा करना। ये कंपनियां भारत में मसाले, हाथ-करघे पर बने सूती कपड़े, नील, शोरा आदि खरीदती थीं। नील का इस्तेमाल कपड़ा रंगने के लिए होता था। शोरा बारूद बनाने के काम आता था। यूरोप में इन चीज़ों का अभाव था। यूरोपवासी इनमें से कुछ चीज़ों का शान-शौकत के लिए भी इस्तेमाल करते थे। व्यापारी कंपनियां भारत में इन चीज़ों को सस्ती दर पर ख़रीद कर यूरोप तथा अमरीका में ऊंची कीमतों पर बेचती थीं और इस प्रकार भारी मुनाफा कमाती थीं। कंपनियां मुख्यत: सोना और चांदी देकर भारत में इन चीज़ों को खरीदती थीं। अधिक से अधिक मुनाफा कमाने के लिए कंपनियों में होड़ लगी रहती थी। होड़ के कारण कंपनियों के बीच हिंसात्मक झगड़े भी होते थे। यूरोप की सरकारें इन झगड़ों और लड़ाइयों में अपने-अपने देश की कंपनियों की मदद करती थीं।

अठारहवीं सदी के आरम्भ तक अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों ने पुर्तगालियों, स्पेनवासियों तथा डचों को उन महत्त्वपूर्ण स्थलों से हटा दिया जो उन्होंने एशिया और यूरोप के बीच के व्यापार के लिए पहले स्थापित किए थे।
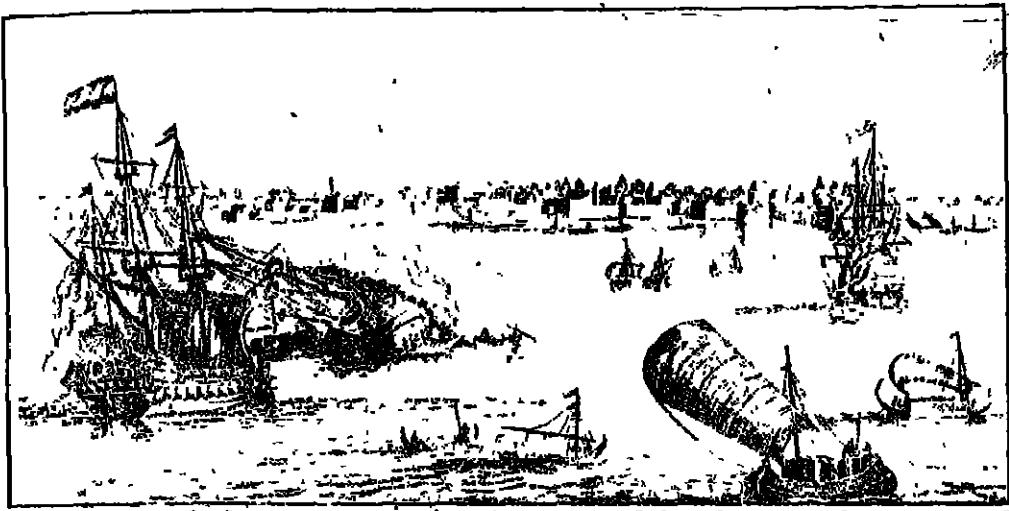
सूरत-ताप्ती नदी की ओर से लिया गया चित्र। यहाँ पर ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने व्यापारिक केंद्र की स्थापना की।

इंग्लैंड और फ्रांस की कंपनियों का यूरोप व भारत के बीच के व्यापार पर प्रभुत्व स्थापित हो गया। एक-दूसरे के विरोधी होने के कारण उनके बीच झगड़े होते रहते थे। ज़्यादा मुनाफा कमाने के लिए हर कंपनी कम से कम कीमत पर भारतीय माल खरीदने का प्रयास करती थी। इसलिए हर कंपनी बाजार पर अपना अधिकार जमाने और दूसरे का प्रभाव खत्म करने के लिए प्रयास करने लगी। इस प्रतिद्वंद्विता के कारण कंपनियों के बीच लड़ाइयां हुईं। साथ ही, कंपनियों ने भारत के राजनीतिक मामलों में भी हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। व्यापार पर नियंत्रण करने और प्रतिद्वंद्वियों को उखाड़ फेंकने के उद्‌देश्य से कंपनियां अपनी

फोर्ट विलियम, कलकत्ता

1705 ई. में भारत में यूरोपीय कंपनियों के व्यापारिक केन्द्र.
भारत की वर्तमान बाह्य सीमा
पंजाब
दिल्ली
राजपूताना
अजमेर
सिंध
अवध
नेपाल
पटना
असम
मालवा
बिहार बंगाल
चिनसुरा
हुगली
चंदरनगर
फोर्ट विलियम
सेरमपुर
गुजरात
कैंबे
बड़ौदा
सूरत
दीव
दमन
बेरार
बस्सीन
सलसेट
बंबई
उड़ीसा
पिपली
उत्तरी सरकार
गोलकोंडा
विशाखापट्टनम
यानम
गोवा
कारवाड़
मसूलीपट्टम
नेल्लूर
अर्मागौव
फोर्ट सेंट जार्ज
सेन थोम
पांडिचेरी
कैनानोर
माहे
ट्रंक्वेबार
फोर्ट सेंट डेविड
कालीकट
कारेकाल
कोचीन
नेगापट्टम
कर्नाटक
लक्षद्वीप (भारत)
(भारत)
अंडमान और निकोबार द्वीप समूह
निर्देश
अंग्रेजी
फ्रांसीसी
पुर्तगाली
डच
डेनमार्की
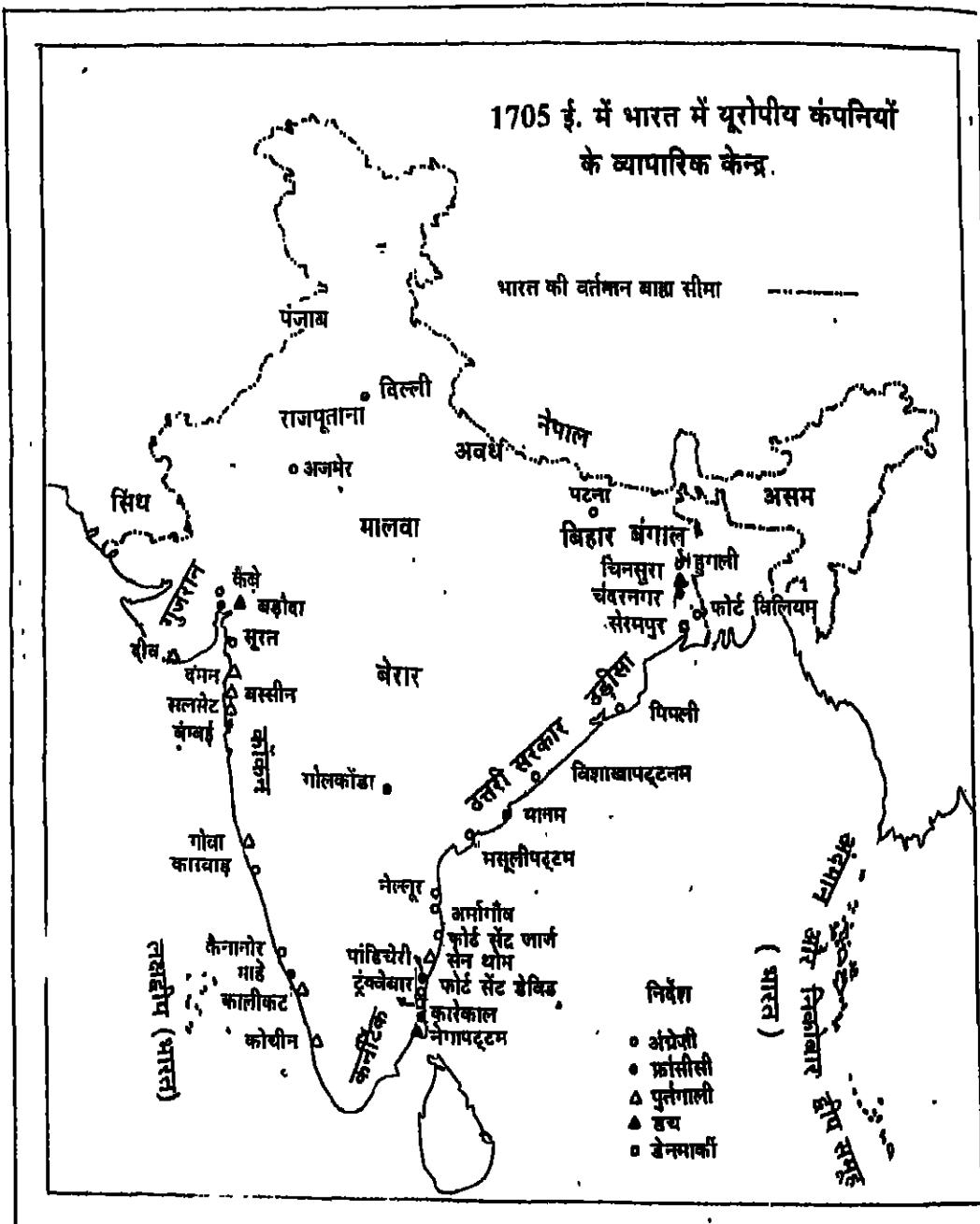
राजनीतिक सत्ता स्थापित करने की भी योजनाएं बनाने लगीं।

फ्रांसीसियों का प्रधान कार्यालय भारत के दक्षिण-पूर्वी समुद्र-तट पर पांडिचेरी में था। उस प्रदेश में अंग्रेजों का प्रमुख केंद्र, फोर्ट सेंट जार्ज (मद्रास) में था, जो पांडिचेरी से अधिक दूर न था। फोर्ट विलियम नामक उनकी एक किलाबंद चौकी कलकत्ता में थी। उन्होंने बंगाल के निर्यात व्यापार पर अपना नियंत्रण स्थापित करना शुरू कर दिया था। उन्होंने जगत सेठों के परिवार से भी व्यावसायिक संबंध स्थापित कर लिए थे। जगत सेठ परिवार बंगाल के नवाबों के भी महाजन थे।

ब्रिटिश शक्ति का उदय

कर्नाटक युद्ध

अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों के बीच सबसे पहले कर्नाटक में संघर्ष शुरू हुआ। कर्नाटक मुग़ल साम्राज्य का एक सूबा था, मगर लगभग स्वतंत्र हो चुका था। कर्नाटक की राजधानी मद्रास और पांडिचेरी के बीच स्थित आर्काट शहर में थी।

डूप्ले

सन् 1740-48 ई. के दौरान यूरोप में एक युद्ध चला जिसे 'आस्ट्रियाई उत्तराधिकार का युद्ध' कहते हैं। उस युद्ध में फ्रांसीसी और अंग्रेज़ परस्पर विरोधी खेमों में थे। उस समय डूप्ले पांडिचेरी में फ्रांसीसी कंपनी का मुख्य अधिकारी था। इंग्लैंड और फ्रांस के बीच यूरोप में युद्ध शुरू हुआ, तो फ्रांसीसियों ने फोर्ट सेंट जार्ज को लूटा। जब कर्नाटक के नवाब ने देखा कि उसके प्रांत में फ्रांसीसियों की शक्ति बढ़ती जा रही है, तो उसने उनके खिलाफ एक सेना भेजी। मगर कर्नाटक की सेना हार गई। इस लड़ाई के परिणाम ने सिद्ध कर दिया कि एक छोटी सेना भी, यदि सैनिकों में अनुशासन हो, उन्हें नियमित रूप से वेतन दिया जाए और उन्हें यूरोप में विकसित नई बंदूकें दी जाएं, तो भारतीय शासकों की काफी बड़ी सेना को हरा सकती है। भारतीय सैनिक अनुशासनहीन थे, उन्हें नियमित रूप से वेतन नहीं मिलता था और उनके लिए लड़ाई के अच्छे साधन भी उपलब्ध नहीं थे। राबर्ट क्लाइव उस समय अंग्रेज़ कंपनी में क्लर्क था। उसने इस लड़ाई के महत्त्व को समझा और आगे चलकर अंग्रेज़ कंपनी के हितों के लिए अपने अनुभवों का उपयोग किया।

फ्रांसीसी कम्पनी की फ़ौज की टुकड़ी
का एक भारतीय सैनिक

सन् 1748 में यूरोप में शांति-समझौता हुआ। तब फ्रांसीसियों ने अंग्रेज़ों को मद्रास वापस कर दिया। मगर यह शांति ज़्यादा दिनों तक नहीं टिकी। फ्रांसीसियों के विरुद्ध हुई लड़ाई में कर्नाटक का नवाब मारा गया। उसी दौरान निज़ाम की भी मृत्यु हुई। उत्तराधिकार के सवाल को लेकर विवाद पैदा हुए। फ्रांसीसियों ने मुज़फ्फर जंग को नवाब बना दिया। कर्नाटक के नवाब के पद के लिए दोनों कंपनियों ने अलग-अलग उम्मीदवारों को समर्थन दिया। फ्रांसीसियों ने चांद साहब को कर्नाटक का नवाब बना दिया। अंग्रेज़ मुहम्मद अली को कर्नाटक का नवाब बनाना चाहते थे। इस काम के लिए उन्होंने क्लाइव को 1751 ई. में एक छोटी सेना सौंप कर आर्कोट भेजा।

जो युद्ध हुआ उसमें फ्रांसीसियों की हार हुई। चांद साहब का सिर काट लिया गया।

मुहम्मद अली

डूप्ले को फ्रांस वापस बुला लिया गया और दोनों कंपनियों के बीच शांति-समझौता हुआ। निज़ाम ने मुहम्मद अली को कर्नाटक का नवाब मान लिया।

लड़ाई का नतीजा अंग्रेज़ कंपनी के हित में रहा। कर्नाटक में फ्रांसीसी कंपनी के स्थान पर अंग्रेज़ कंपनी का आधिपत्य स्थापित हो गया।

हारने पर भी हैदराबाद में फ्रांसीसियों का प्रभाव बरकरार रहा। उनकी फौज के खर्च के लिए निज़ाम ने उन्हें राजस्व-वसूली का अधिकार दे दिया। निज़ाम की रक्षा के नाम पर उन्होंने अपनी सेना की सहायता से उस पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। मज़े की बात तो यह है कि फ्रांसीसी फौज पर वही राजस्व खर्च होता था जिसे वसूल करने का अधिकार निज़ाम ने उन्हें दिया था। इस प्रकार, भारतीय राज्यों से फौज का खर्च लेकर फिर उसी फौज से उन राज्यों के शासकों को नियंत्रण में रखने का एक नया तरीका सामने आया। इस तरीके को जल्दी ही अंग्रेज़ों ने बंगाल में अपनाया। इसी बीच बंगाल संघर्ष का क्षेत्र बन गया।

अंग्रेज़-फ्रांसीसी संघर्ष का अंतिम दौर 1756 ई. में तब चला जब यूरोप में 'सात वर्षीय युद्ध' शुरू हुआ। कर्नाटक में फ्रांसीसियों की हार हुई। हैदराबाद में फ्रांसीसियों का स्थान अंग्रज़ों ने ले लिया और निज़ाम ने उन्हें उत्तर की सरकारें सौंप दीं। फ्रांसीसियों के हाथों से उनके सारे भारतीय उपनिवेश निकल गए। 1763 ई. में यूरोप में युद्ध समाप्त हुआ तो फ्रांसीसियों को उनके उपनिपेश वापस मिल गए। मगर भारत में फ्रांसीसियों की राजनीतिक सत्ता समाप्त हो गई; उनकी गतिविधियां केवल व्यापार तक सीमित रहीं। इस बीच अंग्रेज़ों ने बंगाल पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था।

बंगाल पर अंग्रेज़ों का कब्जा

अलीवर्दी खाँ 1740 ई. में बंगाल का नवाब बना। उसने जमींदारों और हिंदू तथा मुसलमान अधिकारियों की निष्ठा प्राप्त कर ली। उसने बंगाल में कुशल प्रशासन कायम किया। अलीवर्दी खाँ ने यूरोप के सौदागरों को हमेशा नियंत्रण में रखा। उसके बाद उसका तरुण नाती सिराजुद्दौला नवाब बना। मगर सिराजुद्दौला के नवाब बनने पर उसके परिवार के सदस्यों के बीच षड्यंत्र और झगड़े शुरू हो गए। इन साज़िशों ने अंग्रेज़ कंपनी को बंगाल की राजनीति में हस्तक्षेप करने का मौका दिया। उन्होंने कलकत्ता की किलाबंदी का विस्तार शुरू कर दिया।

नवाब के ढाका के खज़ाने से रकम का ग़बन हुआ था। ग़बन की वह रकम,

नवाब के अनुसार, अंग्रेज़ों के पास थी। नवाब ने अंग्रेज़ों से ग़बन की वह रकम लौटाने को कहा। अंग्रेज़ों ने नवाब की मांग ठुकरा दी। नवाब शायद कर्नाटक की घटनाओं से अवगत था। उसने अनुभव किया कि अंग्रेज़ कंपनी उसकी सत्ता के लिए एक ख़तरा है। उसने इस ख़तरे को ख़त्म करने का फैसला किया।

सन् 1756 ई. में सिराजुद्दौला के सैनिकों ने कलकत्ता पर कब्जा कर लिया। नवाब के कुछ सैनिकों ने अंग्रेज़ कैदियों पर अत्याचार किए और कई अंग्रेज़ मारे गए। सूचना मिलते ही नवाब ने अत्याचार रुकवा दिए।

जब कलकत्ता की हार की ख़बर मद्रास पहुंची तो क्लाइव को एक नौ सैनिक बेड़े के

सिराजुद्दौला

साथ कलकत्ता पर दुबारा कब्ज़ा करने के लिए भेजा गया। कलकत्ता पर अंग्रेज़ों का फिर से कब्ज़ा हो गया, मगर उतने से वे संतुष्ट नहीं हुए। वे नवाब के विरुद्ध रचे जा रहे षड्यंत्र में शामिल हो गए। उन्होंने नवाब के मुख्य सेनापति मीर जाफ़र को समर्थन देना शुरू किया।

अंग्रेज़ों और सिराजुद्दौला के बीच प्लासी में 23 जून, 1757 को युद्ध हुआ। अंग्रेज़ों के साथ षड्यंत्र में शामिल हुए मीर जाफ़र तथा उसके अन्य सहयोगियों ने लड़ाई में सक्रिय भाग नहीं लिया। जगत सेठ के अंग्रेज़ कंपनी के साथ व्यवसायिक संबंध थे और बंगाल की वित्त-व्यवस्था पर भी उनका काफी नियंत्रण था। जगत सेठ ने भी मीर जाफ़र का समर्थन करने का निर्णय किया। प्लासी के युद्ध में नवाब की सेना हार गई। नवाब को पकड़ लिया गया और बड़ी निर्दयता से मार दिया गया। मीर जाफ़र को नवाब बना दिया गया। क्लाइव और कंपनी के अन्य अफ़सरों ने उनका समर्थन किया था, इसलिए उसने उन्हें इनाम के तौर पर भारी धनराशि दी। इस लड़ाई के साथ भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना की शुरूआत हुई।

प्लासी के युद्ध के बाद बंगाल पर अंग्रेज़ कंपनी की वास्तविक सत्ता कायम हुई और नवाब उसकी कठपुतली बन गया। कंपनी के अफ़सर और उनके भारतीय दलाल किसानों [illegible] माल बाजार भाव [illegible] मजबूर करते

भारतीय तोप जो प्लासी की लड़ाई में प्रयोग में लाई गई।
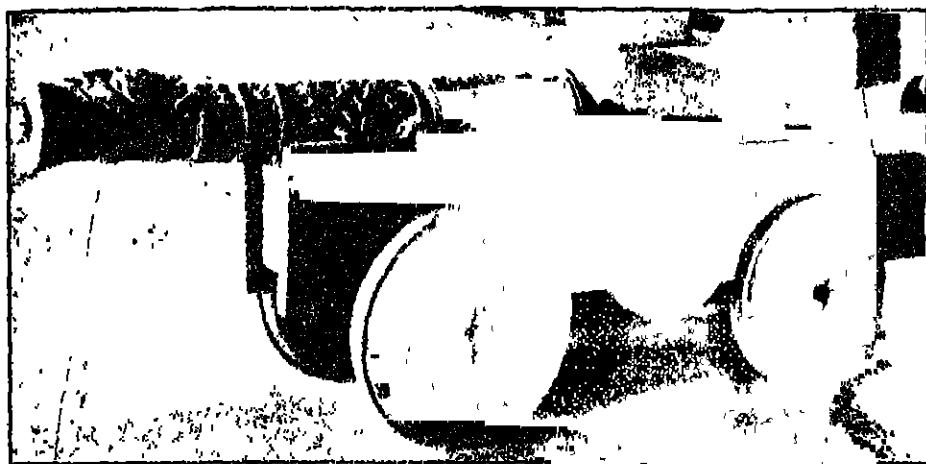
थे। इस तरह से वे भारी मुनाफा कमाते थे। कंपनी के अफ़सर नवाब और अन्य लोगों से घूस भी लेते थे। कंपनी भी नवाब से भारी धन की मांग करती थी, जिसे वह पूरा करने में असमर्थ था। उसका ख़जाना खाली हो गया था। यहां तक कि अपने सैनिकों को वेतन देने के लिए भी उसके पास पर्याप्त धन नहीं बचा था। अंततः नवाब भी कंपनी के खिलाफ होने लगा। लेकिन कंपनी के अफ़सरों ने उसे गद्दी से हटाकर उसके दामाद मीर कासिम को बंगाल का नवाब बना दिया।

मीर कासिम ने अंग्रेज़ कंपनी पर अपनी पूर्ण निर्भरता की स्थिति को समझा। वह कंपनी के शिकंजे से छुटकारा पाना चाहता था। इसलिए वह अपनी स्थिति मज़बूत बनाने में जुट गया। स्वतंत्र होने की कोशिश करने

मीरजाफर

शुजाउद्दौला

वाला वह बंगाल का आख़िरी नवाब था। उसने मीर जाफ़र के उन सभी अफ़सरों को बरख़ास्त करना शुरू कर दिया जो कंपनी के हिमायती थे। वह एक ताकतवर सेना बनाने में भी जुट गया। अपने सैनिकों को युद्ध के नए तरीके सिखाने के लिए उसने यूरोपीय सैनिकों को नियुक्त किया। उसने चुंगी की वसूली ख़त्म कर दी, ताकि भारतीय सौदागर भी कंपनी के अफ़सरों की बराबरी में ही व्यापार कर सकें। उसके द्वारा उठाए गए इन कदमों से, विशेषकर उसकी अंतिम कार्रवाई से, अंग्रेज़ कंपनी के अफसर खफा हो गए और उन्होंने नवाब को हटा देने का फ़ैसला किया।

सन् 1763 ई. में जो लड़ाई हुई उसमें नवाब की सेना हार गई। नवाब को बंगाल और बिहार से खदेड़ दिया गया। मीर जाफ़र ने अवध के नवाब शुजाउद्दौला के यहां शरण ली। शुजाउद्दौला सफ़दरजंग के बाद अवध का नवाब बना था। उस समय मुग़ल बादशाह शाह आलम ने भी अवध के नवाब की शरण ली थी। शाह आलम के पिता आलमगीर द्वितीय की हत्या हो जाने के बाद वज़ीर ने उसे दिल्ली में घुसने नहीं दिया था।

दो शरणार्थियों के सहयोग से अवध के नवाब ने अंग्रेज़ों के खिलाफ़ लड़ाई की तैयारी की। पश्चिम बिहार के बक्सर नामक स्थान पर 22 अक्तूबर, 1764 ई. को लड़ाई हुई, जिसमें भारतीय सेनाओं की हार हुई। बक्सर की लड़ाई निर्णायक सिद्ध हुई। भारत के इतिहास में एक भारी मोड़ आ गया।

सन् 1765 ई. में शुजाउद्दौला और शाह आलम ने इलाहाबाद में क्लाइव के साथ समझौतों पर हस्ताक्षर किए। क्लाइव उस
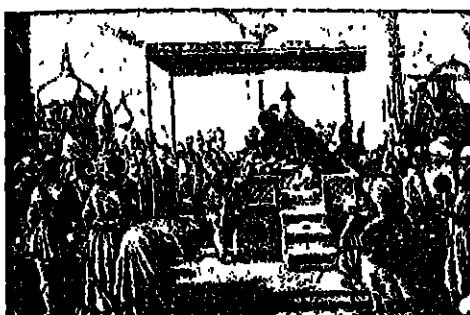
शाह आलम द्वितीय क्लाइव को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्रदान करते हुए।

समय तक कंपनी का गवर्नर बन गया था। समझौतों के अनुसार ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी मिल गई। इससे कंपनी को इन प्रदेशों से राजस्व-वसूली के अधिकार मिल गए। अवध के नवाब ने इलाहाबाद और कोरा या कड़ा मुग़ल बादशाह को दे डाले। मुग़ल बादशाह ब्रिटिश सैनिकों के संरक्षण में इलाहाबाद में रहने लगा। कंपनी ने मुग़ल बादशाह को हर साल 26 लाख रुपए देना मंजूर किया, मगर जल्दी ही वह अपने वादे से मुकर गई और भुगतान रोक दिया। बाहरी हमलों से अवध के नवाब की रक्षा के लिए कंपनी ने अपनी सेना भेजने का वचन दिया, मगर सेना का खर्च उठाने की ज़िम्मेदारी नवाब की थी। इस प्रकार अवध का नवाब कंपनी का आश्रित हो गया।

इस बीच मीरजाफ़र को पुन: बंगाल का नवाब बना दिया गया था। उसकी मृत्यु के बाद उसके बेटे को नवाब बनाया गया। कंपनी के अफ़सरों ने नए नवाब से मोटी रकमें ऐंठकर खूब सम्पत्ति जोड़ी।

ब्रिटिश प्रभाव का विस्तार (1765–1785ई.)

कर्नाटक में अंग्रेज़ों और फ़्रांसीसियों के बीच हुए युद्धों ने तथा प्लासी और बक्सर की लड़ाइयों ने भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना का मार्ग खोल दिया। आरम्भ में अंग्रेज़ों का प्रभाव तीन स्थलों- कलकत्ता, बम्बई और मद्रास-के आसपास के समुद्र-तटवर्ती क्षेत्रों तक सीमित रहा। मगर 1765 ई. तक वे बंगाल, बिहार और उड़ीसा के वास्तविक शासक बन गए थे। अवध का नवाब उन पर आश्रित हो चुका था। कर्नाटक का नवाब उन्हीं का बनाया हुआ था। इस बीच मराठों ने अपनी खोई शक्ति पुन: प्राप्त कर ली थी। उस समय मराठे ही भारत की प्रमुख शक्ति थे। आगे के करीब चार दशकों तक अंग्रेज़ों को मराठा शक्ति का मुक़ाबला करना पड़ा। दक्षिण भारत में मराठों के अलावा हैदराबाद और मैसूर के राज्य भी काफी शक्तिशाली थे।

सन् 1765 से 1772 तक बंगाल में दोहरी सरकार रही, क्योंकि वहां एक साथ दो सत्ताएं शासन कर रही थीं। सेना और राजस्व-वसूली अंग्रेज़ों के हाथों में थी और प्रशासन संभालने का काम नवाब के ज़िम्मे

1765 ई. में भारत
काबुल
पेशावर
कश्मीर
लाहौर
पंजाब
भारत की वर्तमान बाह्य सीमा
पानीपत
मुग़ल
दिल्ली
राजपूताना
जयपुर
आगरा
नेपाल
जोधपुर
अजमेर
अवध
असम
सिंध
ग्वालियर
इलाहाबाद
पटना
बिहार
बंगाल
गुजरात
बड़ोदा
मराठा रियासतें
चन्दननगर
(फ्रां.)
कलकत्ता
दीव (पुर्त.)
सूरत
नागपुर
दमन (पुर्त.)
उड़ीसा
कटक
बसीन
बम्बई
पूना
निज़ाम का राज्य
उत्तरी सरकार
हैदराबाद
यानम (फ्रां.)
गोवा (पुर्त.)
मसूलीपट्टम
मद्रास
मैसूर
पांडिचेरी (फ्रां.)
माहे (फ्रां.)
कर्नाटक
फोर्ट सेंट डेविड
कालीकट
देवीकोटा (अंग्रेज़ी)
कारैकल (फ्रां.)
ट्रावनकोर
निर्देश
निज़ाम क्षेत्र
अंग्रेज़ी क्षेत्र
मैसूर क्षेत्र
मराठा क्षेत्र
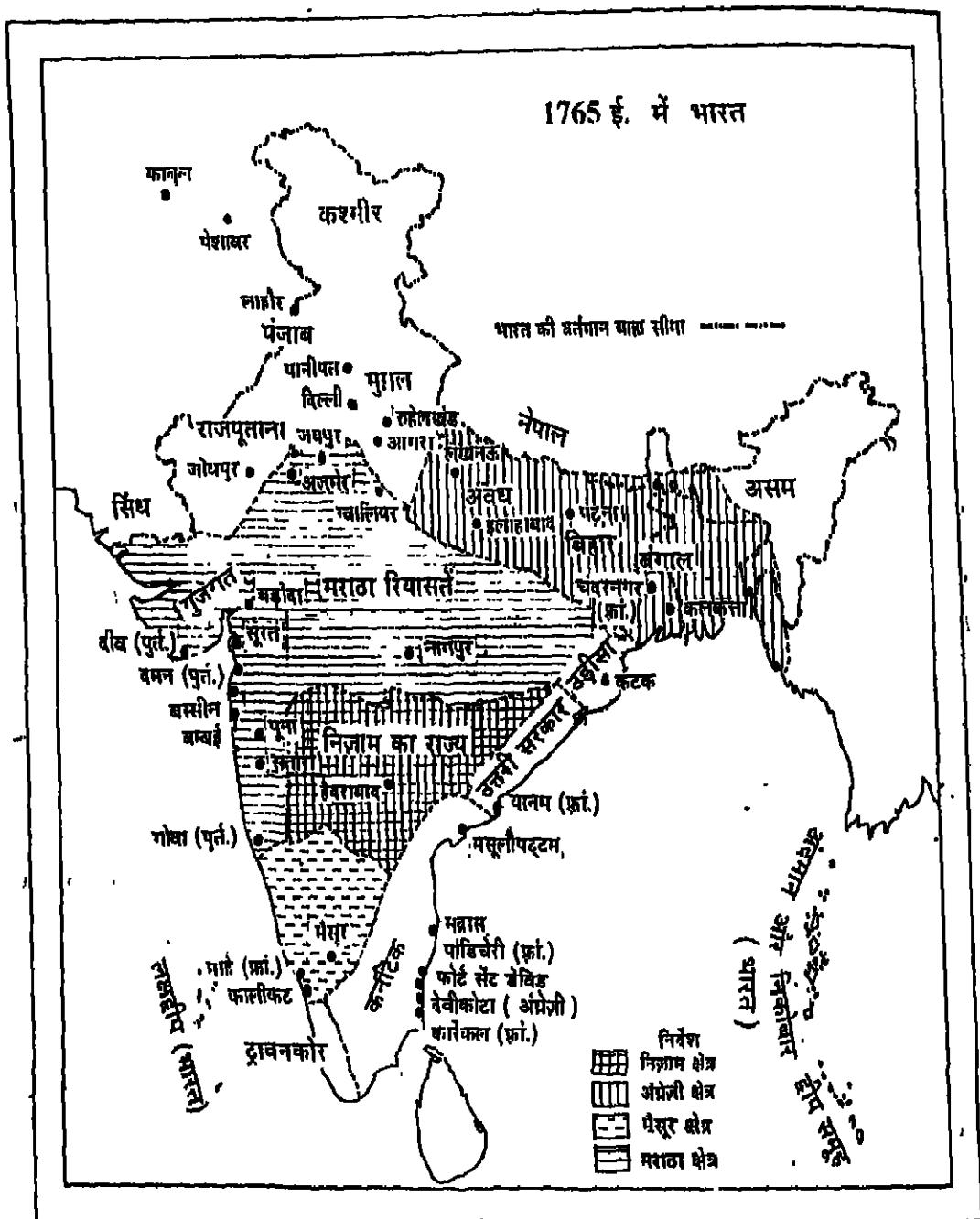
था। ऐसी स्थिति में अपने अधिकारों को अमल में लाने के लिए नवाब के पास कोई साधन नहीं रह गये थे। दूसरी तरफ, सारी शक्ति अंग्रेज़ों के हाथों में थी, मगर ज़िम्मेवारी कोई नहीं। कंपनी के अफ़सर बेहद भ्रष्टाचारी बन गए थे और जनता का शोषण कर रहे थे। 1770 ई. में बंगाल मे भंयकर अकाल पड़ा। कंपनी और उसके अफसरों के दुर्व्यवहारों ने अकाल को और भी अधिक भयावह बना दिया। मैसूर के शासक हैदर अली ने 1769 ई. के पहले अंग्रेज़-मैसूर युद्ध में अंग्रेज़ों को हराया और उन्हें उसके साथ एक शांति-समझौते पर हस्ताक्षर करने के लिए मज़बूर किया।

सन् 1772 ई. में वारेन हेस्टिंग्ज़ बंगाल का गवर्नर बना। 1773 ई. में उसे भारत में ब्रिटिश प्रदेशों का गवर्नर-जनरल बनाया गया। उस समय अंग्रेज़ों ने बंगाल में अपने शासन को मज़बूत बनाना शुरू कर दिया। उस समय के बंगाल में बिहार और उड़ीसा भी शामिल थे। 1772 ई. में दोहरी सरकार को खत्म कर दिया गया और बंगाल पर कंपनी का सीधा शासन लागू हो गया। उसी साल से कलकत्ता, जो कि कंपनी का प्रमुख केंद्र था, बंगाल की वास्तविक राजधानी बनी। कालांतर में ब्रिटिश भारत की राजधानी भी कलकत्ता में ही रही। इसी काल में अंग्रेज़ों ने भारतीय शासकों के झगड़ों में भी उलझना शुरू कर दिया।

वारेन हेस्टिंग्स

अंग्रेज़ों ने अवध के नवाब को रुहेलों के विरुद्ध सहायता दी। रुहेलों के अधिकांश इलाके अवध के साथ मिला दिए गए। मगर एक रुहेला सरदार को रामपुर का नवाब बना दिया गया। रामपुर का राज्य रुहेलों के कुछ इलाकों को मिलाकर बनाया गया था। अंग्रेज़ों की सहायता के लिए अवध के नवाब ने उन्हें चालीस लाख रुपए दिए। अवध के साथ अंग्रज़ों के संबंध अधिक मज़बूत हुए। इससे बंगाल पर अंग्रेज़ों का शासन सुरक्षित और सुदृढ़ हुआ।

सन् 1775 से 1782 ई. तक अंग्रेज़ मराठों से लड़ते रहे।

मराठों के साथ पहली लड़ाई, जिसे प्रथम अंग्रेज़-मराठा युद्ध कहते हैं, तब शुरू
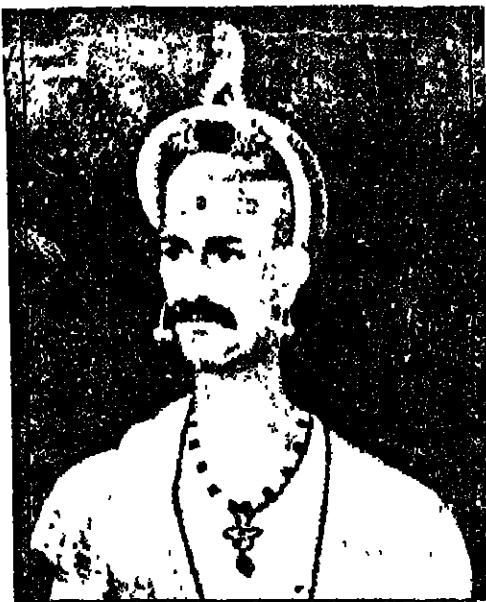
नाना फड़नवीस

हुई जब अंग्रेज़ों ने पेशवा-पद के लिए माधवराव द्वितीय के विरुद्ध राघोबा के दावे का समर्थन किया। मगर उस समय अधिकतर मराठा सरदार किशोर पेशवा और मराठा नेता नाना फड़नवीस के समर्थक थे। यह युद्ध अनिर्णित रहा और 1782 ई. में खत्म हुआ। इसके बाद बीस साल तक अंग्रेज़ों और मराठों के बीच शांति स्थापित रही।

प्रथम अंग्रेज़-मैसूर युद्ध के बाद अंग्रेज़ों और हैदर अली के बीच जो संधि हुई थी उसमें दोनों पक्षों ने यह तय किया था कि कोई तीसरी शक्ति यदि उनमें से किसी पर हमला करती है तो वे एक-दूसरे की मदद करेंगे। मगर जब मराठों ने मैसूर पर हमला किया तो अंग्रेज़ों ने हैदर अली को कोई मदद नहीं दी। फलत: मैसूर का शासक अंग्रेज़ों के खिलाफ हो गया। आगे के तीस सालों तक हैदर अली और उसके बेटे टीपू सुल्तान की अंग्रेज़ों से शत्रुता चली। अंग्रेज़ों के साथ उनकी कई बार लड़ाइया हुईं। अमरीका के स्वतंत्रता युद्ध के दौरान फ्रांस ने ब्रिटेन के विरुद्ध अमरीकी उपनिवेशों की मदद की थी। फ्रांस ने मराठों को भी सहायता देने की पेशकश की थी। बदले की भावना से अंग्रेज़ों ने फ्रांसीसी बंदरगाह माहे पर अधिकार कर लिया। यूरोप के साथ व्यापार के लिए माहे मैसूर राज्य का एकमात्र बंदरगाह था। हैदर अली ने 1780 ई में अंग्रेज़ो पर हमला किया। फ्रांसीसियों ने उसकी मदद की। मगर जब ब्रिटेन और फ्रांस के बीच शांति-समझौता हुआ तो फ्रांसीसियों ने मैसूर को मदद देना बंद कर दिया। 1782 ई. में हैदर अली की मृत्यु हुई, परंतु उसके बेटे टीपू सुल्तान ने लड़ाई जारी रखी। दूसरा अंग्रेज़-मैसूर युद्ध 1784 ई. में खत्म हुआ। लड़ाई के पहले की स्थिति फिर से कायम हो गई।

इस प्रकार, 1765 से 1785 ई. तक अंग्रेज़ भारत में अपने क्षेत्रों का विस्तार नहीं कर पाए। मगर वे अपने राजनीतिक प्रभाव को बढ़ाने में सफल रहे। मराठों के विरुद्ध हुई लड़ाई के दौरान वे नागपुर के भोंसले को तटस्थ रखने में सफल हुए थे। मराठों और मैसूर के खिलाफ उनकी लड़ाई में वे निज़ाम

को भी तटस्थ रखने में सफल हुए थे। मैसूर, निज़ाम और मराठे मिलकर अंग्रेज़ों को हरा सकते थे, मगर अंग्रेज़ों ने भारतीय शासकों के आपसी मतभेदों को मिटने नहीं दिया। वे अपना प्रभाव पश्चिम में यमुना तक, हैदराबाद में और दक्षिण में दूर तक, बढ़ाने में सफल हो गए।

हस्तक्षेप न करने की नीति (1785–1797 ई.)

अमरीका की स्वतंत्रता की लड़ाई में ब्रिटेन की हार होने के बाद इंग्लैंड में ईस्ट इंडिया कंपनी की नीतियों की आलोचना हुई। ब्रिटिश सरकार ने तय किया कि कंपनी को भारतीय शासकों के झगड़ों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। ब्रिटिश संसद (पार्लियामेंट) ने एक कानून बनाकर भारत के ब्रिटिश इलाकों के शासन की एक व्यवस्था प्रस्तुत कर दी। वारेन हेस्टिंग्ज़ ने भारत में बड़ी भारी निजी संपत्ति जमा कर ली थी। वह जब इंग्लैंड लौटा तो वहां की पार्लियामेंट ने उस पर एक मुकद्दमा चलाया। उस पर आरोप लगाए गए थे कि उसने भारतीयों पर नृशंस अत्याचार किए हैं, और भारतीय शासकों से घूस ली है। अंत में उसे आरोपों से मुक्त कर दिया गया। उसके उत्तराधिकारी कार्नवालिस और जोन शोरे ने भारतीय शासकों के मामलों से अपने को अलग रखने की कोशिश की। इसे हस्तक्षेप न करने की नीति कहते हैं।

रुहेलों ने मुगल बादशाह शाह आलम पर हमला करके उसे अंधा बना दिया था। बाद में वह मराठा सरदार महादजी सिंधिया की सुरक्षा में चला गया। मराठों ने निज़ाम के खिलाफ पुनः अपने हमले शुरू कर दिए। उधर नेपाल के गुरखा काफी शक्तिशाली हो गए थे और बर्मी राज्य ने भी अपना प्रभाव भारत के उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों तक बढ़ा लिया था। पंजाब पर अफ़गान आक्रमण का भी खतरा था। फिर भी कार्नवालिस ने इन मामलों में हस्तक्षेप न करने से इनकार कर दिया।

परंतु मैसूर के मामले में हस्तक्षेप न करने की नीति नहीं अपनाई गई। टीपू सुल्तान ने कूर्ग और त्रावणकोर के राज्यों पर हमले किए। इन राज्यों के शासकों के अंग्रेज़ों से मित्रता के संबंध थे। अंग्रेज़ टीपू सुल्तान को दक्षिण भारत में अपनी शक्ति के विस्तार के मार्ग में सबसे बड़ा खतरा समझते थे। फलस्वरूप तीसरा अंग्रेज़–मैसूर युद्ध हुआ। टीपू की हार हुई और उसे अपने राज्य के कई इलाके अंग्रेज़ों को देने पड़े।

इस प्रकार, अंग्रेज़ हस्तक्षेप न करने की नीति पर तभी कायम रहे जब उससे उनका हित–साधन होता था। कार्नवालिस का उत्तराधिकारी जोन शोरे भी इसी नीति पर चला। अंग्रेज़ों ने निज़ाम को मदद करने का

टीपू सुल्तान

1798 से 1809 ई. तक ब्रिटिश राज्य-विस्तार

सन् 1798 ई. में वेल्ज़ली गवर्नर-जनरल बना। उसने पुनः राज्य-विस्तार की शुरूआत कर दी। तुम जानते हो कि 1789 ई. में फ्रांस में क्रांति हुई थी और उसके घोषित उद्देश्य थे-स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व। इस क्रांति के फलस्वरूप यूरोप के अन्य देश फ्रांस के खिलाफ हो गए। 1792 ई. से ब्रिटेन और क्रांतिकारी फ्रांस के बीच लड़ाई शुरू हो गई। जब नेपोलियन बोनापार्ट के नेतृत्व में फ्रांस की सेना मिस्र की विजय के लिए रवाना हुई, तो अंग्रेज़ों ने भारत में अपनी स्थिति के लिए खतरा महसूस किया। फ्रांसीसी उस

वादा किया था, किंतु जब मराठों ने निज़ाम को हराया और उसके इलाकों से चौथ वसूल करने लगे तो अंग्रेज़ निज़ाम की मदद को नहीं आए। लेकिन उनके द्वारा चुने गए अवध के नवाब के उत्तराधिकारी का 1797 ई. में विरोध हुआ तो उन्होंने विरोधियों को कुचल डाला। इस काल में अंग्रेज़ों ने मुख्य रूप से अपनी शक्ति बढ़ाने पर ध्यान दिया और विस्तार के आगे के दौर के लिए तैयारी की।

वेल्ज़ली

समय निज़ाम को भी प्रभावित करने का प्रयास कर रहे थे। टीपू सुलतान ने फ्रांसीसी क्रांति के लिए अपनी खुली सहानुभूति ज़ाहिर की। वह अंग्रेज़ों को भारत से भगाने के लिए फ्रांसीसी सहायता प्राप्त करने की भी कोशिश कर रहा था। मगर उस समय के भारत की दो प्रमुख शक्तियां कमज़ोर हो चुकी थीं। तीसरे अंग्रेज़-मैसूर युद्ध के बाद मैसूर की शक्ति घट गई थी और आपसी झगड़ों तथा षड्यंत्रों के कारण मराठे भी कमज़ोर हो गए थे।

नए इलाकों पर कब्ज़ा करने के अलावा वेल्ज़ली ने एक भारतीय शासक को दूसरे के विरुद्ध सैनिक सहायता देकर अपना प्रभाव बढ़ाने की वारेन हैस्टिंग्स की पुरानी नीति अपनाई। ब्रिटिश प्रभाव को अधिक स्थायी बनाने के लिए वेल्ज़ली ने इस नीति को आगे बढ़ाया। कई भारतीय शासको ने 'सहायता संधि' स्वीकार की। इसके अंतर्गत भारतीय शासक को अपने क्षेत्र में ब्रिटिश फ़ौज रखनी पड़ती थी और उसका खर्च देना पड़ता था। इस ख़र्च के भुगतान के लिए कभी-कभी राज्य का एक भाग ही अंग्रेज़ों को दे देना पड़ता था। आमतौर पर, भारतीय शासक को अपने दरबार में एक अंग्रेज़ अफ़सर भी रखना पड़ता था। उस ब्रिटिश अफ़सर को 'रेज़िडेंट' कहा जाता था। सतही तौर पर यह व्यवस्था भारतीय शासक को सुरक्षा प्रदान करती थी, मगर असल में यह उसकी आज़ादी को ख़त्म कर देती थी।

सहायक संधि को स्वीकार करने वाला पहला शासक निज़ाम था। दूसरा शासक अवध का नवाब था। इन दोनों शासकों ने अपने राज्यों के हिस्से अंग्रेज़ों को दे दिए।

सन् 1799 ई. में अंग्रेज़ों की टीपू सुलतान से लड़ाई हुई। अंग्रेज़ों को डर था कि फ्रांसीसी सैनिक शायद टीपू की मदद को पहुंच जाएं। परंतु वैसा नहीं हुआ। टीपू लड़ता हुआ मारा गया। इस प्रकार, जीवनभर ब्रिटिश शक्ति का विरोध करने वाले टीपू का अंत हो गया। हैदर अली ने जिस राजवंश को गद्दी से हटाया था उसी वंश के एक बालक को मैसूर की गद्दी पर बैठाया गया। मैसूर राज्य के कुछ इलाके अंग्रेज़ों ने हथिया

बाघ के आकार में बनी टीपू सुल्तान की तोप

टीपू सुल्तान की हार के बाद सात वर्ष की आयु के कृष्णराज वडयार को मैसूर का शासक बनाया गया।

लिए और कुछ निज़ाम ने। मैसूर का नया राजा अंग्रेज़ों का पूर्णतः आश्रित बन गया। अंग्रेज़ों ने कर्नाटक, तंजावूर तथा सूरत पर भी कब्ज़ा कर लिया।

वेल्ज़ली ने आगे मराठों की ओर ध्यान दिया। मराठों के आपसी झगड़े जारी थे। महादजी सिंधिया और नाना फड़नवीस योग्य नेता थे। आपसी झगड़ों के बावजूद उन्होंने मराठा शक्ति को टिकाए रखा था। मगर उनकी मृत्यु के बाद स्थिति तेज़ी से बिगड़ती गई। पेशवा पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए 1801-1802 ई. में होलकर और सिंधिया के बीच लड़ाई

हुई। तरुण पेशवा बाजीराव द्वितीय ने अंग्रेज़ों से संरक्षण मांगा। बसई में 1803 ई. में अंग्रेज़ों के साथ उसने संधि की। उसने सहायक संधि को भी स्वीकार कर लिया। पेशवाओं की राजधानी पुणे पर अंग्रेज़ों की फ़ौज ने कब्ज़ा कर लिया और होलकर को वहां से भगा दिया। अब सिंधिया और भोंसले एकजुट हुए, मगर तब तक काफी विलंब हो चुका था। मराठों की सेनाएं उत्तर और दक्षिण, दोनों जगहों में हार गईं। अंग्रेज़ों ने सिंधिया के नियंत्रण से दिल्ली छीन ली और अंधा बादशाह शाह आलम उनके संरक्षण में आ गया। भोंसले और सिंधिया ने अंग्रेज़ों के साथ संधियां कर लीं और अपने राज्यों के कई इलाके अंग्रेज़ों को दे दिए। उन्होंने सहायक संधि की शर्तों को भी स्वीकार कर लिया। इस तरह मराठा राज्यों में ब्रिटिश फ़ौजें पहुंच गईं और रेज़िडेंट नियुक्त हुए। फिर भी मराठों के विभिन्न गुटों में झगड़े चलते रहे और ब्रिटिश रेज़िडेंट इन झगड़ों को उभारने में योग देते रहे। इस तरह अंग्रेज़ों ने हर मराठा राज्य पर अपना प्रभाव जमाना शुरु कर दिया।

होलकर अभी डटा हुआ था। लंदन में कंपनी के मालिक लड़ाइयों पर हो रहे भारी खर्च से खुश नहीं थे। इसलिए वेल्ज़ली को वापस बुला लिया गया। उसके उत्तराधिकारी ने होलकर के साथ शांति-समझौता कर लिया। वेल्ज़ली के जाने के बाद अंग्रेजों ने अपना विस्तार लगभग रोक दिया। वे अपनी सत्ता को दृढ़ बनाने में जुट गए। मगर जल्दी ही विस्तार का नया दौर शुरू हो गया।

1809 से 1848 ई. तक ब्रिटिश राज्य-विस्तार

फ्रांस की क्रांति के समय इंग्लैंड और फ्रांस के बीच जो लड़ाई शुरू हुई थी वह अब भी जारी थी। उसी समय मिंटो को गवर्नर-जनरल बना कर भारत भेजा गया। उसे उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व भारत में ब्रिटिश प्रदेशों की सुरक्षा के उपाय करने के आदेश दिए गए। फलतः भारत में और पड़ौसी देशों मे ब्रिटिश सत्ता का और अधिक विस्तार हुआ। जावा और सुमात्रा डचों के अधिकार में थे। अंग्रेज़ों ने उन द्वीपों पर कब्जा कर लिया। बाद में ये द्वीप डचों को लौटा दिए गए, मगर अंग्रेज़ों ने सिंगापुर पर कब्ज़ा कर लिया और वे सारवाक (माले प्रायद्वीप एक भाग) में भी घुस गए। इन विजयों से अंग्रेज़ों को दक्षिण-पूर्व एशिया के व्यापार पर नियंत्रण करने में सहायता मिली और उस क्षेत्र में ब्रिटेन की नौ सैनिक सत्ता की नींव पड़ी।

अंग्रेज़ों ने अफ़गानिस्तान, ईरान और भारत के पश्चिमोत्तर इलाकों में भी अपना

1805 ई. में भारत
भारत की वर्तमान बाह्य सीमा
अटक
पेशावर
कश्मीर
सिख रियासतें
मुलतान
पानीपत
दिल्ली
जयपुर
राजपूताना
आगरा
अवध
नेपाल
लखनऊ
जोधपुर
अजमेर
ग्वालियर
पटना
असम
सिंध
इलाहाबाद
बिहार
मालवा
गुजरात
मराठा रियासतें
बंगाल
चंदरनगर (फ्रां.)
कलकत्ता
बर्मा
काठियावाड़
बड़ोदा
इंदौर
दीव (पुर्त.)
सूरत
नागपुर
दमन (पुर्त.)
कटक
बम्बई
बस्सीन
निज़ाम का
राज्य
हैदराबाद
उत्तरी सरकार
यानम (फ्रां.)
गोआ (पुर्त.)
मैसूर
मैसूर
मद्रास
माहे (फ्रां.)
पांडिचेरी (फ्रां.)
कालीकट
कर्नाटक
मालाबार
कारीकाल (फ्रां.)
कोचीन
ट्रावनकोर
निर्देश
मराठा क्षेत्र
अंग्रेजी क्षेत्र
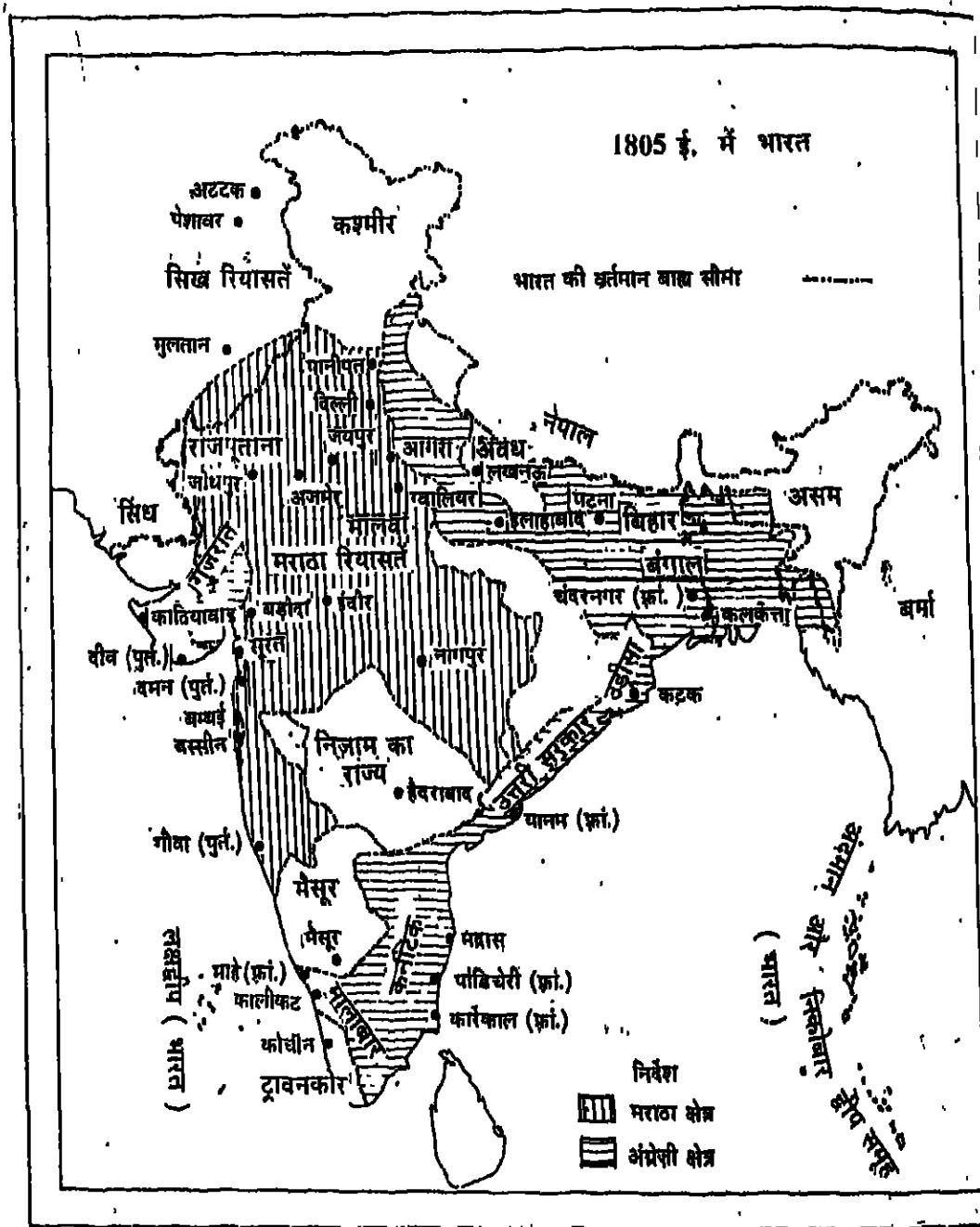
प्रभाव बढ़ाने की कोशिश की। वे सतलुज नदी तक अपनी सत्ता बढ़ाने में सफल हो गए। उन्होंने सतलुज के पूर्व में रणजीत सिंह के विस्तार को रोक दिया।

मिंटो के बाद मार्क्विस हेस्टिंग्ज़ (वारेन हेस्टिंग्ज़ से भिन्न व्यक्ति) गवर्नर-जनरल बना। उसने नेपाल से लड़ाई की। नेपालियों की हार हुई और उन्हें अपने राज्य के इलाके अंग्रेज़ों को देने पड़े। काठमांडू में एक ब्रिटिश रेजिडेंट भी रहने लगा।

उन्नीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में पिंडारी लुटेरों का उदय हुआ। वे देश के कई प्रदेशों में लूट-मार करते थे। भारतीय शासकों ने अंग्रेज़ों के साथ सहायता संधि करके अपने जिन अनेक सैनिकों को बरखास्त कर दिया था वे भी पिंडारियों के गिरोहों में शामिल हो गए। अंग्रेज़ों ने पिंडारियों के खिलाफ मराठा सेनाओं का इस्तेमाल करने का फैसला किया, मगर कई मराठा नेता पिंडारियों को मदद देते रहे। अत: पिंडारियों के खिलाफ शुरू हुई लड़ाई जल्दी ही तीसरे अंग्रेज़-मराठा युद्ध (1817 ई.) में बदल गई। पिंडारी हार गए। एक पिंडारी को पूर्वी राजस्थान के एक छोटे राज्य टोंक का नवाब बना दिया गया। तीसरे अंग्रेज़-मराठा युद्ध ने मराठों को पूर्णत: बरबाद कर दिया। पेशवा को पेंशन देकर उत्तर भारत में निर्वासित कर दिया गया। उसके देहांत के बाद उसका बेटा नाना साहब पेशवा के विशेषाधिकार हासिल करने के लिए प्रयास करता रहा। कुछ ही वर्षों में पेशवा के इलाके अंग्रेज़ों के पश्चिम भारत के क्षेत्रों के हिस्सा बन गए। अन्य मराठा सरदारों ने भी अपने अधिकांश इलाके खो दिए। उनकी सेनाएं भी खत्म कर दी गईं। वे सब सरदार ब्रिटिश रेजिडेंटों की अधीनता में आ गए। जल्दी ही राजपूत राज्यों पर भी सहायक संधि थोप दी गई।

सन् 1824 से 1826 ई. तक अंग्रेज़ों ने बर्मी साम्राज्य के खिलाफ लड़ाई की। बर्मी लोग असम में अपने प्रभाव को बढ़ाते जा रहे थे। उनकी हार के बाद असम अंग्रेज़ों के नियंत्रण में आ गया। अंग्रेज़ों के व्यापार के लिए बर्मा को अपने द्वार खोल देने पड़े। बर्मा में एक ब्रिटिश रेजिडेंट भी रहने लगा।

अंग्रेज़ों ने अफ़गानिस्तान पर भी चढ़ाई की, किन्तु उसे वे जीत न सके। अंग्रेज़ों को डर लगने लगा था कि ईरान और अफ़गानिस्तान से होकर रूस उनके भारतीय प्रदेशों पर आक्रमण कर सकता है। उन्होंने अफ़गानिस्तान के शासक दोस्त मुहम्मद को हटाने के लिए सेना भेजी। मगर इसमें वे बुरी तरह असफल रहे। अफ़गान अपनी स्वतंत्रता कायम रखने में सफल रहे। दोस्त मुहम्मद के वंशज 1929 ई. तक सत्ता में बने रहे।

सिंध के अमीर

अंग्रेजों ने सिंध में अपना प्रभाव जमा लिया था। सिंध के अमीरों ने उनके साथ सहायक संधि कर ली थी। मगर 1843 ई. में सिंध को ब्रिटिश शासन में मिला लिया गया।

रणजीत सिंह के अधीन पंजाब

उस समय तक केवल एक ही प्रमुख भारतीय सत्ता स्वतंत्र रह गई थी। वह थी–रणजीत सिंह के अधीन पंजाब। तुम पहले पढ़ चुके हो कि सिक्ख मिसलों में संगठित हुए थे। रणजीत सिंह ने एक छोटी मिसल में 1792 ई. में अपनी सत्ता स्थापित की थी। उसने 1798 ई. में सतलज के पश्चिम के इलाकों की मिसलों को संगठित किया और अफ़ग़ान शासक ज़मान शाह के आक्रमण को विफल कर दिया। इस सफलता ने उसे एक शक्तिशाली शासक बना दिया और 1801 ई. में इन मिसलों ने उसे पंजाब का महाराजा मान लिया। उसने जल्दी ही अपने राज्य का विस्तार पेशावर, मुलतान, कश्मीर, कांगड़ा, आदि पहाड़ी इलाकों समेत एक विशाल क्षेत्र में कर लिया। उसने एक बहुत शक्तिशाली सेना बनाई। अपनी सेना को आधुनिक ढंग से संगठित और सुसज्जित करने के लिए उसने यूरोपीयों की सेवाएं प्राप्त कीं। उसने पंजाब में कुशल प्रशासन स्थापित करने का प्रयास किया। इसमें उसके हिंदू, मुसलमान और सिक्ख अफ़सरों ने उसे पूरा सहयोग दिया। अफ़सरों की नियुक्ति में उसने कोई धार्मिक भेदभाव नहीं किया था। रणजीत सिंह के शक्तिशाली होने के कारण अंग्रेज़ भी उसका सम्मान करते थे। अंग्रेज़ों ने 1809 ई. में रणजीत सिंह के साथ एक मैत्री-संधि की। परंतु 1838 ई. में महाराजा की मृत्यु के बाद स्थिति बदल गई।

ब्रिटिश प्रभुसत्ता की स्थापना (1848–1856 ई.)

रणजीत सिंह के जीवनकाल में ही उसके राज्य के विस्तार को अंग्रेज़ों ने रोक दिया था। सतलज के पूर्व के सिक्ख राज्य अंग्रेज़ों के प्रभाव में आ गए थे। अंग्रेज़ों ने

एक सिक्ख सैनिक

1843 ई. में सिंध पर कब्ज़ा कर लिया था। अफ़गानिस्तान में भी अंग्रेज़ों की दिलचस्पी बढ़ गई थी। इसलिए पंजाब के शक्तिशाली राज्य के साथ अंग्रेज़ों का मुकाबला होना स्वाभाविक था।

रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद पंजाब में राजनीतिक अस्थिरता आ गई। सेना में सिक्खों के खालसा नामक समूह का प्राधान्य हो गया और उसने राज्य के मामलों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। विभिन्न गुटों में शत्रुता भी बढ़ने लगी। ऐसी स्थिति में खालसा राजगद्दी के बारे में भी फैसला करने लगे। अंग्रेज़ों ने पंजाब की सीमाओं पर अपनी सेना का जमाव शुरू कर दिया। रणजीत सिंह के बाद उसका बेटा दलीप सिंह गद्दी पर बैठा था, मगर उसकी मां रानी जिंदन अपने कृपापात्र अफसरों की सहायता से राजकाज करती थी। उन कृपापात्र अफसरों ने एक तरफ अंग्रेज़ों के साथ सांठ-गांठ की, तो दूसरी तरफ खालसा को अंग्रेज़ों पर आक्रमण करने के लिए उकसाया। 1845 ई. में पहला अंग्रेज़-सिक्ख युद्ध शुरू हुआ। खालसा की हार के साथ युद्ध समाप्त हुआ। पंजाब ब्रिटिश संरक्षण में आ गया, मगर दलीप सिंह गद्दी पर बना रहा। अंग्रेज़ों ने गुलाब सिंह को जम्मू और कश्मीर का महाराजा बना दिया। उन्होंने पंजाब के प्रशासन के सिक्ख और अंग्रेज़ अफ़सर भी नियुक्त किए।

सन् 1848 ई. में पंजाब में अंग्रेज़ों के खिलाफ कई विद्रोह हुए और उसके बाद दूसरा अंग्रेज़-सिक्ख युद्ध हुआ। पंजाब की सेनाएं बहादुरी से लड़ी, मगर हार गई। पंजाब को अंग्रेज़ों ने अपने राज्य में मिला लिया। इस तरह रणजीत सिंह द्वारा स्थापित शक्तिशाली राज्य का अंत हो गया।

गुलाब सिंह

द्वितीय अंग्रेज़-सिक्ख युद्ध का एक दृश्य

पंजाब पर जिस समय अंग्रेज़ों का कब्ज़ा हुआ, उस समय डलहौज़ी गवर्नर-जनरल था। उसके कार्यकाल (1848 से 1856 ई. तक) में भारत में अंग्रेज़ों की प्रभुसत्ता स्थापित हो गई।

ब्रिटिश प्रभुसत्ता दो प्रमुख तरीकों से स्थापित हुई। वे दो तरीके थे-सीधे कब्ज़ा कर लेना और भारतीय राज्यों पर सहायता संधि थोपना, जिसका अंत भी अक्सर कब्ज़ा करने में ही होता था। पंजाब और सिंध को सीधे ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया था। 1865 ई. में अवध के नवाब को गद्दी से हटाकर कलकत्ता में निर्वासित कर दिया और अवध को अंग्रेज़ों ने अपने राज्य में मिला लिया। मगर अंग्रेज़ों ने सहायता व्यवस्था का ही ज्यादा इस्तेमाल किया। इस तरीके के अनेक फायदे थे। भारतीय शासक ब्रिटिश फ़ौजों का खर्च उठाते थे और अंग्रेज़ों पर उन राज्यों के प्रशासन या कानून तथा व्यवस्था की कोई ज़िम्मेदारी नहीं थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत आश्रित राज्यों की जनता को बड़े कष्ट झेलने पड़े। खर्च देकर ब्रिटिश सैनिक सहायता प्राप्त करने के बाद भारतीय शासक निश्चिंत हो जाते थे और अपने राज्यों के प्रशासन पर कोई ध्यान नहीं देते थे। ब्रिटिश सेना का खर्च देने के लिए किसानों पर भारी कर लादे गए। स्थानीय अधिकारियों और ज़मीदारों ने लूटखसोट कर काफी संपत्ति जोड़ ली। फलत: इन राज्यों में वित्तीय संकट पैदा

हो गया और कानून तथा व्यवस्था खत्म हो गई। जिस राज्य में भी ऐसी स्थिति पैदा हुई उसे अंग्रेज़ों ने अपने राज्य मे मिला लिया। इस तरह सहायता तथा व्यवस्था ने भारतीय राज्यों को आगे चलकर ब्रिटिश राज में मिलाए जाने की स्थिति पैदा कर दी।

भारतीय राज्यों को हड़पने के अन्य बहाने भी ढूंढ निकाले गए। 'विलय नीति' ऐसा ही एक बहाना या तरीका था। डलहौज़ी के कार्यकाल में यह तरीका बार-बार अपनाया गया। भारत में प्राचीन काल से यह प्रथा रही है कि यदि किसी व्यक्ति का अपना कोई पुत्र नहीं होता था तो वह अपने या अपनी पत्नी के निकट के किसी रिश्तेदार को गोद ले लेता था और वही उसका उत्तराधिकारी होता था। जब भारतीय शासक अंग्रेज़ों पर आश्रित हो गए, तब गोद लिए हुए पुत्र को उत्तराधिकारी स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार अंग्रेज़ों ने अपने हाथों में ले लिया। अंग्रेज़ जब ऐसे उत्तराधिकारी को अस्वीकार करते, तब वे स्वपुत्रहीन उस शासक के राज्य को ब्रिटिश राज में मिला लेते।

डलहौज़ी के कार्यकाल में आश्रित भारतीय राज्यों के अनेक शासक बिना पुत्र के मर गए, तो 'विलय नीति' को कड़ाई से लागू किया गया और उनके राज्यों को ब्रिटिश राज में मिला लिया गया। ऐसे राज्यों में झांसी, नागपुर और सतारा शामिल थे। निर्वासित पेशवा को मिलने वाली पेंशन उनके गोद लिए पुत्र नाना साहब को नहीं दी गई। इसी तरह, कर्नाटक के नवाब की मृत्यु के बाद उसको मिलने वाली पेंशन उसके रिश्तेदारों को नहीं दी गई।

लगभग 1865 ई. तक अंग्रेज़ों की भारत विजय पूर्ण हो गई और भारत में ब्रिटिश साम्राज्य दृढ़ता से स्थापित हो गया। देश के बड़े भूभागों पर अंग्रेज़ों का सीधा शासन लागू हो गया था। कई ऐसे क्षेत्र थे जिन पर कहने के लिए तो भारतीय शासकों का अधिकार था, मगर वे अंग्रज़ों पर पूर्णतः आश्रित थे। पुरानी राजनीतिक व्यवस्था नष्ट हो गई और उसके साथ ही उस तरह के झगड़ों तथा संघर्षों का भी अंत हो गया जिस तरह के अठारहवीं सदी के भारत में होते थे। भारत में ब्रिटिश प्रभुसत्ता स्थापित हो गई।

जैसे-जैसे अंग्रेज़ों की सत्ता बढ़ती गई, वैसे-वैस उनके खिलाफ असंतोष भी बढ़ता गया। यह असंतोष जल्दी ही 1857 ई. के व्यापक विद्रोह में प्रकट हुआ। इसी बीच अंग्रज़ों ने एक नई प्रशासन-व्यवस्था स्थापित की और कई परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों का अध्ययन तुम आगे चलकर करोगे। यहां यह जानना उपयोगी होगा कि भारत में पुरानी राजनीतिक व्यवस्था का पतन क्यों हुआ।

1857 ई. में भारत
भारत की वर्तमान बाह्य सीमा
काबुल
पेशावर
कश्मीर
पंजाब
पटियाला
दिल्ली
राजपूताना
जयपुर
आगरा
अवध
नेपाल
जोधपुर
अजमेर
ग्वालियर
लखनऊ
पटना
सिंध
मालवा
बिहार
असम
बंगाल
इंदौर
बड़ौदा
चंदरनगर (फ्रां.)
कलकत्ता
बर्मा
दीव (पुर्त.)
सूरत
दमन (पुर्त.)
नागपुर
उड़ीसा
कटक
पूना
निज़ाम
उत्तरी सरकार
सतारा
हैदराबाद
यानम (फ्रां.)
मसूलीपट्टम
मैसूर
मद्रास
तेल्लीचेरी (फ्रां.)
माहे (फ्रां.)
पांडिचेरी (फ्रां.)
कालीकट
कारीकल (फ्रां.)
कोचीन
ट्रावनकोर
निर्देश
अंग्रेज़ी क्षेत्र
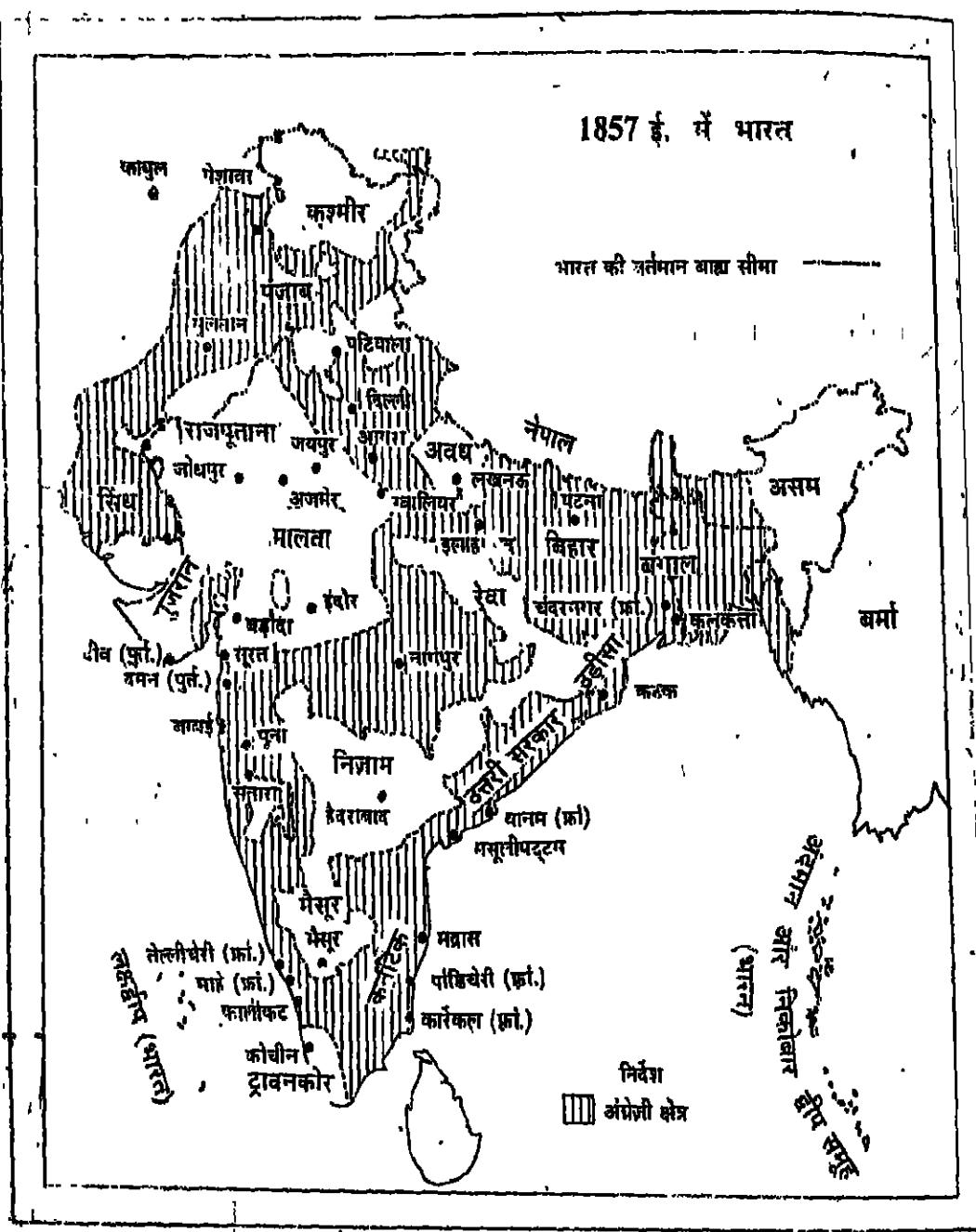
अंग्रेज़ों की सफलता के कारण

अध्याय 2 में तुम पढ़ चुके हो कि जिन भारतीय राज्यों को अंग्रेज़ों ने अपने राज में मिला लिया था उनका उदय मुग़ल साम्राज्य के टूटने से हुआ था। स्वतंत्र हो जाने पर भी ये राज्य महज़ दिखावे के लिए मुग़ल साम्राज्य की प्रभुसत्ता को मानते रहे। दिल्ली पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो जाने पर यह संबंध भी समाप्त हो गया। मगर जिन नए राज्यों का उदय हुआ था उनमें कोई समानता नहीं थी। हर राज्य दूसरों के इलाके हड़प कर अपना विस्तार करना चाहता था। एकता के ऐसे अभाव के कारण भारतीय राज्य आसानी से ईस्ट इंडिया कंपनी के शिकार हो गए। कंपनी के अफ़सरों का अपना एक लक्ष्य था, इसलिए उनमें एकता थी। यहां तक कि अंग्रेज़ों की अति दूर की चौकियां भी एक केंद्रीय नेतृत्व के अधीन थीं। इस तरह के केंद्रीय नियंत्रण ने अंग्रेज़ों को 1757 ई. से भारत के राजनैतिक मामलों में एक केंद्रीय शक्ति बना दिया।

परंतु इस केंद्रीय शक्ति को तभी सफलता मिली जब किसी भारतीय राज्य की आंतरिक कमज़ोरियां उभर कर सामने आईं। इस तरह, जिस राज्य में भी एकता के अभाव की परिस्थितियां पैदा हुईं उसने अपनी स्वतंत्रता खो दी। ऐसी परिस्थितियां पैदा करने में अक्सर अंग्रेज़ों ने भी योग दिया। तुम पहले पढ़ चुके हो कि ऐसी परिस्थितियों के बंगाल में क्या परिणाम हुए। यह अंग्रेज़ों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति थी। ब्रिटिश अफ़सरों ने इस नीति का बड़ी कुशलता और सफलता से पालन किया।

'फूट डालो और शासन करो' की नीति भारतीय राज्यों के पतन को एक महत्त्वपूर्ण और तात्कालिक कारण थी, मगर यह बुनियादी कारण नहीं थी। वास्तविक कारण था - स्थिर और कुशल राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करने में भारतीय शासकों का असमर्थ होना। ऐसी व्यवस्था स्थापित करके ही वे प्रजा की सहानुभूति प्राप्त कर सकते थे। मराठों के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। पानीपत की लड़ाई में मराठा सेना की करारी हार होने पर भी उन्होंने अपनी शक्ति फिर से स्थापित कर ली थी। मगर मराठा सेनाओं के नेता एक-दूसरे के साथ लगातार झगड़ों में उलझे रहे। इससे अंग्रेज उन्हें एक-एक कर हराने में सफल रहे। पंजाब में रणजीत सिंह ने एक शक्तिशाली राज्य स्थापित किया। उसने हिंदुओं, मुसलमानों और सिक्खों को एकसूत्र में बांधा। मगर वह एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था नहीं कर पाया जो उसके बाद भी उसके राज्य को टिकाए रखती। उसकी मृत्यु के बाद उसका राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, और तब 'फूट डालो और शासन करो' की ब्रिटिश नीति

सहज सफल हो गई। आंतरिक कमज़ोरियों और पड़ोसी राज्यों के आक्रमण के भय के कारण अनेक राज्यों के शासक अंग्रेज़ों के संरक्षण में चले गए। यह संरक्षण उन्हें सहायता व्यवस्था के अंतर्गत मिला। उदाहरण के लिए, हैदराबाद के मामले में ऐसा ही हुआ।

भारतीय राज्यों की कमज़ोरियों को उनकी अर्थव्यवस्था और टेक्नालॉजी के पिछड़ेपन ने और भी अधिक उभारा। इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति होने के बाद यह पिछड़ापन अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण कारण बनता गया। वारेन हेस्टिंगज़ के समय में मैसूर या मराठों की सेनाएं कंपनी की सेनाओं के समान ही शक्तिशाली थीं। मगर अठारहवीं सदी के अंत तक ब्रिटिश सेनाओं को बेहतर तोपखाना भी मिल गया। औद्योगिक क्रांति के कारण ब्रिटेन की समूची सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था बदल गई थी और संसार में उसकी ताकत बहुत अधिक बढ़ गई थी। ब्रिटेन की बढ़ती हुई शक्ति के कारण भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार को रोकना आसान नहीं था। भारतीय राज्यों के आपसी झगड़ों और आंतरिक कमजोरियों ने अंग्रेज़ों का काम आसान कर दिया। 1856 ई. तक भारत पूरी तरह गुलाम बन गया।

अभ्यास

1. पारिभाषिक शब्द

फैक्टरी– इसी नाम से भारत में यूरोप की कंपनियों के व्यापार केंद्र जाने जाते थे। यह नाम अंग्रेज़ी शब्द "फैक्टरस" से निकला था जिसका अर्थ व्यापारिक कंपनियों के अफ़सरों से था। जिन स्थानों पर खरीद-बिक्री के लिए फैक्टरस रखे जाते थे उन्हें फैक्टरी कहा जाता था।

इज़ारेदार– किसी इलाके के ज़मींदार या जागीरदार से जब कोई व्यक्ति उसके इलाकों के किसानों से लगान वसूल करने का अधिकार प्राप्त कर लेता था और उसके बदले में एक निश्चित रकम देने का वादा करता था तो उस व्यक्ति को इजारेदार कहते थे।

आमतौर पर इज़ारेदारों के बीच लगान वसूली के अधिकार लेने के लिए होड़ लगी रहती थी। सबसे बड़ी रकम देने वाला ही लगान-वसूली का अधिकार पाता था। इज़ारेदार स्वयं भारी मुनाफा कमाते थे। अठारहवीं शताब्दी के दौरान यह व्यवस्था काफी प्रचलित थी। इस व्यवस्था ने किसानों के उत्पीड़न में वृद्धि की।

दीवानी— राजस्व वसूल करने वाला विभाग।

सहायक व्यवस्था— ब्रिटिश गवर्नर जनरल वेल्ज़ली द्वारा लागू की गई संधि व्यवस्था जिसके अंतर्गत अंग्रेज़ भारतीय राज्यों से समझौता कर उनके मामलों में दखल देने लगे। उन राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल न करके भी उन्हें अपनी अधीनता में रखने में अंग्रेज़ सफल हो गए।

विलय नीति— इस सिद्धांत के ज़रिए ब्रिटिश सरकार ने उन भारतीय शासकों के इलाकों को हड़प लिया जिनकी मृत्यु के बाद कोई स्वाभाविक उत्तराधिकारी नहीं रहा।

2. **निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो:**
   1. अठारहवीं शताब्दी के दौरान भारत में अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों के बीच झगड़े के क्या कारण थे?
   2. सिराजुद्दौला को अंग्रेज़ों ने कैसे आसानी से हरा दिया?
   3. अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कंपनी और बंगाल के नवाबों के बीच झगड़ों में जगत-सेठ-परिवार की क्या भूमिका थी?
   4. अंग्रेज़ कंपनी ने मीर कासिम को बंगाल का नवाब बनाया था किंतु बाद में कम्पनी उसके ख़िलाफ क्यों हो गई?
   5. बक्सर की लड़ाई के क्या परिणाम हुए?
   6. भारत में हस्तक्षेप न करने की ब्रिटिश नीति का क्या मतलब था? अंग्रेज़ों ने जब-तब यह नीति क्यों अपनाई?
   7. अठारहवीं शताब्दी के अंत से लेकर 1849 ई. तक पंजाब के राजनीतिक इतिहास में क्या मुख्य परिवर्तन हुए?
   8. उन विभिन्न तरीकों के संबंध में समझाओ जिनके द्वारा अंग्रेज़ों ने भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना की ओर उसका विस्तार किया।

9. मराठों के इलाकों को अंग्रेज़ों ने कैसे जीत लिया?
10. क्यों और किन परिस्थितियों में भारतीय शासक अंग्रेज़ों के साथ सहायक संधियों में शामिल हो गए?
11. अंग्रेज़ों और मैसूर के राजाओं के बीच हुए झगड़ों पर प्रकाश डालो।
12. 1772 ई. में वारेन हेस्टिंग्ज़ के गर्वनर बनने के समय भारत की राजनीतिक स्थिति कैसी थी?

3. नीचे कुछ कथन दिए गए हैं। जो सही हों उनके आगे (√) निशान और जो ग़लत हों उनके आगे (×) निशान लगाओ :

1. यूरोप के व्यापारी भारत में अपना माल बेचने और बदले में यहां से सोना-चांदी लेने आए थे।
2. अंग्रेज़ और फ्रांसीसी कम्पनियाँ भारत में तभी लड़ती थी जब यूरोप में इंग्लैंड और फ्रांस के बीच लड़ाई होती थी।
3. यूरोप की कम्पनियों ने अपना स्वार्थ साधने के लिए भारत के राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करना शुरू किया।
4. मीर कासिम प्लासी की लड़ाई के बाद बंगाल का नवाब बना।
5. मुग़ल बादशाह और अवध तथा बंगाल के नवाबों ने इलाहाबाद में ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ संधि पर हस्ताक्षर किए।
6. अंग्रेज़ कम्पनी चहाती थी कि उसे भारतीय सौदागरों के समान व्यापारिक अधिकार मिलें।

4. निम्नलिखित घटनाओं को कालक्रम में रखो:

अंग्रेज़ ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल की दीवानी की प्राप्ति, प्लासी की लड़ाई, यूरोप में सात वर्षीय युद्ध, चंदरनगर पर कब्ज़ा, अड्यार में अनवरुद्दीन की हार, डुप्ले को फ्रांस वापस बुलाया जाना, बक्सर की लड़ाई, सिराजुद्दौला की मृत्यु।

5. 1765 और 1856 ई. के बीच की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के संबंध में कुछ कथन नीचे दिए गए हैं। प्रत्येक कथन के आगे वारेन हेस्टिंग्ज़, वेल्ज़ली, कार्नवालिस, लार्ड हेस्टिंग्ज़, और डलहौजी में से उसका नाम लिखो जिसके शासन-काल में घटना घटी हो।

- तीसरा अंग्रेज़ मैसूर युद्ध।
- पहला अंग्रेज़ मैसूर युद्ध।
- टीपू सुल्तान की हार और मृत्यु।
- पिंडारियों के खिलाफ लड़ाई।
- बसीन की संधि।
- रूहेलों के खिलाफ लड़ाई।
- दूसरा अंग्रेज़-सिक्ख युद्ध।
- अवध को ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल करना।

6. करने के लिए कार्य

क. भारत के मानचित्र पर निमनलिखित स्थानों को दिखाओ:
पाडिचेरी, हैदराबाद, मद्रास, आर्काट, कलकत्ता, बक्सर, प्लासी, चंदरनगर। यह भी दिखाओं कि किन शहरों में फोर्ट सेंट जार्ज और फोर्ट विलियम बने थे।

ख. भारत के नक्शे पर उन इलाकों को दिखाओ जो अंग्रेज़ ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रभाव में आए।

ग. अंग्रेज़ों ने अपने भारतीय साम्राज्य में कतिपय इलाकों को मिला लिया। भारतीय राज्यों के साथ सहायक संधि के द्वारा कतिपय अन्य इलाकों पर उनका नियंत्रण हो गया। 1818 ई. में सीधे तौर पर और अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेज़ों के नियंत्रण में जो इलाके थे उनकी सूची बनाओ। उन्हें भारत के मानचित्र पर दो भिन्न रंगों में दिखाओ।

अध्याय 4

ब्रिटिश शासन का प्रशासनिक ढांचा, नीतियां और उनका प्रभाव (1765-1857)

क. प्रशासनिक ढांचा

तुम देख चुके हो कि सारे भारत पर अधिकार करने में अंग्रेज़ों को सौ साल से भी कम समय लगा। जिन इलाकों पर अंग्रेज़ों का सीधा शासन स्थापित हुआ उन्हें तीन प्रेसिडेंसियों (प्रांतों) में बांटा गया-बंगाल, मद्रास और बम्बई। अंग्रेज़ों ने जिन नए इलाकों पर कब्ज़ा किया उन्हें इन प्रेसिडेंसियों में शामिल किया गया। 1853 ई. में बिहार के पश्चिम के क्षेत्र को बंगाल प्रेसिडेंसी से अलग करके उसे प्रशासन की एक पृथक इकाई बना कर पश्चिमोत्तर प्रांत का नाम दिया गया। बाद में पंजाब को एक नई इकाई बनाया गया।

शुरू में ब्रिटिश इलाकों का प्रशासन पूर्णतः कंपनी के हाथों में था। मगर कालांतर में इस पर ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण स्थापित हो गया।

कंपनी के कर्मचारियों द्वारा कुशासन

शुरू में कंपनी के अधिकारी ही प्रशासन के अधिकारी थे। उनका काम राजस्व वसूल करना था। इसके अलावा वे कुछ अन्य असैनिक कार्य भी करते थे। मगर कंपनी के अफ़सर अयोग्य प्रबंधक थे। उन्हें भारतीय प्रशासन के तरीकों और कठिनाइयों की जानकारी नहीं थी। इससे भी खतरनाक बात थी, पैसों के उनका लालच। कंपनी को धनी बनाने और अपने लिए धन बटोरने के लिए उन्होंने बंगाल को खूब लूटा-खसोटा। बंगाल लगभग बरबाद हो गया। किसानों और ज़मींदारों से उन्होंने स्थानीय छोटे व्यापारियों, और दस्तकारों को अपना माल कम कीमतों पर बेचने के लिए बाध्य किया। इन सब कारणों से लोग राजस्व वसूल करने वाले अधिकारियों को परदेसी यमदूत मानने लगे।

स्थिति का फायदा उठाकर कंपनी के अफ़सरों ने खूब निजी धन जमा किया। नौकरी

से अवकाश लेकर इंग्लैंड लौटने पर वे ऐश आराम का जीवन गुज़ारने लगे। इंग्लैंड के लोग उन्हें "नवाब" कह कर पुकारते थे। मगर इधर भारत में आम जनता का जीवन अधिकाधिक दुःखमय होता गया। विपत्ति के दिनों के लिए वे कुछ भी बचा रखने के लिए असमर्थ हो गए थे। इसके परिणाम उन्हें 1770-71 ई. के अकाल में भुगतने पड़े। अकाल में बंगाल के लगभग एक-तिहाई लोग मर गए। मगर भारतीयों के जिस एक समुदाय ने कंपनी के एजेंटों के रूप में काम किया वे मालामाल हो गए।

रेगुलेटिंग एक्ट : 1773 ई.

कुशासन के कारण बंगाल में बड़ी अव्यवस्था पैदा हो गई थी। अतः ब्रिटिश संसद को मज़बूरन ईस्ट इंडिया कंपनी के मामलों की जांच करनी पड़ी। पता चला कि कंपनी के बड़े अधिकारियों ने बड़े पैमाने पर गड़बड़ियां की हैं। उस समय कंपनी वित्तीय संकट में थी और उसने ब्रिटिश सरकार से 10 लाख पौंड कर्ज़ मांगा था। ब्रिटिश सरकार ने महसूस किया कि भारत में कंपनी की गतिविधियों पर नियंत्रण रखना जरूरी है। इसलिए 1773 ई. में रेगुलेटिंग एक्ट (नियंत्रण कानून) बना। भारत के मामलों में ब्रिटिश सरकार का यह पहला सीधा हस्तक्षेप था। कंपनी के हाथों से राजनीतिक सत्ता छीन लेने के उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार ने यह पहला कदम उठाया था। कंपनी के निदेशकों (डायरेक्टरों) से कहा गया कि वे सैनिक, असैनिक तथा राजस्व संबंधी सारे कागज़-पत्र ब्रिटिश सरकार के सामने रखा करें।

एक्ट के अंतर्गत एक नया प्रशासनिक ढांचा खड़ा करने की भी विशेष व्यवस्था की गई। कंपनी की कलकत्ता की फ़ैक्टरी का अध्यक्ष बंगाल का गवर्नर होता था। अब उसे कंपनी के सभी भारतीय क्षेत्रों का गवर्नर-जनरल बनाया गया। बम्बई और मद्रास के गवर्नर उसके अधीन काम करने लगे। गवर्नर-जनरल की मदद के लिए चार सदस्यों की एक परिषद् (कौंसिल) बनी। न्याय-व्यवस्था के लिए एक्ट के अंतर्गत कलकत्ता में एक सर्वोच्च न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) स्थापित करने की व्यवस्था हुई। कंपनी के अफसरों की धोखाधड़ियों को रोकने के लिए एक्ट के अनुसार प्रत्येक अफसर के लिए आवश्यक हो गया कि वह इंग्लैंड वापस लौटते समय अपनी सम्पत्ति का ब्यौरा दे और बताए कि उसने सम्पत्ति कैसे प्राप्त की। मगर रेगुलेटिंग एक्ट की खामियां जल्दी ही स्पष्ट हो गईं। प्रथम गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्ज़ और उसकी परिषद् के सदस्यों के बीच लगातार झगड़े होते रहे। सर्वोच्च न्यायालय भी ठीक से काम नहीं कर सका, क्योंकि उसके अधिकार और परिषद् के साथ उसके संबंध स्पष्ट नहीं थे। यह भी स्पष्ट नहीं था कि उसे कौन-से

कानून – भारतीय या अंग्रेज़ी – का अनुसरण करना चाहिए। इस न्यायालय ने मुर्शिदाबाद के भूतपूर्व दीवान महाराजा नंद कुमार को जालसाज़ी के अभियोग में मौत की सज़ा सुनाई थी। उस समय ब्रिटिश कानून के अनुसार जालसाज़ी के लिए मृत्युदंड दिया जा सकता था। मगर नंद कुमार ब्राह्मण था, और ऐसे अपराध के लिए भारत में ब्राह्मण को मृत्युदंड नहीं दिया जा सकता था। इस मामले से बंगाल में बड़ी सनसनी फैली। इस तरह, रेगुलेटिंग एक्ट को लागू करने पर भी ब्रिटिश सरकार का कम्पनी के ऊपर नियंत्रण अस्पष्ट बना रहा।

पिट का इंडिया एक्ट : 1784 ई.

ऊपर उल्लिखित खामियों को खत्म करने के लिए और कंपनी के भारतीय क्षेत्रों में प्रशासन को कुशल तथा ज़िम्मेदार बनाने के लिए अगले दशक के दौरान काफी जांच–पड़ताल की गई और ब्रिटिश संसद द्वारा कई उपाय किए गए। इन उपायों में सबसे महत्त्वपूर्ण था पिट का इंडिया एक्ट। यह कानून 1784 ई. में बना। उस समय विलियम पिट (कनिष्ट) ब्रिटेन का प्रधान मंत्री था। इस कानून के अंतर्गत ब्रिटेन में एक नियंत्रण परिषद् (बोर्ड आफ कंट्रोल) की स्थापना हुई। इस नियंत्रण परिषद् के ज़रिए ब्रिटिश सरकार भारत में कम्पनी के सैनिक, असैनिक तथा राजस्व संबंधी मामलों पर पूर्ण नियंत्रण रख सकती थी। परंतु व्यापार पर कंपनी का एकाधिकार ज्यों–का–त्यों कायम रहा। कंपनी अपने अधिकारियों की नियुक्ति और बरख़ास्तगी अपनी इच्छानुसार कर सकती थी। इस प्रकार ब्रिटिश भारत पर दोहरी शासन-व्यवस्था स्थापित हो गई ब्रिटिश सरकार और कंपनी, दोनों की। इस कानून और आगे के कानूनों ने भारत पर शासन करने लिए गवर्नर–जनरल के हाथ काफी मज़बूत कर दिए। उसे महत्त्वपूर्ण मामलों में अपनी परिषद् के सदस्यों की सलाह न मानने का अधिकार दिया गया। मद्रास और बम्बई

18वीं शताब्दी के अंत में कलकत्ता में डैनियल्ज द्वारा बनाया गया चितपुर मार्ग का चित्र

कलकत्ता का राजभवन

की प्रेसिडेंसियों को उसके अधीन कर दिया गया। उसे भारत स्थित सभी ब्रिटिश फ़ौजों का कंपनी तथा ब्रिटिश सरकार, दोनों की ही फ़ौज़ों का मुख्य सेनापति बनाया गया।

1784 ई. के एक्ट में प्रस्तुत किए गए सिद्धांत भारत में ब्रिटिश प्रशासन के आधार बने। उस समय से गवर्नर-जनरल भारत का वास्तविक शासक बन गया। उसके ऊपर ब्रिटिश संसद का ही नियंत्रण था। गवर्नर-जनरल सेना, पुलिस, सरकारी नौकरों तथा न्यायपालिका के जरिए शासन चलाता था। इन एजेंसियों के काम थे-भारत में अंग्रेज़ी राज की रक्षा व विस्तार करना, आंतरिक कानून व व्यवस्था बनाए रखना, राजस्व वसूल करना, आम प्रशासन संभालना और न्याय की व्यवस्था करना।

ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना के भारतीय सैनिक

कंपनी की फ़ौज में भारतीय सिपाहियों की संख्या बहुत अधिक थी। ब्रिटिश राज के विस्तार के साथ-साथ फ़ौज का भी विस्तार होता गया। जिस समय भारत की विजय पूर्ण

हो गई, उस समय सिपाहियों की संख्या लगभग 2,00,000 पर पहुंच गई थी। कंपनी ने जो फ़ौज खड़ी की थी वह अनुशासित और वफादार थी। सिपाहियों को नियमित वेतन दिया जाता था। उन्हें आधुनिक हथियारों का इस्तेमाल करने की शिक्षा दी गई थी। भारतीय शासकों द्वारा रखे गए सैनिकों को आमतौर पर ये सुविधाएं उपलब्ध नहीं थीं। इसके अलावा, कंपनी की फ़ौज को लगातार सफलताएं मिलते जाने के कारण काफी सम्मान प्राप्त हो गया था। इस कारण भी रंगरूट कंपनी की फ़ौज की ओर आकर्षित होते थे। कंपनी की फ़ौज के अलावा भारत में अंग्रेजों के भी सैन्यदल थे।

कंपनी के भारतीय सैन्यदलों ने अपनी कार्यक्षमता के बारे में भले ही ख्याती अर्जित की हो, मगर वे एक उपनिवेशवादी शक्ति के केवल भाड़े के सिपाहियों के अलावा और कुछ नहीं थे। उनमें एक राष्ट्रीय सेना के सिपाहियों की तरह स्वाभिमान की भावना नहीं थी। तरक्की करने के ज़्यादा रास्ते भी उनके लिए खुले नहीं थे। ये बातें कभी-कभी उन्हें विद्रोह करने के लिए उकसाती थीं। ऐसा एक सबसे बड़ा विद्रोह 1857 ई. में हुआ, जिसके बारे में तुम अध्याय 5 में पढ़ोगे।

पिट के इंडिया एक्ट की एक धारा में कहा गया था कि अंग्रेज़ अब नए इलाके नहीं जीतेंगे। मगर इस धारा का किंचित् ही पालन हुआ। ब्रिटेन के आर्थिक हितों के लिए नए इलाकों को जीतना आवश्यक हो गया। इंग्लैंड के कारखानों में बनने वाले पक्के माल के लिए नए बाजार की जरूरत थी। कारखानों के लिए कच्चे माल के नए स्रोत खोजने भी आवश्यक थे। इन आवश्यकताओं के लिए जीते गए इलाकों में कानून व व्यवस्था भी जल्दी-से-जल्दी स्थापित करना ज़रूरी था। कानून और व्यवस्था स्थापित करने के लिए एक नियमित पुलिस दल का संगठन शुरू हुआ। कार्नवालिस के कार्यकाल में इसे सुगठित रूप दिया गया। 1791 ई. में कलकत्ता के लिए पुलिस सुपरिंटेंडेंट नियुक्त हुआ। जल्दी ही अन्य नगरों के लिए कोतवाल नियुक्त किए गए। ज़िलों को थानों में विभाजित किया गया। थाने की ज़िम्मेदारी दरोगा को सौंपी गई। परंपरागत ग्राम-रक्षक को चौकीदार कहा गया। बाद में ज़िला पुलिस सुपरिंटेंडेंट का पद बना। पुलिस ने हालांकि कानून और व्यवस्था स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया, मगर पुलिस कभी लोकप्रिय नहीं हो सकी। भ्रष्टाचार और जनता को तंग करने के लिए पुलिस बदनाम हो गई। हालांकि पुलिस देश भर में सरकारी सत्ता का प्रतीक बन गई, फिर भी निचले स्तर के पुलिस कर्मचारियों को बहुत कम वेतन मिलता था। सेना की तरह पुलिस दल में भी ऊंचे पद यूरोपवासियों के लिए सुरक्षित थे।

सिविल सर्विस का संगठन

ब्रिटिश प्रशासन के लिए "मज़बूत चौखटे" की भूमिका सिविल सर्विस ने अदा की। कंपनी के वाणिज्य अधिकारी भ्रष्ट थे। वे प्रशासन की ज़िम्मेदारी संभालने में असफल रहे। ऐसी हालत में क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्ज़ को कुछ नए कदम उठाने पड़े। मगर भारत में सिविल सर्विस की स्थापना का वास्तविक श्रेय कार्नवालिस को है। उसने प्रशासन की वाणिज्य तथा राजस्व शाखाओं को अलग किया, प्रशासन के कर्मचारियों का उपहार स्वीकार करना बंद करवा दिया और उनके लिए अच्छे वेतनों की व्यवस्था की। बाद में सिविल सर्विस के सदस्य संसार में सबसे ऊंची तनख्वाह पाने वाले पदाधिकारी हो गए।

सिविल सर्विस प्रभावशाली पद और ऊंचा वेतन प्रदान करती थी, इसलिए इंग्लैंड के खानदानी परिवारों के तरुण इसके लिए लालायित रहते थे। लंबे समय तक कंपनी के डायरेक्टर ही सिविल सर्विस के सदस्यों को नियुक्त करते थे। इसलिए कंपनी की सिविल सर्विस में इंग्लैंड के कुछ प्रभावशाली परिवारों का वर्चस्व हो गया। नियुक्ति की यह व्यवस्था 1853 ई. तक चली। उसके बाद प्रतियोगिता-परीक्षा की व्यवस्था शुरू हुई।

भारतीयों को सिविल सर्विस के सदस्य बनने की अनुमति नहीं थी। दरअसल, 1793 ई. में यह नियम ही बना दिया गया था कि 500 पौंड या इससे अधिक वेतन पाने वाले पदों पद भारतीयों की नियुक्ति नहीं की जाएगी। न्याय-व्यवस्था, इंजीनियरिंग तथा अन्य सेवाओं के लिए भारतीयों पर इसी तरह का प्रतिबंध लगाया गया था। न केवल ईस्ट इंडिया कंपनी, बल्कि ब्रिटिश समाज का समूचा उच्च वर्ग अपने भारतीय उपनिवेश से लाभान्वित होना चाहता था। वे नहीं चाहते थे कि भारतीय उनके प्रतिद्वंद्वी बने।

प्रशासन की ज़िम्मेदारियां बढ़ती गईं, तो यह महसूस किया गया कि सिविल सर्विस के सदस्यों को भारत की शासन-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, भाषाओं तथा परंपराओं से भलीभांति परिचित होना चाहिए। सिविल सर्विस में प्रवेश पाए तरुणों को इन विषयों की शिक्षा दने के लिए 1801 ई. में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालेज शुरू हुआ। बाद में इसी प्रयोजन से इंग्लैंड में ईस्ट इंडिया कालेज की स्थापना हेलीबरी में हुई।

ब्रिटिश भारत को कमो-बेश पहले की सरकारों की तरह ही ज़िलों में बांटा गया। हर ज़िले में राजस्व वसूली के लिए एक कलेक्टर, कानून व व्यवस्था बनाए रखने के लिए एक मैजिस्ट्रेट और न्याय-व्यवस्था के लिए एक जज था। सामान्यतः कलेक्टर ज़िले का प्रमुख होता था। इन सब पदों पर सिविल सर्विस के सदस्यों को ही नियुक्त किया जाता था। उन्हें व्यापक अधिकार मिले हुए थे और उन्होंने धीरे-धीरे कड़े परिश्रम की परम्परा कायम की। मगर वे आम भारतीय समाज के

नज़दीक कभी नहीं आए। उनका सरोकार उनके अधीन काम करने वाले कर्मचारियों से ही था। सिविल सर्विस के सदस्यों का मुख्य उद्देश्य था ब्रिटिश हितों की रक्षा करना। इसलिए भारतीयों के नज़दीक जाने में उन्हें कठिनाई हुई।

न्याय-व्यवस्था

हर देश में सरकार और प्रशासन के लिए निश्चित नियम व कानून होते हैं। शासक ओर शासित, दोनों के लिए इनका पालन करना आवश्यक होता है। सरकार देखती है कि नियमों और कानूनों का कोई उल्लंघन न करें। वह न्यायलयों की स्थापना करती है। न्यायालय नियम तोड़ने वालों को उचित दंड देते हैं। अंग्रेज़ों ने कुछ समय तक भारत में प्रचलित कानूनों को ही चलाया। भारतीय परम्परा के अनुसार विवाह, उत्तराधिकार आदि से संबंधित कानून रीति-रिवाजों तथा धर्मशास्त्रों पर आधारित थे। राजस्व और अपराधों से संबंधित मुकद्दमों का फैसला शासक या उनके द्वारा नियुक्त न्यायाधीश करते थे। अंग्रेज़ों ने इस व्यवस्था में दख़ल देना ठीक नहीं समझा। 1774 ई. में स्थापित सुप्रीम कोर्ट के अंग्रेज़ जजों ने कुछ समय तक अंग्रेज़ी कानून लागू किए। मगर इसे न तो कंपनी की सरकार ने पसंद किया, न ही भारतीय जनता ने। 1781 ई. के एक एक्ट के ज़रिए अंग्रेज़ी कानून के प्रयोग को सिर्फ अंग्रेज़ों तक सीमित कर दिया गया। मगर बदली हुई परिस्थितियों में भारतीय प्रजा के लिए सुनिश्चित कानूनों की आवश्यकता महसूस की गई।

इस आवश्यकता के लिए 1793 ई. में बंगाल रेगुलेशन एक्ट बना। इसके अनुसार ही न्यायालयों में भारतीयों के निजी और मालिकी अधिकारों के बारे में फैसले होने लगे। इस रेगुलेशन में काफी हद तक हिंदुओं और मुसलमानों के वैयक्तिक कानूनों को शामिल किया गया था और उन्हें स्पष्ट शब्दों में रखा गया था। आशा की जाती थी कि हर व्यक्ति अपने अधिकारों को जाने। इसलिए रेगुलेशन को अंग्रेज़ी तथा भारतीय भाषाओं में प्रकाशित किया गया। इस प्रकार अस्पष्ट प्रथाओं और शासक की मर्ज़ी पर आधारित न्याय-व्यवस्था के स्थान पर लिखित कानूनों और नियमों की न्याय-व्यवस्था अस्तित्व में आ गई। ब्रिटिश भारत के अन्य प्रदेशों में भी इसी तरह के कानून बनाए गए। भारतीय कानून-व्यवस्था और न्यायालय-कार्य-प्रणाली को सुनिश्चित बनाने के लिए 1833 ई. में भारतीय विधि आयोग का गठन किया गया। प्रत्येक ज़िले में अदालतें स्थापित की गईं।

कानून बनाकर और न्यायालय स्थापित करके जो "विधि शासन" अंग्रेज़ों ने शुरू किया था वह भारतीयों के लिए एक नया

अनुभव था। यह नया प्रभुत्व, जिसे भारतीय लोग "कम्पनी बहादुर" कहते थे, हाड़-मांस का शासक नहीं था।

"विधि शासन" का अर्थ था कि कानून की दृष्टि में सभी आदमी समान हैं। मगर ब्रिटिश भारत में ऐसा कभी नहीं हुआ। ब्रिटिश भारत में अंग्रेज़ों और भारतीयों पर न ही एक-से कानून लागू हुए, न ही उनके लिए एक-से न्यायालय थे। भारत में रहने वाले अंग्रेज़ों के लिए अलग अदालतें थीं और उन पर सिर्फ अंग्रेज़ी कानून लागू होते थे।

ब्रिटिश सरकार का बढ़ता नियंत्रण

हम पहले बता चुके हैं कि पिट के इंडिया एक्ट ने भारत के लिए दो स्वामी बना दिए थे-कंपनी और ब्रिटिश सरकार। उन्नसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में कंपनी का प्रभाव धीरे-धीरे कम हो गया। 1813 ई. में भारत के साथ अकेले ही व्यापार करने का कंपनी का विशेषाधिकार खत्म हो गया। भारतीय व्यापार सब अंग्रेज़ों के लिए खोल दिया गया। 1813 ई. के बाद भी चीन के व्यापार पर कंपनी का एकाधिकार कायम रहा। मगर 1833 ई. के चार्टर एक्ट ने उस एकाधिकार को भी खत्म कर दिया। कंपनी को भारत में अपनी व्यावसायिक गति-विधियां बंद कर देने को कहा गया। इस प्रकार ब्रिटिश भारत के प्रशासन के व्यावसायिक कार्यों का अंत हो गया।

ब्रिटिश सरकार भारत पर अपने नियंत्रण को बढ़ाना चाहती थी। इसके लिए ब्रिटिश भारत के प्रशासनिक ढांचे का केंद्रीयकरण किया गया। 1833 ई. के चार्टर एक्ट ने भारत के ब्रिटिश प्रदेशों के सैनिक और असैनिक प्रशासन के सारे अधिकार गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद् (कौंसिल) को सौंप दिए। इस केंद्रीय प्रशासन-प्रणाली के कारण ब्रिटिश भारत के समूचे प्रशासन पर गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद् का पूर्ण आधिपत्य स्थापित हो गया। 1947 ई. में भारत के स्वतंत्र होने तक ब्रिटिश भारत के प्रशासन की यही प्रमुख विशेषता रही।

इस नई प्रशासनिक व्यवस्था में भारत के लोगों के लिए कोई खास स्थान नहीं था। कुछ ब्रिटिश प्रशासकों ने स्वयं स्वीकार किया है कि "ब्रिटिश भारत के शासन में भारतीय लोगों को जिस तरह सर्वथा अलग रखा गया है वैसा अन्य किसी विजित देश में शायद ही देखने को मिले"। हम बता चुके हैं कि ऊंचे पदों पर भारतीयों को नियुक्त नहीं किया जाता था। 1833 ई. के चार्टर एक्ट में कहा गया कि भारतीयों को कंपनी के मातहत कोई भी पद दिया जा सकता है। मगर ऐसा बहुत कम हुआ।

ख. अंग्रेज़ों की आर्थिक नीतियां और उनके प्रभाव

अंग्रेज़ों ने जिन आर्थिक नीतियों को अपनाया उनके कारण भू-राजस्व प्रणाली, कृषि, व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए। ये नीतियां भारत में अंग्रेज़ों के आर्थिक हितों को बढ़ाने के लिए बनाई गईं थीं। इनके कारण भारतीय जनता के जीवन में मूल परिवर्तन हुए।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर प्रभाव

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, भारत के गांव लगभग आत्मनिर्भर थे। वे खाने-पीने की अपनी चीज़ें स्वयं पैदा करते थे और अपने औज़ार-बर्तन भी खुद ही बनाते थे। गांवों में उठने वाले झगड़ों का निपटारा पंचायतें और जाति-पंचायतें करती थीं। बाहर की थोड़ी ही चीज़ों की गांव के लोगों को आवश्यकता पड़ती थी; जैसे, नमक, बढ़िया कपड़ा, धातुओं के औज़ार और श्रीमंतों के लिए सोना तथा चांदी।

किसान-परिवार खेती करते थे और अपनी उपज का एक हिस्सा राजस्व के रूप में शासक को देते थे। ज़मीन के मामले में उनके कुछ खास अधिकार थे और उन्हें ज़मीन से बेदखल नहीं किया जा सकता था। राज्य आमतौर पर गांव के प्रधान के मार्फत राजस्व की वसूली करता था।

अंग्रेज़ों ने अपना शासन स्थापित किया, जो उन्होंने अपने अफ़सरों और भारतीय एजेंटों के नियंत्रण में पुरानी व्यवस्था को जारी रखा। मगर अफ़सर किसानों को कष्ट देने लगे। इससे कम्पनी की बड़ी बदनामी हुई। फलत: उसे अपनी नीति बदलनी पड़ी। उसके बाद गांवों के मामलों में कंपनी द्वारा सीधे नियुक्त किए गए। राजस्व-अधिकारियों, पुलिस तथा न्यायिक अधिकारियों-जैसे बाहरी लोगों के बढ़ने हस्तक्षेप का दौर शुरू हुआ। ग्राम-पंचायतों की सत्ता ख़त्म हो गई। राजस्व निश्चित रकम के रूप में वसूल किया जाने लगा, फिर उत्पादन चाहे जो भी हो। चूंकि राजस्व की वसूली मुद्रा के रूप में होने लगी, इसलिए किसान ऐसी फ़सलें उगाने के लिए मजबूर हुए जिन्हें बाज़ार में बेचा जा सके। गावों में कपड़े और अन्य उत्पादित चीज़ें पहुंचने लगीं तो स्थानीय दस्तकारों के धंधे भी चौपट हो गए। इन सब कारणों से गांवों की आत्मनिर्भरता समाप्त हो गई।

नई भूमि व्यवस्था

तुम पढ़ चुके हो कि बक्सर की लड़ाई के बाद कंपनी को पहली बार राजस्व वसूली का अधिकार मिला था। ब्रिटिश क्षेत्रों के विस्तार के साथ-साथ वसूली की राशि भी बढ़ती गई। भू-राजस्व कंपनी की आय का सबसे बड़ा स्रोत हो गया। इस आय का एक

बड़ा हिस्सा कंपनी ब्रिटिश सरकार को भेंट करती थी। 1767 ई. से कंपनी को हार साल 4,00,000 पौंड ब्रिटिश सरकार के ख़ज़ाने में जमा करने पड़ते थे। कंपनी राजस्व का एक भाग भारत से व्यापारिक वस्तुएं खरीदने में खर्च करती थी। वे वस्तुएं इंग्लैंड तथा अन्य देशों को निर्यात की जाती थीं। इस तरह, नए शासकों ने ऐसी नीतियां अपनायीं कि अधिकतम राजस्व की नियमित वसूली होती रहे।

वारेन हेस्टिंग्स के समय में कंपनी ने बंगाल और बिहार में राजस्व-वसूली के अधिकार की निलामी शुरू की थी। जो व्यक्ति सबसे ऊंची बोली लगाता उसे एक निश्चित क्षेत्र से राजस्व वसूल करने के अधिकार दे दिए जाते। यह नई व्यवस्था किसी के लिए भी लाभप्रद साबित नहीं हुई। कंपनी को जितनी वसूली की उम्मीद रहती थी उतनी नहीं मिलती थी। दूसरी तरफ़ ज़मींदार किसानों को लूटते जा रहे थे।

स्थायी बंदोबस्त

निलामी की व्यवस्था से कंपनी की आय में सुस्थिरता नहीं आई, इसलिए कंपनी ने बंगाल और बिहार में भू-राजस्व स्थायी तौर पर निश्चित करने का निर्णय किया। 1793 ई. में कार्नवालिस ने यह नई व्यवस्था, जिसे स्थायी बंदोबस्त का नाम दिया गया लाग कर दी। इस व्यवस्था के अंतर्गत ज़मींदार जागीर का मालिक भी बन गया। उसे हर साल एक निश्चित कालावधि में राजस्व की एक निश्चित राशि सरकार को देनी पड़ती थी। इस व्यवस्था में ज़मींदार की स्थिति मुग़ल काल के जागीरदारों से बहुत बेहतर थी। जागीरदार जागीर के मालिक नहीं होते थे, न ही वे उसे बेच सकते थे। वे किसानों को ज़मीन से बेदखल नहीं कर सकते थे। जागीरदारों से उनकी जागीरें छीनी भी जा सकती थीं।

स्थायी बंदोबस्त से कंपनी को नियमित आय होने लगी। इस व्यवस्था ने ज़मींदारों के एक नए वर्ग को जन्म दिया, जो अंग्रेज़ों के प्रति वफ़ादार था।

जागीर के मालिक बन जाने के बाद अनेक ज़मींदार अधिकतर शहरों में ही रहने लगे। वे किसानों से लागत के रूप में अधिक-से-अधिक पैसा ऐंठने लगे। 1799 ई. में उन्हें अधिकार दिया गया कि वे लगान न देने वाले किसानों को ज़मीन से बेदखल कर सकते हैं और उनकी सम्पत्ति ज़ब्त कर सकते हैं। फ़सल न होने पर किसान लगान नहीं दे पाते थे। उस समय काफी बड़ी संख्या में किसानों को बेदख़ल कर दिया जाता था। इस प्रकार भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों की संख्या बढ़ती गई। गांवों में आज भी इनकी आबादी काफी अधिक है। आगे चलकर स्थायी बंदोबस्त से सरकार की अपेक्षा जमींदारों को ही ज्यादा फ़ायदा हुआ। खेती के लिए नई भूमि प्राप्त

की गई, तो ज़मींदारों ने लगान भी बढ़ा दिया। मगर सरकार को उन्हें जो रकम देनी पड़ती थी वह पूर्ववत कायम रही।

रैयतवारी और महालवारी व्यवस्थाएं

उड़ीसा, आंध्र प्रदेश के तटीय जिलों और बनारस (वाराणसी) में भी स्थायी बंदोबस्त लागू किया गया। मगर मद्रास प्रेसिडेंसी में एक नई व्यवस्था लागू की गई। इसे रैयतवारी व्यवस्था कहते है। सीधे बंदोबस्त की इस व्यवस्था में सरकार ने ज़मीन रैयत यानी किसानों को दे दी। ज़मीन के उपजाऊपन और फ़सल की किस्म के आधार पर राजस्व 30 साल तक की अवधि के लिए निश्चित कर दिया जाता था। पैदावार की कुल कीमत का लगभग आधा हिस्सा सरकार को मिलता था। इस व्यवस्था के अंतर्गत किसान की स्थिति अधिक सुरक्षित हो गई, मगर राजस्व-वसूली बड़ी सख्ती से होने के कारण वह अक्सर महाजन के चुंगल में फंस जाता था। इस व्यवस्था ने सरकार को ही सबसे बड़ा ज़मींदार बना दिया और किसानों को सरकारी अफसरों की दया पर छोड़ दिया गया।

उत्तर भारत में भूमि-बंदोबस्त स्थानीय प्रथाओं के अनुसार हुआ। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में गांव-बिरादरियों या महालों के साथ भूमि-बंदोबस्त किया गया। ज़मीन पर गांव-बिरादरियों के सामूहिक स्वामित्व को 'भाईचारा' कहा जाता था। गांवों के समूह 'महाल' कहलाते थे। इसलिए इसे महालवारी व्यवस्था कहा गया। पंजाब और दिल्ली में भी यही भूमि-व्यवस्था लागू की गई।

पश्चिम भारत में कुछ समय तक मराठों द्वारा स्थापित भूमि-व्यवस्था को ही चलने दिया गया, मगर धीरे-धीरे इसमें रैयतवारी व्यवस्था के अनुसार परिवर्तन किए गए। गांवों के प्रधान ब्रिटिश ज़िलाधिकारी के मातहत हो गए। आगे चलकर उन अधिकारियों ने प्रधानों के कार्यों को अपने हाथों में ले लिया।

अंगेज़ों द्वारा लागू किए गए भूमि-कानूनों ने भारतीय समाज में कई नई स्थितियां पैदा कीं। ज़मीन खरीद-बिक्री की चीज हो गई। निश्चित समय के अंदर सरकार को राजस्व अदा करने के कानून के कारण कई छोटे भू-स्वामी अपनी सम्पत्ति को गिरवी रखने या उससे हाथ धोने पर मज़बूर हुए। प्रमुख रूप से इन्हीं नई भूमि-व्यवस्थाओं के कारण गांवों में ज़मीन का वितरण असमान हुआ और ग़रीबी बढ़ी।

परंतु इन नई भूमि-व्यवस्थाओं ने भारतीय कृषि-उत्पादन को बाज़ार के साथ जोड़ कर इसे अप्रत्यक्ष रूप से बढ़ावा भी दिया है। खाद्यान्य और नकदी फ़सलें तथा बागान की वस्तुएं देशी तथा विदेशी बाज़ारों के लिए

बिक्री की महत्त्वपूर्ण चीज़ें बन गईं। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश व्यापारी अफ़ीम को बड़े पैमाने पर चोरी-छिपे चीन में ले जाने लगे, इसलिए भारत में अफ़ीम की पैदावारी बढ़ाने के लिए किसानों को प्रोत्साहित किया गया। दक्कन की काली मिट्टी में कपास की खेती को बहुत ज़्यादा बढ़ावा मिला, क्योंकि बाहर के देशों में कपास की मांग बढ़ गई थी। भारतीय जूट, चाय और कहवा के निर्यात से अधिकाधिक मुनाफ़ा मिलने लगा। मगर इस व्यापार से ज़्यादातर लाभ अंग्रेज़ों के व्यापारी संस्थानों और उनके गुमास्तों ने ही उठाया। भारतीय किसानों को कोई फ़ायदा नहीं हुआ।

उद्योग और व्यापार

उत्पादन के आधुनिक तरीके अपनाए जाने से पहले भारत की औद्योगिक आबादी दो प्रकार की थी– गांवों के दस्तकार और विशिष्ट प्रकार की चीज़ें तैयार करने वाले शिल्पकार। गांवों के साधारण दस्तकार थे– मोटा कपड़ा बुनने वाले जुलाहे, औज़ार बनाने वाले बढ़ई और घरेलू बर्तन बनाने वाले कुम्हार। इनके पेशे मुख्यत: पैतृक थे। वे साल के कुछ समय तक खेती भी करते थे।

शहरों में बसे हुए शिल्पकार उपयोगी चीज़ों के अलावा विलास की भी चीज़ें बनाते थे। वे चीज़ें देशी तथा विदेशी बाज़ारों में बिकती थीं।

ब्रिटिश राज्य स्थापित होने से पहले भारत के अनेक भागों में सूती कपड़ा उद्योग उन्नत अवस्था में था। चित्र में 19वीं शताब्दी में लखनऊ में कपड़ों की रंगाई करते हुए दिखाया गया है। भारत में अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों के अनुकरण के परिणाम स्वरूप सूती कपड़ा उद्योग बर्बाद हो गया।
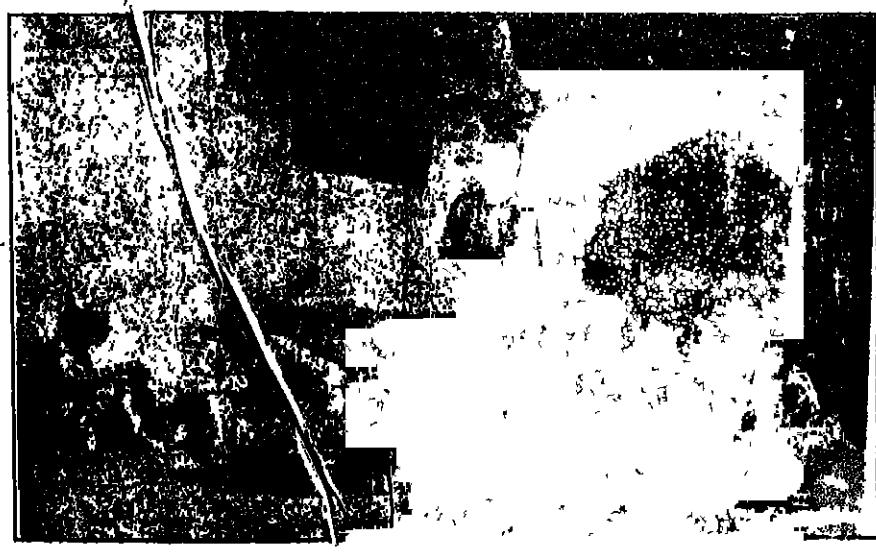
इन विशिष्ट वस्तुओं में सूती कपड़ों का विशेष महत्त्व था। सूती कपड़ों का उत्पादन देश के अनेक भागों में होता था। इसके उत्पादन के महत्त्वपूर्ण केंद्र थे : ढाका, कृष्णनगर, वाराणसी, लखनऊ, आगरा, मुलतान, लाहौर, बुरहानपुर, सूरत, भड़ौच, अहमदाबाद और मदुराई। विलास की दृष्टि से सादे सूती कपड़े और मलमल का महत्त्व था। ऊनी और रेशमी कपड़ों की ख्याति थी कम नहीं थी। लोहा व इस्पात, तांबा व पीतल और सोना व चांदी की वस्तुएं भी बड़ी प्रसिद्ध थीं।

सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में जहाज़-निर्माण के क्षेत्र में भारत का बड़ा नाम था। जहाज़-निर्माण के मुख्य केंद्र थे: गोआ, सूरत, मछलीपट्टनम्, सतगांव, ढाका और चटगांव। उस काल के एक विद्वान ने लिखा है: "जहाज़-निर्माण के बारे में उन्होंने (भारतीयों ने) अंग्रेज़ों से जितना सीखा उससे कहीं अधिक शायद उन्हें सिखाया।"

शहरों में उद्योग सुसंगठित थे। शिल्पकारी पैतृक पेशा थी। शिल्पकार एक विशेष उपजाति के होते थे। गुजरात के शिल्पकार श्रेणियों में संगठित थे। वे श्रेणियां उत्पादित वस्तुओं के स्तर पर नज़र रखती थीं और अपने सदस्यों के कल्याण का ध्यान रखती थीं। आमतौर पर स्वतंत्र शिल्पकार वस्तुओं के उत्पादन का आयोजन करते थे। ग्राहकों की फरमाइश और उनके द्वारा दी गई सामग्री के अनुसार शिल्पाकार वस्तुओं का निर्माण करते थे। व्यापारियों से शिल्पकारों को पेशगी धन मिलता था। उन्हें राजाओं और सामंतों का निरंतर संरक्षण मिलता था। वे आमतौर पर विकास की वस्तुएं पसंद करते थे।

भारतीय उद्योगों का पतन

उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक इन शिल्पों और उद्योगों का भारतीय अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान था। लेकिन उसके बाद इनका तेज़ी से पतन हुआ। इस पतन के क्या कारण थे?

ब्रिटिश प्रदेशों में राजे-रजवाड़ों के धीरे-धीरे खत्म हो जाने के कारण भारतीय उद्योग की बढ़िया वस्तुओं की मांग घटती गई। कई राजा और सामंत कुशल कारीगरों को नियमित वेतन देकर अपने आश्रय में रखते थे। मगर ब्रिटिश अफ़सरों ने भारतीय शिल्पकारों को उसी तरह का आश्रय प्रदान नहीं किया। दरअसल, जिन क्षेत्रों में भारतीय राजाओं का शासन कायम रहा, उन्हीं में कुछ परंपरागत शिल्प-व्यवसाय जीवित रहे। मगर भारतीय उद्योगों के पतन के मुख्य कारण कुछ और थे।

भारत का भाग्य अब इंग्लैंड के व्यापारियों और उद्योगपतियों के हाथों में था। तुम्हें याद होगा कि यूरोपीय व्यापारियों का भारत आने का मुख्य उद्देश्य था: इस देश के साथ व्यापार करके मुनाफा कमाना। यद्यपि भारत की अधिकांश कृषि और औद्योगिक उपज

की देश में ही खपत होती थी, मगर दूसरे देशों में भी भारतीय चीज़ों की मांग थी। भारत से निर्यात होने वाली चीज़ों–बढ़िया सूती व रेशमी कपड़े, मसालें, नील, चीनी, औषधि, कीमती पत्थर और विभिन्न प्रकार की शिल्प-वस्तुओं को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में महत्त्वपूर्ण स्थान था। बदले में भारत को सोना व चांदी मिलते थे।

सत्रहवीं सदी के अंत तक भारत के सूती कपड़ों की इंग्लैंड में इतनी अधिक मांग बढ़ गई कि वहां का कपड़ा-उद्योग बरबाद हो गया। परिणामत: इंग्लैंड में पहले 1700 ई. में और 1720 ई. में कानून बना कर भारतीय कपड़ों की कई किस्मों की आयात पर पाबंदी लगा दी गई। ऐसी कानूनी पाबंदियां यूरोप के अन्य देशों में भी लगाई गईं। जैसा कि स्वाभाविक था, इन पाबंदियों का भारत के कपड़ा-उद्योग पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। फिर भी सूती व रेशमी कपड़ों और कुछ अन्य वस्तुओं का निर्यात-व्यापार चलता रहा। इस दौरान इंग्लैंड में कपड़ा-उद्योग का विकास हो रहा था। इस उद्योग ने भारतीय कपड़ों की किस्मों का मुकाबला करने की जी-तोड़ कोशिश की। उदाहरण के लिए, लखनऊ में बनने वाली छींट को इंग्लैंड की महिलाएं बड़ा पसंद करती थीं। मगर 1754 ई. तक अंग्रेज़ रंगरेज़ दावा करने लगे कि वे भारतीय दस्तकारों से बेहतर छपाई कर सकते हैं। उसी समय औद्योगिक क्रांति और नई मशीनों ने इंग्लैंड के कपड़ा-उद्योग की मदद की। इससे भारतीय कपड़ों के निर्यात की स्थिति बिगड़ गई। उस समय तक भारत में कंपनी का शासन शुरू हो गया था। ब्रिटिश व्यापारियों और उत्पादकों के हितों की रक्षा के लिए यहां भारत में और वहां इंग्लैंड में कुछ कदम उठाए गए। इससे भारतीय उद्योगों को क्षति पहुंची।

कम्पनी का मुनाफ़ा बढ़ाने के लिए उसके ऐजेंटों ने कपड़ा तथा अन्य वस्तुओं के भारतीय उत्पादकों को मज़बूर किया कि वे उनसे बाज़ार भाव से 20 से 40 प्रतिशत तक कम कीमत लें। उस समय ढाका मलमल के उत्पादन का सबसे बड़ा केंद्र था। ढाका के उत्पादकों ने कीमतें घटाने का विरोध किया और ऊंची कीमतों की मांग की, तो उनके ख़िलाफ बल-प्रयोग किया गया। अनेक बुनकरों के नाम कंपनी की बही में लिख लिए गए और उनके किसी अन्य का काम करने पर पाबंदी लगा दी गई। कंपनी के अफ़सर कपास की कीमत को नियंत्रित करने लगे, तो कपड़ा-उत्पादकों की कठिनाइयां और भी अधिक बढ़ गईं। बंगाल में बढ़िया किस्म का कपास दक्कन से आता था। कंपनी के अफ़सर दक्कन से थोक में कपास खरीदते थे। और उसे ऊंची कीमतों पर बंगाल के बुनकरों को बेचते थे। इन

सब कारणों से बुनकर समुदाय दरिद्र हो गया और सूती कपड़ा-उद्योग चौपट हो गया। इस प्रकार, अठारहवीं सदी के अंत तक औद्योगिक समृद्धि वाला बंगाल प्रांत लगभग बरबाद हो गया।

मशीन से बने सस्ते सूती कपड़ों के आने से भारतीय कपड़ा-उद्योग को सबसे बड़ा धक्का लगा। यही नहीं, इंग्लैंड से भारत आने वाली वस्तुओं पर चुंगी नहीं लगती थी। दूसरी ओर, भारत से इंग्लैंड पहुंचने वाली वस्तुओं पर वहां ऊंची चुंगी लगती थी। इस नीति के कारण भारत में ब्रिटिश माल की बाढ़ आ गई। विचित्र बात यह थी कि इन आयातित वस्तुओं में सूती कपड़े की मात्रा सबसे ज़्यादा थी।

परिवहन और संचार के साधनों में हुए सुधारों से भारत को ब्रिटिश वस्तुओं का बाजार और ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे माल का स्रोत बनाने में आसानी हुई। भारत के विभिन्न भागों को बंदरगाहों से जोड़ने वाली सड़कों को सुधारा गया। नदी-नौपरिवहन का भी विकास किया गया। मगर परिवहन के क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण सुधार था-भारत में रेलवे की शुरूआत। भारत में पहली रेलवे 1853 ई. में बम्बई और थाने के बीच शुरू हुई। साथ ही डाक व्यवस्था में सुधार हुआ। 1853 ई. से भारत में टेलीग्राफ की भी शुरूआत हुई।

सामाजिक कानून

भारतीय समाज में सदियों से कई निकृष्ट रीति-रिवाज और अमानवयी प्रथाएं चली आ रही थीं। ऐसी कुछ सबसे अधिक निकृष्ट प्रथाओं के शिकार थे-तथाकत्ति निम्न जातियों के लोग, उनकी स्त्रियां और उनके बच्चे, विशेषकर कन्याएं। लंबे समय तक ब्रिटिश शासकों ने इन बुरी प्रथाओं पर कोई ध्यान नहीं दिया। उनका मुख्य उद्देश्य था भारत का आर्थिक शोषण करना, न कि सामाजिक बुराइयों को दूर करना। इस काल में भारत आए कुछ ब्रिटिश प्रशासक मानवतावादी तथा सुधारवादी विचारों से प्रभावित थे। उन्हीं के प्रयासों से उन्नीसवीं सदी के पहले भाग में भारत में कुछ मानवतावादी कदम उठाए गए। इसमें कुछ भारतीयों ने भी महत्त्व की भूमिका अदा की। इन भारतीयों के बारे में विस्तार से तुम आगे पढ़ोगे।

उस समय देश के कुछ भागों की कुछ बिरादरियों में कन्या-वध की प्रथा प्रचलित थी। कन्या के जन्म लेते ही उसे मार डाला जाता था। उस समय की सामाजिक प्रथाओं के अनुसार कन्याओं का विवाह अपनी बिरादरी में ही करना पड़ता था। कन्या के विवाह में पिता को बहुत ज़्यादा धन खर्च करना पड़ता था। कन्या का अविवाहित रहना परिवार के लिए कलंक की बात समझी जाती थी। ऐसा न हो इसलिए कई कन्याओं का बचपन में ही वध कर दिया जाता था। कभी-कभी

धार्मिक मनौतियों को पूरा करने के लिए नवजात पुत्र और पुत्री, दोनों को ही पवित्र नदियों में प्रवाहित कर दिया जाता था। इस क्रूर प्रथा को बंद करने के लिए सरकार ने कानून बनाए। मगर इस प्रथा के बंद होने में लंबा समय लगा।

भारतीय समाज में स्त्रियों की दशा बड़ी दयनीय थी। उनमें से अनेक का जीवन "जन्म से लेकर मृत्यु तक दुःख और अपमान की एक लंबी कहानी' था। काफी छोटी उम्र में ही उनका ब्याह कर दिया जाता था। समाज के कुछ वर्गों में विधवाओं का पुनर्विवाह नहीं होता था और उन्हें कष्ट भरा जीवन बिताना पड़ता था। हिंदुओं की कुछ तथाकथित उच्च जातियों में प्रचलित सबसे बर्बर प्रथा थी विधवाओं का अपने पति की चिता में जल मरना। इस प्रथा को सतीदाह या सती कहते हैं। केवल बंगाल प्रेसिडेंसी में ही 1815 से 1828 ई. तक सतीदाह की 8134 घटनाएं हुई थीं। 1829 ई. में बने एक कानून के जरिए इस क्रूर प्रथा पर रोक लगा दी गई। भारत के ब्रिटिश शासन द्वारा लागू किया यह सबसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक कानून था। यह कानून गवर्नर–जनरल विलियम बेंटिक के समय

चित्र में क्रूर सतीप्रथा के अंतर्गत पति की चिता पर एक विधवा स्त्री को जलते हुए दिखाया गया है। 1829 ई. में इस प्रथा पर रोक लगा दी गई।

में लागू हुआ। राजा राममोहन राय द्वारा शुरू किए गए ज़बरदस्त आंदोलन से इस प्रथा को बंद करने में मदद मिली। राजा राममोहन राय के बारे में अधिक जानकारी तुम्हें आगे मिलेगी। एक अन्य समाज-सुधारक थे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर। उनके प्रयासों से सरकार ने 1856 ई. में विधवा पुनर्विवाह कानून बनाया। इस कानून ने हिंदू विधवा को पुनः विवाह करने की छूट दे दी।

भारत में गुलामों का व्यापार भी सतत होता रहा, हालांकि यह बड़े पैमाने पर नहीं होता था। गरीबी के कारण लोग अपने बच्चों को बेचने के लिए मजबूर होते थे। गुलामों या दासों से ज़्यादातर घरेलू काम कराए जाते थे। कभी-कभी उन्हें अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों में भेजा जाता था। 1843 ई. में एक कानून बना कर दास प्रथा पर पाबंदी लगा दी गई।

सामाजिक सुधार के ये प्रयास महत्त्वपूर्ण थे, मगर भारतीय जनता का एक बहुत छोटा समुदाय ही इनसे प्रभावित हुआ। सरकार का मुख्य प्रयास था ब्रिटिश हितों की रक्षा तथा वृद्धि करना। दूरगामी समाजिक सुधारों में उसकी ज़्यादा दिलचस्पी नहीं थी। इस दिशा में स्वयं भारतीयों ने ही प्रयास किए। भारतीयों ने धार्मिक और सामाजिक सुधारों के लिए आंदोलन शुरू किए, और बाद में देश की आज़ादी का भी आंदोलन शुरू हुआ।

आधुनिक शिक्षा का आरंभ

कंपनी का शासन शुरू होने के समय सारे देश में प्रारंभिक शिक्षा के लिए पाठशालाएं तथा मकतब और उच्च शिक्षा के लिए टोल तथा मदरसा थे। प्रारंभिक स्तर पर विद्यार्थियों को स्थानीय भाषाओं में लिखे गए धार्मिक ग्रंथों के कुछ अंश, पत्र-लेखन और पहाड़े पढ़ाए जाते थे। उच्च शिक्षा मुख्यतः ब्राह्मण और उच्च वर्गीय मुसलमान ही प्राप्त करते थे। वे व्याकरण, शास्त्रीय भाषाओं (संस्कृत, अरबी, फ़ारसी) साहित्य, धर्मशास्त्र, कानून, तर्कशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, तथा ज्योतिष का विशेष अध्ययन करते थे। उनका पाठ्यक्रम पुराने ग्रंथों और उनकी टीकाओं पर आधारित था। उनमें नई जानकारी नहीं के बराबर थी। दुनिया के कुछ अन्य भागों में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जो उन्नति हुई थी और जो नए विचार उभरे थे उनकी उन्हें कोई जानकारी नहीं थी। मगर इस व्यवस्था से देश की आबादी के एक काफी बड़े हिस्से में साक्षरता का प्रसार हुआ था।

कंपनी के अधिकांश इलाकों में कुछ समय तक यही शिक्षा-व्यवस्था चालू रही। कंपनी का शासन शिक्षा के प्रति उदासीन था। यहां तक कि कंपनी के शासन में पुरानी शिक्षा-प्रणाली को भी क्षति पहुंची। शिक्षा के

भारत में अंग्रेज़ी शासन स्थापित होने के पूर्व मकतब जैसे स्कूलों के द्वारा जनसंख्या के एक बड़े भाग को शिक्षा प्रदान की जाती थी। अंग्रेज़ी शासन के दौरान इन स्कूलों का पतन हुआ और शिक्षा उपेक्षित हुई। चित्र में 19वीं शताब्दी के एक मकतब को दिखाया गया है।

लिए भारतीय शासकों ने जो जमीन दान में दी थी वह कंपनी की सरकार ने छीन ली। फलस्वरूप पुरानी शिक्षा-प्रणाली की अवनति हुई।

अंग्रेज़ी भाषा और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के कुछ विषयों की शिक्षा देने के लिए पहले मद्रास के इलाके में और बाद में बंगाल तथा बंबई में नई पद्धति के कई स्कूल खुले। इनका संचालन अधिकतर ईसाई धर्म-प्रचारकों के हाथों में था। कंपनी की सरकार की सहायता से खुलने वाली पहली शिक्षण-संस्थाएं थीं-कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज, जिनकी स्थापना क्रमशः 1781 ई. और 1791 ई. में हुई थी। इनकी स्थापना का उद्देश्य ऐसे भारतीयों को प्रशिक्षित करना था जो कंपनी के ब्रिटिश अफ़सरों को प्रशासन के कार्यों में मदद कर सकें। इनमें पाठ्यक्रम काफ़ी हद तक पुरानी भारतीय पद्धति का ही था। कलकत्ता में फ़ोर्ट विलियम कालेज की शुरूआत 180 ई. में हुई। वहां अंग्रेज़ प्रिंसिपल के साथ कुछ भारतीय पंडित काम करने लगे। उनका काम था अंग्रेज़ों को भारतीय भाषाओं, इतिहास, कानून तथा रीति-रिवाजों का परिचय कराना। उन्होंने बंगला की पहली प्रवेशिका, उर्दू का एक शब्दकोश और हिंदी का एक व्याकरण बनाया।

ब्रिटिश शासकों ने भारत में शिक्षा के विकास के लिए पहला कदम 1813 ई. के चार्टर एक्ट के बाद उठाया। इस एक्ट को भारत में शिक्षा के प्रसार के लिए एक लाख रूपए मंजूर किए थे। मगर भारत के लिए एक शिक्षा-नीति तय करने में कंपनी को और बीस साल लगे। भारत में किस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली लागू की जाए, इस बात को लेकर, ब्रिटिश प्रशासकों और कुछ भारतीयों में लंबे समय तक वाद-विवाद चलता रहा। इनके दो समुदाय थे। एक समुदाय परंपरागत शिक्षा-पद्धति का समर्थक था और दूसरा पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति का। राममोहन राय जैसे कुछ भारतीय पाश्चात्य-शिक्षा-पद्धति के समर्थक थे। उनका विचार था कि केवल पाश्चात्य शिक्षण के जरिए ही भारत प्रगति कर सकता है। 1835 ई. में सरकार ने "भारतीयों को यूरोपीय साहित्य और ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने का" निर्णय लिया। इस निर्णय के बाद सरकार द्वारा खोले गए चंद स्कूलों और कालेजों में अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम बनाया गया।

कुछ साल बाद कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। अंग्रेज़ों ने भारत में जो शिक्षा-पद्धति चलाई वह 'अंग्रेज़ी शिक्षा' कहलाई।

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेज़ी शिक्षा की मांग तेजी से बढ़ती गई। 1844 ई. में सरकार ने घोषणा की कि अंग्रेज़ी जानने वाले भारतीयों को सरकारी नौकरियों में प्राथमिकता दी जाएगी। इससे अंग्रेज़ी शिक्षा अधिक लोकप्रिय हुई।

सरकार ने शिक्षा के लिए बहुत कम धन उपलब्ध कराया था। इससे स्पष्ट था कि भारतीयों की शिक्षा में ब्रिटिश शासकों की दिलचस्पी नहीं थी। नई शिक्षा-प्रणाली की इस बात के लिए आलोचना होती थी कि यह ब्रिटिश प्रशासन के लिए केवल क्लर्क तैयार करने के लिए बनी है। आम जनता की शिक्षा की उपेक्षा हुई। पुरानी शिक्षा-पद्धति की *अवनति और अंग्रेज़ों द्वारा प्राथमिक* शिक्षा की उपेक्षा के कारण करीब 90 प्रतिशत भारतीय अनपढ़ रह गए। अंग्रेज़ी शिक्षा पर ज़ोर दिए जाने के कारण अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त भारतीयों में और शेष भारतीय जनता में एक खाई पैदा होने लगी। ब्रिटिश शासकों ने यह भी सोचा कि अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त भारतीय ब्रिटिश शासन के समर्थक बनेंगे।

इन सब गंभीर त्रुटियों के बावजूद अंग्रेज़ी शिक्षा की कुछ अच्छाइयां भी थीं। इसके ज़रिए भारतीय, हालांकि बहुत कम संख्या में, *आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और स्वतंत्रता*, समानता, जनतंत्र तथा राष्ट्रीयता के आधुनिक विचारों के सम्पर्क में आए।

उन्हें दुनिया के अन्य भागों में हो रहे विकासों की जानकारी मिली। वे भारत के आधुनिकीकरण के तरीकों और उपायों के बारे में सोचने लगे। उनमें से कुछ समाज-सुधार आंदोलनों से कुछ समाज-सुधार आंदोलनों के और बाद में भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के अग्रदूत बने। इस तरह ब्रिटिश शासकों की यह आशा कि अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त भारतीय ब्रिटिश शासन के समर्थक होंगे, मिथ्या साबित हुई।

अभ्यास

1. पारिभाषिक शब्द

अंग्रेज़ नवाब– अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय सामंतों का रहन-सहन अपनाने वाले अंग्रेज़ों को नवाब कहा जाने लगा।

चार्टर ऐक्ट– रानी एलिज़ाबेथ द्वारा दिए गए एक प्रपत्र (चार्टर) के अंतर्गत ईस्ट इंडिया कंपनी स्थापित की गई। इस प्रपत्र का नवीनीकरण हर बीसवें वर्ष किया गया। इन प्रपत्र के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने कंपनी के अधिकारों और स्थिति को स्पष्ट किया। इसके लिए जो कानून बने उन्हें चार्टर ऐक्ट कहते हैं। आखिरी चार्टर ऐक्ट 1853 ई. में बना।

स्थायी बंदोबस्त–यह भू-राजस्व की एक विशेष व्यवस्था थी। इसे कार्नवालिस ने 1793 ई. में बंगाल और बिहार में लागू किया। इस व्यवस्था में ज़मींदारों को ज़मीन पर स्थायी और वंशागत स्वामित्व मिल गया। शर्त यह रही कि ज़मींदार एक निश्चित राशि निर्धारित समय पर सरकारी खजाने में जमा करें। इस व्यवस्था में सरकार का किसानों से कोई सीधा संबंध नहीं रहा।

रैयतवारी व्यवस्था–यह भू-राजस्व की एक भिन्न व्यवस्था थी जिसे अंग्रेज़ों ने तत्कालीन मद्रास और बंबई प्रांतों में लागू किया।

इस व्यवस्था के अंतर्गत सरकार किसानों के साथ एक निश्चित अवधि (30 वर्ष) के लिए बंदोबस्त करती थी। किसान अपनी 50 प्रतिशत पैदावार लगान के रूप में सरकार को देते थे। बंदोबस्त की अवधि समाप्त होने के बाद लगान का फिर निर्धारण होता था।

2. नीचे दिए गए प्रश्नों के उत्तर दो:
   1. किन परिस्थितियों में 1773 ई. में रेगुलेटिंग ऐक्ट पास हुआ?
   2. 1774 से 1856 ई. तक न्याय-व्यवस्था के विकास पर प्रकाश डालो।
   3. 1833 ई. के चार्टर ऐक्ट की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं?
   4. 1856 ई. तक भारत में ब्रिटिश सरकार की सैनिक और असैनिक सेवाओं में भारतीयों की क्या स्थिति थी?
   5. कंपनी के शासन की स्थापना के बाद भारतीय गाँवों के चरित्र में क्या परिवर्तन हुआ?
   6. शाह आलम से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी मिलने के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने वहाँ भू-राजस्व की क्या व्यवस्था की?
   7. स्थायी बंदोबस्त से किसानों की अपेक्षा ज़मींदारों को अधिक फ़ायदा कैसे पहुँचा?
   8. अंग्रेज़ों द्वारा लागू की गई भू-राजस्व व्यवस्थाओं का किसानों पर क्या प्रभाव पड़ा?
   9. भारतीय उद्योग ब्रिटिश सरकार की नीतियों से कैसे प्रभावित हुए?
   10. देश में आर्थिक और प्रशासनिक परिवर्तनों के कारण किस सामाजिक वर्ग का उदय हुआ?

3. नीचे 1765 से 1856 तक की प्रशासनिक व्यवस्था के संबंध में कुछ कथन बदए गए हैं। सही कथनों के आगे (√) निशान और गलत कथनों के आगे (×) निशान लगाओ:
   1. ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इंडिया कंपनी के मामलों में पहली बार 1773 ई. में सीधे हस्तक्षेप किया।
   2. 1773 ई. के ऐक्ट ने गवर्नर-जनरल को सबसे अधिक शक्तिशाली बना दिया।

3. भारत में अंग्रेज़ों द्वारा कब्ज़ा किए गए क्षेत्रों पर प्रशासन के संबंध में पिट के इंडिया ऐक्ट ने अधिक अधिकार दिए।
4. भारत में नए इलाके जीतने के बारे में अंग्रेज़ों ने पिट के इंडिया ऐक्ट का पूरी तरह अनुसरण किया।
5. "विधि-शासन" की स्थापना भारत में ब्रिटिश प्रशासन का एक महत्त्वपूर्ण योगदान थी।
6. भारत में ब्रिटिश प्रशासनिक व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य भारतीय जनता का कल्याण करना था।
7. सेना और असैनिक सेवाओं में काम करने वाले भारतीयों को अंग्रेज़ों के बराबर अधिकार थे।
8. 1833 ई. के चार्टर ऐक्ट के बाद भारत में ब्रिटिश प्रशासन का केंद्रीयकरण हो गया।

4. नीचे अंग्रेज़ों द्वारा लागू की गई भू-राजस्व व्यवस्थाओं के संबंध में कुछ कथन दिए गए हैं। अगर कथन स्थायी बंदोबस्त से संबद्ध है तो "क", रैयतवारी व्यवस्था से संबद्ध है तो "ख" और महालवारी व्यवस्था से संबद्ध है तो "ग" उसके सामने लिखें।

1. सरकार और किसान के बीच कोई बिचौलिया न रहा।
2. गाँवों के समूह पुराने जमींदारों के अधीन रहे।
3. ज़मींदारों को ज़मीन पर वंशगत अधिकार दिए गए।
4. सरकार का हिस्सा सदा के लिए निश्चित कर दिया गया।

5. करने के लिए कार्य

1. भारत में अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित न्याय-व्यवस्था का एक प्रवाह-चार्ट बनाओ।
2. भारत में अंग्रेज़ों द्वारा लागू की गई भू-राजस्व व्यवस्थाओं और अंग्रेज़ी राज के पहले की व्यवस्था का एक तुलनात्मक चार्ट बनाकर ज़मींदार, रैयत तथा सरकार की स्थिति पर प्रकाश डालो।

3. एक काल-रेखा खींचो और उस पर निम्नलिखित कानूनों के बनने का समय दिखाओ।

   क. 1773 ई. का रेगुलेटिंग ऐक्ट ।

   ख. पिट का 1784 ई. का इंडिया ऐक्ट ।

   ग. 1793 ई. का बंगाल रेगुलेशन ऐक्ट ।

   घ. 1813 ई. का चार्टर ऐक्ट ।

   ङ. 1833 इ. का चार्टर ऐक्ट ।

अध्याय 5

ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह

तुम पहले पढ़ चुके हो कि अंग्रेज़ों ने 1856 ई. तक भारत पर लगभग पूर्ण विजय प्राप्त कर ली थी। मगर यह सब आसानी से नहीं हुआ। शायद ही ऐसा कोई साल ग़ुज़ारा होगा जब देश के किसी-न-किसी भाग में अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह न हुआ हो। सबसे बड़ा विद्रोह 1857 ई. में हुआ। उस विद्रोह ने भारत में ब्रिटिश शासन की जड़ें ही हिला दी थीं।

आरंभिक विद्रोह

देश के जिस प्रदेश में भी ब्रिटिश शासन का विस्तार हुआ, वहां लोगों ने उसका विरोध किया। ब्रिटिश शासन के आरंभिक दिनों में भारत को खुले-आम लूटा गया। उसके बाद शोषण की कुछ बाकायदा एक व्यवस्था ही अस्तित्व में आ गई। किसानों का सबसे ज़्यादा शोषण हुआ। सरकार ने ज़मींदारों तथा सरदारों से ज्यादा राजस्व की मांग की, तो किसानों को अपनी ज़मीन-जायदाद से हाथ धोना पड़ा। देश के आदिवासी इलाकों पर ब्रिटिश नियंत्रण और प्रशासन स्थापित हुआ, तो आदिवासियों का भी शोषण होने लगा। अंग्रेज़ों ने जिन राज्यों पर कब्ज़ा किया उनके शासकों तथा सरदारों को तो उन्होंने अपना विरोधी बनाया ही, दूसरे बहुत-से लोगों को भी विरोधी बनाया। बहुत-से लोगों के जीविका के साधन उनसे छीन लिए गए। ऐसे लोग थे- उन शासकों की फ़ौजों के बरख़ास्त किए गए सिपाही जिनके राज्यों पर अंग्रेज़ों ने कब्ज़ा कर लिया था या जिन्होंने अंग्रेज़ों के साथ 'सहायक-संधि' कर ली थी, वे कारीगर जो मुख्यत: शासक तथा उसके परिवार के लिए चीज़ें तैयार करते थे, उन राज्यों के अधिकारी जिन पर अंग्रेज़ों ने कब्ज़ा किया और अन्य अनेक लोग। भारतीय शासकों ने पंडितों को जो जमीन दान में दी थी वह अंग्रेज़ों ने उनसे छीन ली। उनके पास जीविका के कोई साधन नहीं रह गए। 1765 से 1865 ई. के बीच देश के विभिन्न भागों में दर्जनों विद्रोह हुए। इनमें से कई विद्रोह किसानों और आदिवासियों ने किए थे। पदच्युत शासकों, ज़मीदारों तथा सरदारों के नेतृत्व में भी कई विद्रोह हुए। कंपनी की फ़ौज के सिपाहियों ने भी बगावतें कीं। इनमें से कई विद्रोहों में

भूतपूर्व शासकों की फ़ौजों से बरख़ास्त हुए सिपाही भी शामिल हुए।

पहला प्रमुख विद्रोह अंग्रेज़ों की बंगाल विजय के तुरंत बाद हुआ। संन्यासियों और फकीरों के नेतृत्व में शुरू हुआ यह विद्रोह पूर्वी भारत के अनेक इलाकों में फैला। इनमें अधिकांश विद्रोही किसान थे। इनकी सेनाएं, जिनमें आदमियों की संख्या 50,000 तक पहुंच गई थी, तीर्थयात्रियों के जत्थों के रूप में जहां-तहां घूमती रहती थीं। कंपनी ने उन्हें कुचलने के लिए जो फ़ौजें भेजीं उनकी हार हुई। इस विद्रोह को कुचलने में अंग्रेज़ों को करीब तीस साल लगे।

सन्यासी विद्रोही

देश के विभिन्न भागों में और भी कई किसान विद्रोह हुए। इनमें से कुछ विद्रोहों का नेतृत्व धार्मिक सुधार-आंदोलनों के नेताओं ने किया। उदाहरण के लिए, ज़मींदारों और अंग्रेज़ों द्वारा किसानों के शोषण के खिलाफ फरायज़ियों ने, जो मुसलमानों के एक संप्रदाय के अनुयायी थे, विद्रोह किया था।

इस काल में आदिवासियों के भी कई विद्रोह हुए। इनमें से कुछ शक्तिशाली विद्रोह थे-मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में भीलों का विद्रोह, बंगाल, बिहार और उड़ीसा में कोलों का विद्रोह, उड़ीसा में गोंडों तथा खोंडों का विद्रोह, महाराष्ट्र में कोलियों का विद्रोह; राजस्थान में मेड़ों का विद्रोह और बंगाल तथा बिहार में संथालों का विद्रोह। उत्तर-पूर्वी भारत के आदिवासियों ने भी कई विद्रोह किए मेघालय के खासियों के विद्रोह का नेतृत्व उतिरोत सिंह ने किया था। इनमें से कुछ विद्रोह कई सालों तक चलते रहे। उदाहरण के लिए, भीलों का एक विद्रोह 1817 ई. में शुरू हुआ और 1831 ई. तक चलता रहा।

सन् 1795 से 1805 ई. तक दक्षिण-भारत में अंग्रेज़ों के खिलाफ जबरदस्त विद्रोह हुआ। कुछ इतिहासकारों ने इसे भारत की स्वाधीनता का पहला युद्ध कहा है। इस विद्रोह का नेतृत्व ज़मींदारों ने किया था। दक्षिण भारत के कुछ भागों में इन ज़मींदारों को पोलीगर कहते हैं। इस प्रदेश के अधिकांश राजाओं ने अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ली थी, मगर पोलीगरों ने जनता की मदद से विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह के कुछ प्रमुख नेता थे मुरुद - पांड्यन,

कोट्टबोम्मन् और पायचे राजा। ये दक्षिण भारत के विभिन्न इलाकों के थे, मगर उस प्रदेश के सभी भागों में विद्रोहियों की फ़ौजें खड़ी करने में उन्हें सफलता मिली। देश के अन्य भागों में भी ज़मींदारों और सरदारों के विद्रोह हुए, मगर उनमें से अधिकांश विद्रोह स्थानीय थे, इसलिए उन्हें आसानी से कुचल दिया गया।

कंपनी की फ़ौज के सिपाहियों ने भी विद्रोह किए। इनमें सबसे प्रमुख थे – 1806 ई. का वेल्लूर विद्रोह और 1824 ई. का बैरकपुर विद्रोह। टीपू सुलतान की पराजय और मृत्यु के बाद उसके बेटों को अंग्रेज़ों ने वेल्लूर में बसाया था। वेल्लूर में उनकी मौजूदगी कंपनी के और वहां के सिपाहियों को प्रेरणा प्रदान करती थी। उनके विद्रोह को आर्काट से भेजी गई फ़ौज ने कुचल दिया। इस विद्रोह में 350 सिपाही मारे गए और 500 बंदी बनाए गए। इस विद्रोह में 117 अंग्रेज़ सैनिक भी मारे गए। बैरकपुर में 47वीं नेटिव इन्फैन्ट्री के सिपाहियों ने जो विद्रोह किया उससे अंग्रेज़ों के छक्के छूट गए थे। इस विद्रोह को बड़ी क्रूरता से कुचल दिया गया और सैकड़ों सिपाहियों को मौत की सजा दी गई।

इस काल में वहाबियों ने भी ज़बरदस्त विद्रोह किया। ये वहाबी सैयद अहमद द्वारा स्थापित मुसलमानों के एक संप्रदाय के अनुयायी थे। बंगाल तथा बिहार के कारीगरों और किसानों में इन वहाबियों की तादाद काफी अधिक थी। वहाबियों ने अंग्रेज़ों के शासन को उखाड़ फेकने के लिए धर्मयुद्ध में शामिल होने के लिए जनता का आह्वान किया। वहाबियों की ब्रिटिश-विरोधी गतिविधियां 1830 से लेकर 1857 ई. के विद्रोह के बाद तक जारी रही।

अंग्रेज़ों के खिलाफ इस प्रकार के अनेक विद्रोह प्लासी के युद्ध के बाद देश के विभिन्न भागों में सौ साल के दौरान हुए। मगर इनमें से अधिकांश विद्रोह स्थानीय घटनाएं थीं। इनमें से कई विद्रोहों को कुचलने में अंग्रेज़ों को लंबा समय लगा, मगर ये भारत में अंग्रेज़ों के शासन के लिए कोई बड़ा खतरा साबित नहीं

सुरेन्द्र साइ, उड़ीसा के सम्बलपुर में अंग्रेज़ी विद्रोह के विरुद्ध हुए बहुत से विद्रोहों के नेता।

हुए। परंतु अंग्रेज़ों के खिलाफ असंतोष लगातार बढ़ता गया, जो 1857 ई. के महान विद्रोह में प्रकट हुआ।

सन् 1857 ई. का विद्रोह

भारतीय इतिहास में 1857 ई. अत्यंत महत्त्व का वर्ष है। उसी वर्ष ब्रिटिश राज के विरुद्ध सबसे बड़ा सशस्त्र विद्रोह हुआ। विद्रोह का आरम्भ 10 मई, 1857 के दिन मेरठ के सिपाहियों की बग़ावत से हुआ। दूसरे दिन वे सिपाही दिल्ली पहुंचे। दिल्ली के सिपाही भी उनसे मिल गए। दिल्ली ""र उनका कब्ज़ा हो गया। अस्सी साल के बूढ़े मुग़ल बादशाह बहादुर शाह ज़फर को भारत का बादशाह घोषित किया गया। ब्रिटिश शासन के खिलाफ लंबे समय से जो असंतोष पनप रहा था वह अब एक विद्रोह में भड़क उठा। सिपाहियों की बग़ावत से शुरू हुआ विद्रोह दावानल की तरह जल्दी ही देश के एक बड़े भाग में फैल गया।

सन् 1857 ई. का विद्रोह ब्रिटिश शासन के खिलाफ सबसे बड़ी टक्कर थी। अनेक दृष्टियों से, भारतीय इतिहास में यह एक अभूतपूर्व विद्रोह था। इसमें ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के उद्देश्य से देश के विभिन्न प्रदेशों के सैनिक और विभिन्न राज्यों के शासक व सरदार लड़ाई के लिए एकजुट हुए। समाज के कई अन्य समुदाय - ज़मींदार, किसान, दस्तकार, विद्वान - भी इस विद्रोह में शामिल हुए। सब का एक ही समान उद्देश्य ा - ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकना। क्योंकि यह विद्रोह काफी व्यापक पैमाने पर हुआ इसलिए कुछ लोग इसे प्रथम भारतीय स्वातंत्र्य युद्ध मानते हैं।

विद्रोही सैनिक

ब्रिटिश शासन के प्रति असंतोष

विद्रोह का कारण भारत में ब्रिटिश नीतियों से उत्पन्न व्यापक असंतोष था। तुम इन नीतियों के बारे में पढ़ चुके हो। तुम असंतोष के कुछ कारणों को भी जान चुके हो। अब इनके बारे में तुम विस्तार से पढ़ोगे।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, अंग्रेज़ों की राज्य-विस्तार की नीति के कारण भारत के अनेक शासकों और सरदारों में उनके प्रति असंतोष व्यापत हो गया था। अंग्रेज़ों ने उनके साथ सहायक-संधि कर ली थी। मगर अंग्रेज़ इन संधियों को मनमर्जी से तोड़ देते थे। सिंध, पंजाब और अवध को अंग्रेज़ों ने हथिया लिया था। इससे काफी असंतोष फैला था। डलहौज़ी ने 'विलय नीति' को कड़ाई से लागू किया, तो असंतोष और भी अधिक बढ़ गया। झांसी के मृत राजा के दत्तक पुत्र को डलहौज़ी ने उत्तराधिकारी नहीं माना और 1854 ई. में झांसी के राज्य पर कब्ज़ा कर लिया। उसके पहले 1851 ई. में पेशवा बाजीराव द्वितीय की मृत्यु हुई, तो उसके दत्तक पुत्र नाना साहब को पेशवा के रूप में मिलने वाली पेंशन देने से अंग्रेज़ों ने इनकार कर दिया। खुद मुग़ल बादशाह को कह दिया गया था कि उसके बाद उसके उत्तराधिकारियों को बादशाह नहीं माना जाएगा। इन कार्रवाइयों से कमज़ोर हो चुके शासक-परिवारों में घबराहट फैल गई और अन्य शासकों में भय फैल गया कि उनकी भी अंततः यही गत होगी।

अंग्रेज़ों ने उन सरदारों और ज़मीदारों की भी शक्ति को नष्ट करने की नीति अपनाई जिनके इलाकों पर उन्होंने कब्ज़ा कर लिया था। उनमें से कइयों की ज़मीन छीन ली गई। अंग्रेज़ों ने भू-राजस्व की नई व्यवस्था लागू की, तो भूस्वामियों के पुराने परिवारों के अधिकार खत्म हो गए। किसी भी राज्य पर कब्ज़ा करने के बाद उसकी पुरानी प्रशासन-व्यवस्था खत्म कर दी जाती थी। तब पुरानी प्रशासन-व्यवस्था से जुड़े हुए व्यक्ति बेरोज़गार हो जाते थे। तुम पढ़ चुके हो कि जिन राज्यों पर कब्ज़ा किया गया था उनके न केवल शासक, बल्कि सैनिकों, कारीगरों तथा पंडितों-जैसे हज़ारों अन्य लोग भी प्रभावित हुए थे।

किसानों और दस्तकारों की बरबादी

अंग्रेज़ों द्वारा लागू की गई भूमि-व्यवस्थाओं से किसानों की हालत बदतर हो गई थी। पुराने ज़मींदारों को हटा देने पर भी किसानों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। कई मामलों में राजस्व की मांग में वृद्धि हुई, तो किसानों के कष्ट और भी बढ़ गए। वे पुराने शासकों और ज़मींदारों का सम्मान करते रहे। जब इंग्लैंड में तैयार हुआ माल भारत में पहुंचने लगा, तो यहां के पुराने हस्तशिल्प बरबाद हो गए। पीड़ित किसान और कारीगर ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने की लड़ाई में कूद पड़े।

धर्म और जाति के नष्ट होने का डर

अंग्रेज़ों की नीति और आचरण ने जनता में यह भय पैदा कर दिया था कि ब्रिटिश शासन उनके धर्म तथा रीति-रिवाजों को नष्ट कर देने पर तुला हुआ है। जनता को लगा कि ब्रिटिश सरकार उन्हें ईसाई बनाना चाहती है। कुछ ईसाई धर्म-प्रचारकों ने हिंदू धर्म और इस्लाम की तथा जनता के पुराने रीति-रिवाजों की खुले-आम निंदा की। ब्रिटिश सरकार ने सामाजिक सुधार के कुछ कदम उठाए थे। उनसे लोगों का भय और भी अधिक बढ़ गया था। सती-प्रथा खत्म कर दी गई थी। अंग्रेज़ों ने अनेक मामलों में जाति-नियमों की उपेक्षा की थी। उदाहरण के लिए, फ़ौजों, जेलों और रेलयात्रों के मामलों में । नई शिक्षण संस्थाओं को, जिनमें से कइयों की स्थापना ईसाई धर्म-प्रचारकों ने की थी, संदेह की नज़र से देखा जाता था। चूंकि ये सब नई बातें विदेशी शासकों ने शुरू की थीं, इसलिए भी ये लोगों को अमान्य थीं। अत: अनेक लोग अपने धर्म के नाम पर ब्रिटिश शासन के खिलाफ विद्रोह में शामिल हुए। कई मौलवियों ने पहले ही अंग्रेज़ों के खिलाफ जहाद (धर्मयुद्ध) का नारा दिया था। ब्रिटिश सरकार ने लोगों की धार्मिक भावनाओं की उपेक्षा की। इससे लोगों के दिलों को बड़ी चोट पंहुची। अंततः धर्म छिन जाने का भय विद्रोह भड़कने का तात्कालिक कारण बना।

भारतीय सैनिकों की शिकायतें

ब्रिटिश सरकार की भारतीय फ़ौजों में आठ में से सात भारतीय सैनिक थे। देश में फैलते असंतोष का इन सैनिकों पर असर होना स्वाभाविक था। भारत के पुराने शासक-परिवारों के साथ हुए अन्याय को उन्होंने भी अनुभव किया। आम जनता द्वारा भोगे जा रहे बढ़ते कष्टों से सैनिक भी सीधे प्रभावित हुए, क्योंकि वे भी भारतीय समाज के अभिन्न अंग थे। इसके अलावा, भारतीय सिपाहियों की अपनी भी कुछ खास शिकायतें थीं, जिनके कारण वे विद्रोह के अगुआ बने।

अंग्रेज़ों की फ़ौज में भारतीय सिपाहियों के लिए पदोन्नति के रास्ते बंद थे। फ़ौज में ऊंचे ओहदे यूरोपीय अफसरों के लिए सुरक्षित थे। भारतीय और यूरोपीय सैनिकों के वेतनों में भी बड़ा अंतर था। यूरोपीय अफ़सर भारतीय सिपाहियों को नफ़रत की निगाह से देखते थे। लड़ाई में जाने पर भारतीय सैनिकों को अतिरिक्त भत्ता मिलता था। लड़ाई खत्म होने पर और उनके सहयोग से जीते गए इलाके पर अंग्रेज़ों का कब्ज़ा हो जाने के बाद भारतीय सैनिकों का भत्ता बंद कर दिया जाता था। उनकी धार्मिक भावनाओं को आघात पहुंचा, तो उनका असंतोष और भी बढ़ गया। फलत:

एक विस्फोटक स्थिति पैदा हो गई। भारतीय सैनिकों को लड़ने के लिए समुद्र पार भी भेजा जाता था, मगर उस समय के हिंदुओं का धार्मिक विश्वास था कि समुद्र पार जाने से धर्म नष्ट हो जाता है। इस प्रकार, अन्य भारतीयों की तरह भारतीय सैनिकों में भी विश्वास बैठ गया कि उनका धर्म खतरे में है।

इस तरह जनता के विभिन्न समुदायों में विदेशी शासन के प्रति असंतोष बढ़ता जा रहा था। उसी दौरान सैनिकों को एक नए किस्म की राइफल दी गई। इसकी कारतूसों में गाय और सुअर की चर्बी लगाई जाती थी। राइफ़ल में कारतूस भरने के पहले उस पर लगे कागज को दांतों से काटना पड़ता था। चर्बी वाले इन कारतूसों के इस्तेमाल से हिंदू और मुसलमान सैनिकों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंची। यही बात विद्रोह का तात्कालिक कारण बनी। सैनिकों ने कारतूस भरने से इनकार कर दिया, तो मेरठ में 85 भारतीय सैनिकों को जेल की लंबी सज़ा सुनाई गई। तब 9 मई, 1857 को मेरठ के सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। दो महीने पहले बैरकपुर में मंगल पांडे ने नए कारतूसों का इस्तेमाल करने से इनकार कर दिया और विद्रोह किया, तो उसे मार दिया गया।

विद्रोह के मुख्य केंद्र

विद्रोही सेना ने दिल्ली पर कब्ज़ा कर

सैनिकों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए बैल गाड़ियों का प्रयोग

विद्रोहियों और अंग्रेज़ी सैनिकों के बीच युद्ध का दृश्य

लिया। उसने बहादुर शाह ज़फर को भारत का बादशाह घोषित कर दिया। उसके बाद विद्रोह देश के अन्य भागों में भी फैला। जिस मुग़ल बादशाह की कोई साख नहीं रह गई थी वह एकाएक उन सब के लिए एकता का प्रतीक बन गया जो विदेशी शासन को उखाड़ फेंकना चाहते थे। जिन क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर विद्रोह नहीं हुए वहां भी अशांति फैलने के कारण अंग्रेज़ घबरा गए। असम, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, सिंध, राजस्थान, महाराष्ट्र, हैदराबाद, पंजाब और बंगाल में विद्रोह हुए। इनमें से कुछ जगहों में विद्रोह स्थानीय या फ़ौजी बैरकों तक ही सीमित रहा और उसे आसानी से दबा दिया गया। कई जगहों में अंग्रेज़ों ने खतरे को टालने के लिए पहले ही भारतीय सिपाहियों से उनके हथियार छीन लिए थे।

दिल्ली, अवध, रुहेलखंड, बुंदेलखंड, इलाहाबाद के आसपास के इलाकों, आगरा, मेरठ और पश्चिमी बिहार में विद्रोह काफी व्यापक और भयंकर था। इन इलाकों में लोगों ने भारी संख्या में विद्रोह में भाग लिया और भयंकर लड़ाइयां लड़ीं। बिहार में विद्रोह सेना का नेतृत्व कुंवर सिंह ने किया। वहां विद्रोही सेना ने बिहार के कई हिस्सों को स्वतंत्र किया और वह लखनऊ तथा कानपुर में विद्रोहियों की सहायता के लिए आई। दिल्ली में विद्रोही

सेना का मुख्य सेनापति बख्त खाँ था। कानपुर में विद्रोहियों ने नाना साहब को पेशवा घोषित कर दिया और अज़ीमुल्ला उसका मुख्य सलाहकार बना। नाना साहब के सैनिकों का नेतृत्व तात्याँ टोपे कर रहा था। वह एक बहादुर और योग्य नेता था। झांसी में दिवंगत राजा की विधवा रानी लक्ष्मीबाई को शासक घोषित कर दिया गया। उसने लड़ाई में बड़ी बहादुरी से अंग्रेज़ों का मुकाबला किया। लुधियाना की सिक्ख रेजिमेंट के सैनिक पूर्वी उत्तर प्रदेश के विद्रोहियों से जा मिले। ब्रिटिश फ़ौज ने गोरखपुर और आज़मगढ़ से पलायन किया। जुलाई के शुरू में वाजिद अली शाह के नौजवान बेटे बिरजिस कादर को अवध की गद्दी पर बिठाया गया। उसकी मां हज़रत महल उसकी ओर से शासन करने लगी। मौलवी अहमदुल्ला के नेतृत्व में विद्रोहियों ने लखनऊ की रेजिडेंसी को घेर लिया। यह घेरा कई महीनों तक रहा। बरेली में अंग्रेज़ों

नाना साहब

के खिलाफ विद्रोह का नेतृत्व खान बहादुर खाँ ने किया।

कानपुर के नज़दीक विद्रोहियों और अंग्रेजी सैनिकों के बीच युद्ध का दृश्य

विद्रोह का दमन

पूरे विद्रोह के दौरान हिंदू और मुसलमान कंधे से कंधा मिलाकर लड़े। अंग्रेजो ने हिन्दुओं और मुसलमानों को एक-दूसरे से भिड़ाने की कोशिश की। उदाहरण के लिए, उन्होंने बरेली में खान बहादुर खाँ के नेतृत्व में विद्रोह कर रहे लड़ाकों के खिलाफ हिन्दुओं को भिड़ाने के लिए 50,000 रुपए मंज़ूर किए। मगर ऐसी तमाम कोशिशें बेकार रहीं। विद्रोह के नेताओं ने बहादुरशाह को हिंदुस्तान का बादशाह माना। वह विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए संघर्ष कर रहे सभी विद्रोहियों के लिए एकता का

प्रतीक बन गया। किंतु विद्रोह इतने व्यापक स्वरूप का होने पर भी एक साल से कुछ अधिक समय बाद ही कुचल दिया गया। सितंबर 1857 में अंग्रेज़ों ने दिल्ली पर पुनः कब्ज़ा कर लिया। बहादुरशाह को बंदी बनाया गया। उस पर अभियोग चला कर रंगून (बर्मा) में निर्वासित कर दिया। वहीं पर 1862 ई. में उसकी मृत्यु हुई। उसके तीन बेटों को पकड़ कर दिल्ली के खूनी दरवाजे के पास उन्हें गोली मार कर मौत के घाट उतार दिया गया। सितंबर 1858 ई. में लखनऊ पर ब्रिटिश सैनिकों का कब्ज़ा

बहादुरशाह को अंग्रेज़ों द्वारा कैदी बनाना

हो गया। मगर बेगम हज़रत महल ने समर्पण करने से इनकार कर दिया। वह नेपाल भाग गई। रानी लक्ष्मीबाई, जो झांसी की रानी के नाम से मशहूर हुई, झांसी से भाग निकली। तांत्याँ टोपे की मदद से उसने ग्वालियर पर कब्ज़ा कर लिया। अंत में जून 1858
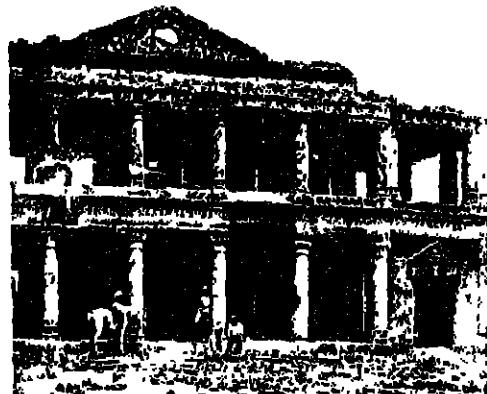
चित्र में लखनऊ में सिकंदर बाग के आन्तरिक भाग को दिखाया गया है जिस पर अंग्रेजों ने अपना कब्ज़ा कर लिया।

में लड़ते हुए उसकी मृत्यु हुई। अप्रैल 1858 में गंभीर रूप से घायल होने के बाद कुंवर सिंह की मृत्यु हो गई। उसके भाई के नेतृत्व में दिसंबर 1859 तक बिहार में लड़ाई चलती रही। नाना साहब ने नेपाल में भाग लिया। तांत्याँ टोपे मध्य प्रदेश और राजस्थान में अंग्रेज़ों से दो साल तक लड़ता रहा। एक मित्र के विश्वासघात के कारण वह अंग्रेज़ों के कब्ज़े में आ गया। उसे फांसी दे दी गई। 1858 ई. के अंत तक विद्रोह को कुचल दिया गया था, मगर पुनः शांति स्थापित करने में अंग्रेज़ों को कई साल लगे।

विद्रोह के दमन के दौरान और उसके बाद ब्रिटिश सैनिकों ने विद्रोही नेताओं, सैनिकों और आम जनता के साथ अमानवीय सलूक किया। विद्रोह के दौरान भारतीय सैनिकों ने भी निहत्थे अंग्रेज़ों और युद्ध

चित्र मे अंग्रेजो के अत्याचार को दिखाया गया है। विद्रोही सैनिको को तोप से बांधकर उडा दिया जाता था।

बंदियों के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार किया। विजयी ब्रिटिश सैनिकों ने बड़े पैमाने पर अत्याचार किए और बड़ी संख्या में लोगों को मौत के घाट उतार दिया। बहुतसे गांवों को मिट्टी में मिला दिया गया। शहरों को विद्रोहियों के कब्ज़े से मुक्त करने के बाद ब्रिटिश सैनिकों ने उन्हें खूब लूटा। अनुमान लगाया गया है कि अकेले अवध में ही करीब 1,50,000 लोगों की हत्याएं हुईं। बहुत बड़ी संख्या में विद्रोहियों को फांसी पर चढ़ाया गया और दूसरों को अमानवीय यातनाएं दी गईं।

विद्रोह का स्वरूप

सन् 1857 का विद्रोह भारतीय इतिहास को गौरवशाली अध्याय है। पहली बार देश के विभिन्न भागों के बीच एक ऐसे शासन के खिलाफ एकता स्थापित हुई थी जो सबका शत्रु था। विद्रोह के दौरान ऐसे अनेक नेता और योद्धा उभरे जिनकी

वीरता तथा बहादुरी ने उन्हें अमर बना दिया। रानी लक्ष्मीबाई, तांत्या टोपे और बख़्त खाँ-जैसे नेताओं की वीरता आगे की पीढ़ियों के आजादी के आंदोलन के लिए प्रेरणा तथा देशप्रेम का स्रोत बनी।

लेकिन विद्रोह में कुछ बुनियादी कमज़ोरियां थीं, जिनके कारण उसके सफल होने की कम ही उम्मीद थी। विद्रोह का नेतृत्व राजाओं और ज़मींदारों के हाथों में था। उनमें से अनेक विद्रोह में इसलिए शामिल हुए थे क्योंकि ब्रिटिश शासन उनके अस्तित्व के लिए खतरा बन गया था। वे भारत की परंपरागत राज्य-व्यवस्था के हिमायती थे और पुराने रिवाजों से चिपके हुए थे। तुम पढ़ चुके हो कि दुनिया के अन्य भागों में अठारहवीं सदी से बड़े पैमाने पर सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन हो रहे थे। विद्रोह के नेता यद्यपि विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए लड़ रहे थे, मगर वे पुरानी व्यवस्था को ही पुनः स्थापित करना चाहते थे।

विद्रोह को व्यापक स्वरूप आम जनता-सैनिकों, किसानों, दस्तकारों आदि-के सक्रिय सहयोग से प्राप्त हुआ था। मगर उनका नेतृत्व वे परंपरा-प्रेमी शासक कर रहे थे जिनकी शक्ति को विदेशी शासन ने तोड़ डाला था। जनता एक स्वतंत्र नेतृत्व कायम नहीं कर पाई। जनता के अपने स्वतंत्र सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक लक्ष्य भी नहीं थे। जैसा कि तुम जानते हो, यूरोप में जनतंत्र, राष्ट्रीयता और सामाजिक समता के नए आंदोलन ज़ोर पकड़ रहे थे। इंग्लैंड में भी आम जनता संगठित हो रही थी। वहां औद्योगिक श्रमिकों के एक नए सामाजिक वर्ग का उदय हुआ था। अपने को संगठित करके वे समान राजनीतिक अधिकारों की मांग कर रहे थे। वे सामाजिक असमानताओं को खत्म करने के लिए संघर्ष कर रहे थे। तुम्हें मालूम होना चाहिए कि उनके कई नेताओं ने भारतीय विद्रोह का समर्थन किया था और भारतीय जनता पर ब्रिटिश सैनिकों के अत्याचारों की निंदा की थी। उनका विचार था कि भारत के ब्रिटिश शासन से ब्रिटिश समाज का केवल एक छोटा उच्च वर्ग ही लाभान्वित हुआ है। उस उच्च वर्ग के ख़िलाफ ब्रिटेन की आम जनता ख़ुद संघर्ष कर रही थी। अंग्रेज़ों के ख़िलाफ वीरता से लड़ रही भारतीय जनता को दुनिया में हो रहे इन परिवर्तनों की जानकारी नहीं थी। विद्रोह के नेता अपनी खोई सत्ता को प्राप्त करने और पुरानी घिसी-पिटी व्यवस्था को स्थापित करने के लिए लड़ रहे थे। स्वयं जनता भी कुछ पिछड़े विचारों और अमानवीय प्रथाओं से ग्रसित थी। यह इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि जनता के कुछ असंतोषों का कारण

सती-प्रथा बंद करने और विधवाओं के पुनर्विवाह को कानूनी मंजूरी देने जैसे सुधार थे।

इस स्थिति के लिए बुनियादी कारण यह था कि समाज के अभी ऐसे समुदायों का उदय नहीं हुआ था जो सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में आमूल परिवर्तन करने के लिए लड़ते और जनता में एकता स्थापित करते। मगर ऐसे समुदायों का देश के कुछ भागों में उदय होना अब शुरू हो गया था। उनकी स्थिति अभी कमज़ोर थी, परंतु उन्होंने सामाजिक सुधारों का काम शुरू कर दिया था। जब विद्रोह भड़क उठा तो इन समुदायों ने विद्रोहियो के प्रति कोई खास हमदर्दी नहीं दिखाई, क्योंकि उनका विश्वास था कि केवल ब्रिटिश शासन के ज़रिए ही भारतीय समाज में सुधार आ सकता है और यह आधुनिक बन सकता है। मगर यह विश्वास काफी हद तक मिथ्या साबित हुआ। विद्रोह के बाद के सालों में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने साकार रूप धारण किया। इस आंदोलन का उद्देश्य था भारत को विदेशी शासन से मुक्त करना और भारतीय समाज का पुनर्निर्माण करना।

विद्रोह की कई अन्य कमज़ोरियां भी थीं। मुग़ल बादशाह को विद्रोहियों ने भारत का सम्राट मान लिया था और ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के उद्देश्य से सभी विद्रोही एकजुट नहीं हो पाए थे। विद्रोही अधिकतर अपने खास इलाकों में ही लड़ते रहे। विभिन्न क्षेत्रों में लड़ रही शक्तियों के बीच ठीक से कोई तालमेल भी नहीं था। इसके अलावा, जिन राजाओं और सरदारों को अंग्रेज़ों ने पदच्युत नहीं किया था उनमें से बहुतों ने विद्रोह के दौरान अंग्रेज़ों का साथ दिया। विद्रोह में भाग लेने वाले अधिकांश राजा और सरदार वे ही थे जिनके इलाकों पर अंग्रेज़ो ने कब्ज़ा कर लिया था। उनमें से कुछ ने तो विद्रोह के दौरान ही इस मकसद से अंग्रेज़ों से समझौते की बात शुरू कर दी थी कि उन्हें उनके अधिकार वापस मिल जाएंगे। इस तरह उन्होंने विद्रोहियों के साथ विश्वासघात किया। जिन इलाकों को ब्रिटिश शासन से मुक्त कर लिया गया था वहां अच्छा और कुशल प्रशासन स्थापित करने की दिशा में नगण्य प्रयास हुए। ब्रिटिश शासन के प्रति सब जगह तीव्र असंतोष भी नहीं था। उदाहरण के लिए, कई साल की लड़ाई के बाद पंजाब में अंग्रेज़ों ने व्यवस्थित प्रशासन कायम किया था। वहां लोग उत्तर भारत के अन्य भागों की तरह असंतुष्ट नहीं थे। इसलिए विद्रोहियों के प्रति सहानुभूति होते हुए भी पंजाब में बड़े पैमाने पर कोई बग़ावत नहीं हुई।

सन् 1857 के विद्रोह के साथ भारतीय इतिहास का एक युग समाप्त हो गया। अठारहवीं सदी की भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को अंततः पूरी तरह खत्म कर दिया गया। जिन भारतीय राज्यों पर अंग्रेज़ों का कब्ज़ा नहीं हुआ था उन्हें कायम रहने दिया गया, मगर उनकी स्वतंत्रता खत्म हो गई। व्यावहारिक रूप में वे ब्रिटिश राज्य के अंग बन गए। विद्रोह के बाद कंपनी का शासन खत्म हो गया और ब्रिटिश सरकार ने भारत में अपने साम्राज्य पर सीधे शासन करना शुरू कर दिया। भारत के प्रति ब्रिटिश शासकों की नीतियों तथा भावनाओं में अनेक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों के बारे में तुम अगले अध्याय में पढ़ोगे।

अभ्यास

1. नीचे दिए गए प्रश्नों के उत्तर दोः
    1. 1857 ई. के पूर्व ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हुए विद्रोहों का वर्णन करो। अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही ये विद्रोह क्यों असफल रहे?
    2. सन् 1857 ई. का विद्रोह पहले के सारे विद्रोहों से किस प्रकार भिन्न था?
    3. भारतीय शासकों के असंतोष के क्या कारण थे?
    4. भारतीय राज्यों को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिए जाने से आम जनता का आर्थिक जीवन किस प्रकार प्रभावित हुआ?
    5. ब्रिटिश सरकार द्वारा उठाए गए समाज सुधार के कदमों से कुछ लोगों में असंतोष क्यों फैला?
    6. सेना के भारतीय सिपाहियों में असंतोष फैलने के क्या कारण थे?
    7. भारत के उन क्षेत्रों के नाम बताओ जहाँ सन् 1857 ई. का विद्रोह काफी व्यापक था।
    8. सन् 1857 ई. के विद्रोह के कुछ नेताओं के नाम बतलाओ और उनकी भूमिका पर प्रकाश डालो।
    9. किन कारणों से नवोदित मध्यम वर्ग ने विद्रोहियों का समर्थन नहीं किया?
    10. सन् 1857 ई. के विद्रोह की असफलता के मुख्य कारण क्या थे?

2. नीचे दिए गए प्रश्नों में से प्रत्येक के लिए चार संभव उत्तर दिए गए हैं। जिस उत्तर को तुम सही समझते हो उसके आगे (√) निशान लगाओः

 1. निम्नलिखित कथनों में से कौन–सा कथन सन् 1857 ई. के विद्रोह के चरित्र को अच्छी तरह स्पष्ट करता है?

  क. पुरानी राजनीतिक व्यवस्था द्वारा फिर सत्ता प्राप्त करने के प्रयास।

  ख. ब्रिटिश सेना के भारतीय सिपाहियों का विद्रोह।

  ग. विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए आम जनता का संघर्ष।

  घ. संयुक्त भारतीय राष्ट्र की स्थापना के प्रयास।

3. सन् 1857 ई. के विद्रोह की असफलता के लिए निम्नलिखित कारणों में से सबसे अधिक जिम्मेदार कौन–सा कारण था?

 क. भारतीयों में राजनीतिक चेतना का अभाव।

 ख. विद्रोहियों को प्रबुद्ध मध्यम वर्ग के समर्थन का अभाव।

 ग. विद्रोहियों के आपसी झगड़े और द्वेष।

 घ. विद्रोहियों के शक्तिशाली नेतृत्व का अभाव।

4. सन् 1857 ई. के विद्रोह के संबंध में नीचे कुछ कथन दिए गए हैं। जो सही हो उसके सामने (√) निशान और जो गलत हो उसके आगे (×) निशान लगाओ।

 क. सन् 1857 ई. में पहली बार भारतीय सिपाहियों ने अंग्रेज़ों के खिलाफ विद्रोह किए।

 ख. उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में भारत के लोग औद्योगिक क्रांति के महत्त्व को समझ गये थे।

 ग. अंग्रेजों के सामाजिक सुधारों को भारत के लोगों ने आसानी से स्वीकार कर लिया।

 घ. अंग्रेज़ों द्वारा नई भूमि व्यवस्थाएँ लागू की जाने के कारण पुराने सामंत बुरी तरह प्रभावित हुए थे।

 ङ. अधिकतर भारतीय शासकों ने सन् 1857 ई. के विद्रोह में भाग लिया।

 च. आवश्यक एकता का अभाव सन् 1857 ई. के विद्रोह की असफलता का एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

5. करने के लिए कार्य

1. भारत का एक मानचित्र बनाओ और उसमें विद्रोह से संबद्ध रख. . वाले इलाकों को दिखाओ और यह भी दिखलाओ कि विभिन्न इलाकों में विद्रोह के नेता कौन थे।

2. दिल्ली में रहने वाले छात्रों को सन् 1857 ई. की दिल्ली का मानचित्र बनाकर विद्रोह से संबद्ध रखने वाले स्थानों को दिखलाना चाहिए। दिल्ली में रहने वाले छात्रों को दिल्ली के विद्रोह के संबंध में विस्तार से पढ़ना चाहिए और विद्रोह से संबद्ध रखने वाली जगहों को देखना चाहिए। फिर उन्हें दिल्ली में विद्रोह के संबंध में एक लेख तैयार करना चाहिए।

अध्याय 6

सन् 1858 ई. के बाद भारत में ब्रिटिश नीतियां और प्रशासन

सन् 1857 ई. के विद्रोह को कुचल दिए जाने के बाद भारत में ब्रिटिश शासन के इतिहास का एक नया दौर शुरू हुआ। भारत के प्रशासन में कंपनी की भूमिका को समाप्त कर दिया गया। भारत पर ब्रिटिश सरकार का सीधा नियंत्रण स्थापित हो गया। भारत के प्रति ब्रिटिश नीति और प्रशासनिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस अधयाय में तुम इन परिवर्तनों के बारे में और भारत के प्रति ब्रिटिश नीति के बारे में पढ़ोगे।

1858 ई. का एक्ट और इंग्लैंड की महारानी की घोषणा

अगस्त 1858 में ब्रिटिश पार्लियामेंट (संसद) ने एक अधिनियम (एक्ट) पास किया। इस एक्ट ने भारत में कंपनी के शासन को समाप्त कर दिया। भारत पर ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण ब्रिटिश शासक के नियंत्रण में बदल गया। उस समय विक्टोरिया इंग्लैंड की महारानी थी। ब्रिटेन में सर्वोच्च संस्था पार्लियामेंट थी। ब्रिटिश सरकार वहां की पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी थी। ब्रिटिश सरकार राजा या रानी के नाम पर राजकाज चलाती थी। ब्रिटिश सरकार का एक मंत्री, जिसे राज्य-सचिव कहते हैं, भारत सरकार की ज़िम्मेदारी संभालता था। तुम पहले पढ़ चुके हो कि भारत के शासन में कंपनी की वास्तविक सत्ता घटती जा रही थी और ब्रिटिश सरकार की बढ़ती जा रही थी। 1858 ई. के एक्ट ने इस प्रक्रिया पर पूर्ण विराम लगा दिया। चूंकि ब्रिटिश सरकार पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी थी, इसलिए ब्रिटिश पार्लियामेंट भारत के लिए सर्वोच्च सत्ता बन गई। भारत के गवर्नर-जनरल को अब वायसराय की पदवी मिल गई। वायसराय का मतलब है ब्रिटिश शासक (राजमुकुट) का प्रतिनिधि।

महारानी विक्टोरिया ने एक राजाज्ञा जारी की। गवर्नर-जनरल कैनिंग ने 1 नवंबर को इलाहाबाद में एक दरबार किया और उसमें महारानी की राजाज्ञा पढ़ कर सुनाई गई। घोषणा की गई कि भारतीय राजाओं के अधिकार सुरक्षित रहेंगे और अब अंग्रेजी राज

Proclamation by the Queen in Council,
TO THE PRINCES, CHIEFS, AND PEOPLE OF INDIA.

Victoria,

BY THE GRACE OF GOD, OF THE UNITED KINGDOM OF GREAT BRITAIN AND IRELAND, AND OF THE COLONIES AND DEPENDENCIES THEREOF IN EUROPE, ASIA, AFRICA, AMERICA, AND AUSTRALASIA,

Queen, *Defender of the Faith.*

Whereas, for divers weighty reasons, We have resolved, by and with the advice and consent of the Lords Spiritual and Temporal, and Commons, in Parliament assembled, to take upon Ourselves the Government of the Territories in India, heretofore administered in trust for Us by the Honourable East India Company.

Now, therefore, We do by these Presents notify and declare that, by the advice and consent aforesaid, We have taken upon Ourselves the said Government, and We hereby call upon all Our Subjects within the said Territories to be faithful, and to bear true Allegiance to Us, Our Heirs and Successors, and to submit themselves to the authority of those whom We may hereafter, from time to time, see fit to appoint to administer the Government of Our said Territories, in Our name and on Our behalf:

And We do hereby confirm in their several Offices, Civil and Military, all Persons now employed in the Service of the Honourable East India Company, subject to Our future pleasure, and to such Laws and Regulations as may hereafter be enacted.

महारानी विक्टोरिया के घोषणा पत्र का एक भाग

में नए इलाके नहीं मिलाए जाएंगे। घोषणा में यह भी वादा किया गया कि लोगों के पुराने अधिकारों तथा रीति-रिवाजों को उचित सम्मान दिया जाएगा और न्याय, उदारता तथा धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाई जाएगी। घोषणा में यह भी कहा गया कि प्रशासनिक सेवाओं में किसी भी धर्म और जाति का व्यक्ति प्रवेश पा सकेगा। इस प्रकार, जहां एक ओर यह वादा किया गया कि राजाओं को सुरक्षा मिलेगी, वहां दूसरी ओर मधयवर्ग के लिए तरक्की के रास्ते खोलने का भी वादा किया गया। मगर जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया कि नए सामाजिक वर्गों की तरक्की के लिए समान अवसर प्रदान करने का जो वादा किया गया था वो पालन करने के लिए नही था। वस्तुत: अनेक ब्रिटिश प्रशासकों का, कुछ वायसरायों का भी, विचार था कि ऐसा वादा करना एक गलती थी। भारत के पुराने रीति-रिवाजों का सम्मान करने का जो वादा किया गया था वह सामाजिक कुप्रथाओं को बनाए रखने की नीति के रूप में बदल गया। अंग्रेज़ों को यकीन हो गया कि पुरानी सामाजिक व्यवस्था को कायम रख कर ही वे भारत पर अपना

गवर्नर जनरल लार्ड केनिंग के द्वारा भारतीय राजाओं को, जिन्होनें सन् 1857 के विद्रोह को कुचलने मे अंग्रेजों की मदद की थी, सम्मानित करते हुए दिखाया गया है।

शासन बनाए रख सकते हैं। अच्छा हुआ कि सती-प्रथा को बंद करने और विधवा पुनर्विवाह को कानूनी मंजूरी देने-जैसे कदम 1857 ई. के पहले उठाए गए थे। उसके बाद विदेशी शासकों ने सामाजिक सुधारों में कोई दिलचस्पी नहीं ली। यहां तक कि भारतीय नेताओं ने ऐसे सुधारों की मांग की, तो अंग्रेज़ों ने उसका विरोध किया।

सन् 1858 ई. के बाद ब्रिटेन के हितों के सामने भारत के हित और अधिक गौण हो गए। औद्योगिक क्रांति के बाद इंग्लैंड के राजनीतिक जीवन में ब्रिटिश उद्योगपति सबसे प्रभावशाली वर्ग के रूप में उभरे थे। संसार के अन्य भागों में भी, विशेषकर अफ्रीका में, ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार हो रहा था। ब्रिटिश साम्राज्य का अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों से भी संघर्ष चल रहा था। इस संघर्ष में ब्रिटेन के आर्थिक हितों के लिए भारत का इस्तेमाल किया गया। संसार के अन्य भागों में भी ब्रिटिश साम्राज्य के हितों के लिए भारतीय साधनों का उपयोग किया गया। भारतीय साधनों से अंग्रेज़ों ने दूसरे देशों में खर्चीली लड़ाइयां लड़ीं।

इंग्लैंड से भारतीय सरकार पर नियंत्रण

तुम पहले पढ़ चुके हो कि भारत सचिव को भारत सरकार की पूर्ण जिम्मेदारी

सौंपी गई थी। ब्रिटिश सरकार के अन्य मंत्रियों की तरह वह भी केवल ब्रिटिश पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी था। भारत सचिव को सलाह देने के लिए एक इंडिया कौंसिल (भारत परिषद) बनाई गयी थी। इसके कुछ सदस्यों ने भारत में काम किया था, इसलिए उन्हें भारतीय परिस्थितियों की प्रत्यक्ष जानकारी थी। मगर भारतीय सचिव किसी भी मामले में कौंसिल के सुझाव को ठुकरा सकता था।

सन् 1857 ई. तक गवर्नर-जनरल इंग्लैंड मे निर्धारित आम नीतियो के अनुसार स्वयं निर्णय लेकर काम करता था। इंग्लैंड के साथ संचार-संबंध स्थापित करने में लंबा समय लगता था। संचार-साधनों में सुधार हुए तो स्थिति बदल गई। 1870 ई. में भारत और इंग्लैंड के बीच टेलीग्राफ-संबंध स्थापित हो गया। इससे संचार-व्यवस्था सुगम हो गई। अब भारत सरकार और भारत सचिव के बीच दैनिक विचार-विमर्श संभव हो गया। भाप के इंजनों से चलने वाले जहाज़ों ने इंग्लैंड और भारत के बीच की यात्रा का समय कम कर दिया। 1869 ई. में स्वेज़ नहर खुल जाने से भूमध्य सागर और लाल सागर एक-दूसरे से जुड़ गए। इससे इंग्लैंड और भारत के बीच की दूरी काफ़ी कम हो गई। परिवहन और संचार के क्षेत्र में हुए इन सुधारों ने उस आज़ादी को कम कर दिया जो पहले भारत के गवर्नर-जनरल को मिली हुई थी। अब भारत सचिव को भारत के बारे में ताज़ी सूचनाएं मिलने लगीं। भारत का प्रशासन अब उसकी सीधी देख-रेख में आ गया।

भारत सचिव भारतीय जनता के प्रति कतई उत्तरदायी नहीं था। यहां तक कि भारत का गवर्नर-जनरल भी व्यवहार में उसके महज़ एक प्रतिनिधि के रूप में ही काम करता था। इसका अर्थ यह था कि भारत सरकार ब्रिटिश सरकार के पूर्णतः अधीन हो गई। ब्रिटिश सरकार को होम गवर्नमेंट (स्वदेश सरकार) कहा जाने लगा। इस तरह, भारत के शासन में ब्रिटिश सरकार के हित सर्वोपरि हो गए और, ब्रिटिश सरकार के हितों को वे लोग निर्धारित करते थे जिनका ब्रिटेन के आर्थिक जीवन पर कब्ज़ा था।

भारत सरकार

तुम पहले पढ़ चुके हो कि नीतियां बनाने और उन्हें लागू करने के अधिकार गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद् के हाथों में थे। परिषद् में गवर्नर-जनरल, चार सामान्य सदस्य और मुख्य सेनापति शामिल थे। इसे कार्यकारी परिषद् कहते थे। कानून बनाने के लिए एक विधान परिषद् (लेजिस्लेटिव कौंसिल) थी। इसमें कार्यकारी परिषद् के सदस्यों के अलावा छह सदस्य और थे। 1861 ई. में बने एक कानून के तहत कार्यकारी परिषद् के सामान्य सदस्यों की संख्या बढ़ा

कर पांच कर दी गई। अब इस परिषद् का प्रत्येक सदस्य सरकार के एक खास विभाग का कामकाज देखने लगा। विधान परिषद् के सदस्यों की संख्या छह से बढ़ा कर बारह कर दी गई। कभी-कभी वफ़ादार भारतीयों को भी इस परिषद् में मनोनीत किया जाता था। ये भारतीय प्रायः राजा, ज़मींदार या धनी व्यापारी होते थे। मगर विधान परिषद् के कानून बनाने के अधिकार अत्यंत सीमित थे। कौंसिल के सदस्यों को गवर्नर-जनरल मनोनीत करता था।

सन् 1861 ई. के कानून के तहत प्रांतीय प्रशासन में भी कुछ परिवर्तन हुए। बंगाल, मद्रास और बम्बई प्रांतों का प्रशासन गवर्नर और तीन सदस्यों की एक कार्यकारी परिषद् देखती थी। अब इन प्रांतों के लिए विधान परिषदें भी बनाई गईं। ऐसी प्रांतीय विधान परिषद् में कार्यकारी परिषद् के सदस्यों के अलावा चार से आठ तक अतिरिक्त सदस्य होते थे। बाद में अन्य प्रांतों के लिए भी विधान परिषदें बनाई गईं। इन प्रांतीय विधान परिषदों के अधिकार केंद्रीय विधान परिषद् के अधिकारों से भी अधिक सीमित थे। केंद्रीय विधान परिषद् को 'इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल' कहा जाता था।

सन् 1861 ई. के कानून ने सरकार के लिए एक बुनियादी ढांचा प्रस्तुत किया जो लंबे समय तक कायम रहा। समय-समय पर इस सामान्य ढांचे में परिवर्तन किए गए। अब भारत में राष्ट्रीय आंदोलन का भी उदय हो रहा था। भारतीय नेता मांग करने लगे कि विधान परिषदों को प्रतिनिधि संस्थाएं बनाया जाए और इनके सदस्य जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधि हों। उन्होंने इन परिषदों के लिए अधिक अधिकारों की भी मांग की।

सन् 1892 ई. में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने 'इंडियन कौंसिल एक्ट' नामक कानून पास किया। इसके तहत केंद्रीय विधान परिषद् और प्रांतीय परिषदों के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। इस कानून ने कुछ सदस्यों को अप्रत्यक्ष रूप से चुन लेने की भी मंजूरी दे दी। मगर अभी जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों की व्यवस्था नहीं की गई थी। कौंसिलों में सरकारी सदस्यों का ही बहुमत था। विधान परिषदों को कुछ अधिक अधिकार दिए गए। सदस्यों को प्रश्न पूछने और बजट पर चर्चा करने के अधिकार दिए गए।

विधान परिषदों की स्थापना के बावजूद भारत सरकार व्यवहार में निरंकुश बनी रही। उसका मुख्य उद्देश्य भारत में ब्रिटेन के आर्थिक तथा राजनीतिक हितों की रक्षा तथा बढ़ोत्तरी करना था। भारत सरकार ने ब्रिटिश व्यापारियों, उद्योगपतियों, बागान-मालिकों, प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों आदि के हितों की भी रक्षा की। इन समुदायों ने सरकार को ऐसी नीतियां अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया जो भारतीय

जनता के लिए प्राय: हानिकर थीं। भारत सरकार के संचालन में भारतीय जनता का कोई दख़ल नहीं था, न ही भारत सरकार उसके हितों का कोई ध्यान रखती थी। विधान परिषदों में जिन चंद भारतीयों को सदस्य बनाया गया था वे समाज के उच्च-वर्गों के व्यक्ति थे।

स्थानीय शासन

स्थानीय सरकार के संगठन में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। भारत पर अंग्रेज़ों का कब्ज़ा होने के बाद स्थानीय शासन की ग्राम-पंचायतों-जैसी व्यवस्थाएं टूट गई थीं। स्थानीय महत्त्व के मामलों-सफाई, सड़कें, सड़कों पर रोशनी, पेयजल की आपूर्ति आदि-पर बहुत कम ध्यान दिया गया। 1857 ई. के बाद शहरों के लिए नगरपालिकाएं बनने लगीं। इन नगरपालिकाओं ने स्थानीय प्रशासन और निर्माण-कार्य हेतु धन जुटाने के लिए कर लगाए। 1882 ई. के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में ज़िला-बोर्डों का गठन किया गया। जैसा कि तुम जानते हो, केवल स्थानीय लोग ही अपने इलाके की समस्याओं को समझ सकते हैं और उन्हें सही ढंग से हल कर सकते हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि स्थानीय मामलों को देखने वाली स्थानीय शासन-संस्थाओं में उस इलाके के लोगों के प्रतिनिधि हों। मगर अंग्रेज़ों द्वारा गठित स्थानीय शासन में कोई निर्वाचित प्रतिनिधि नहीं होते थे। 1882 ई. के बाद इन संस्थाओं में निर्वाचित सदस्यों को भी शामिल किया गया, मगर उन्हें केवल धनी लोग ही वोट देकर चुनते थे। भारतीय नेताओं ने गांव के स्तर तक स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था स्थापित करने की मांग की।

वित्तीय प्रशासन

सन् 1857 ई. के बाद वित्तीय प्रशासन का भी पुनर्गठन किया गया। पहले बजट की कोई व्यवस्था नहीं थी। तुम जानते हो कि बजट में सरकार को विभिन्न स्रोतों से होने वाली वार्षिक आय का और विभिन्न मदों में होने वाले खर्च का अनुमानित ब्यौरा प्रस्तुत किया जाता है। सरकारी आय को केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच बांटने की भी कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी। ब्रिटिश साम्राज्य के हितों के लिए लड़े जा रहे युद्धों पर होने वाले खर्चों के लिए अतिरिक्त आय की समस्या भी सरकार के सामने थी। 1860 ई. में बजट की व्यवस्था शुरू की गई और प्रत्येक स्रोत से होने वाली अनुमानित आय का ब्यौरा तैयार किया गया। कुछ साल बाद केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच आय के वितरण के बारे में भी निर्णय लिया गया। डाकघरों, रेलवे, अफ़ीम तथा नमक की बिक्री और चुंगी से होने वाली आय को पूर्णत: केंद्रीय सरकार के लिए सुरक्षित रखा गया। भू-राजस्व, आबकारी आदि स्रोतों से

होने वाली आय को केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच बांटा गया। सरकार के राजस्व में वृद्ध करने के भी प्रयास किए गए। अफ़ीम तथा नमक के उत्पादन और बिक्री पर सरकार का एकाधिकार था। अदालतों में मुकद्दमा चलाने के लिए मुद्रांक-शुल्क (स्टैम्प ड्यूटी) नामक कर लगाया गया। व्यापारी लेन-देन पर भी ऐसे ही मुद्रांक-शुल्क लगाए गए। भारत में उस समय सूती कपड़े के कारखाने और अन्य कुछ उद्योग स्थापित हो रहे थे। स्थानीय उद्योगों का विकास हो सके इसलिए विदेशों से आयातित वस्तुओं पर चुंगी लगाई जाती है। भारत की ब्रिटिश सरकार ने ऐसी वस्तुओं पर चुंगी लगाई, मगर उसकी दर समय-समय पर बदलती रही। चुंगी लगाने के कारण इंग्लैंड में उत्पादित माल की, विशेषकर सूती कपड़े की, बिक्री पर बुरा असर पड़ा। ब्रिटिश उद्योगपतियों के दबाव के कारण 1882 ई. में चुंगी ख़त्म कर दी गई, मगर राजस्व की कमी को पूरा करने के लिए 1894 ई. में पुन: चुंगी लगा दी गई। तब ब्रिटिश सरकार ने भारत सरकार पर दबाव डाला कि वह भारतीय वस्तुओं पर भी बराबरी का उत्पाद-शुल्क लगाए, ताकि भारत में ब्रिटिश वस्तुओं की बिक्री न घटे। 1860 ई. में आय कर भी लगाया गया। मगर बाद में उसे ख़त्म कर दिया गया। कुछ समय बाद आय कर फिर लगाया गया। भारत की जनता को ये तमाम कर एक ऐसी सरकार को देने पड़ते थे जो उनके प्रति उत्तरदायी नहीं थी, बल्कि जो ब्रिटेन के हितों की रक्षा तथा बढ़ोत्तरी के लिए चलाई जा रही थी।

सेना का पुनर्गठन

तुम देख चुके हो कि 1857 ई. के विद्रोह में भारतीय सैनिकों ने बड़े महत्त्व की भूमिका अदा की थी। वैसा विद्रोह पुन: न हो, इसलिए सेना का पुनर्गठन किया गया। पहले बंगाल, मद्रास तथा बम्बई प्रांतों की अपनी अलग-अलग सेनाएं थीं। प्रत्येक प्रांत की सेना में भारतीय सैनिक, कंपनी द्वारा भरती किए गए यूरोपीय सैनिकों की टुकड़ियां तथा ब्रिटिश सैनिकों की रेजिमेंटें होती थीं। 1858 ई. के बाद यूरोपीय सैनिकों और ब्रिटिश सेना की इकाइयों को मिला दिया गया। 1859 ई. में प्रांतों की पृथक सेनाओं का एकीकरण किया गया और भारत में ब्रिटिश सरकार की समूची सेना को एक सेनाध्यक्ष के नियंत्रण में लाया गया। भारतीय सैनिकों को तोपखाने और शस्त्रागारों से अलग रखने का निर्णय लिया गया। यूरोपीय सैनिकों की संख्या भी बढ़ाई गई। भारतीय सैनिकों और यूरोपीय सैनिकों का अनुपात 2:1 रखा गया। बाद में इसे बढ़ाकर 5:2 कर दिया

गया। यह व्यवस्था 1914 ई. में प्रथम महायुद्ध शुरू होने तक कायम रही। सेना के सभी अफ़सर यूरोपीय थे।

अपनी स्थिति को अधिक मजबूत बनाने के लिए अंग्रेजों ने "फूट डालो और शासन करो" की नीति अपनाई। विभिन्न इलाकों, जातियों या कबीलों के सैनिकों की कंपनियो को मिलाकर रेजिमेंट का गठन किया गया। उद्देश्य यह था कि यदि एक कंपनी विद्रोह करे, तो उसे कुचलने के लिए दूसरी कंपनियों का इस्तेमाल किया जा सके। भारतीयों को दो वर्गों में बांटा गया–एक वर्ग वीर लड़ाकों का और दूसरा उनका जो वीर लड़ाके नहीं हैं। ज़्यादातर इन तथाकथित वीर जातियों के लोगों को ही सेना में भरती किया जाता था। भारतीय जनता में फूट डालने के लिए यह नीति अपनाई गई थी।

अंग्रेज़ों ने अपनी भारतीय सेना का इस्तेमाल भारत पर अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए ही नहीं, बल्कि संसार के अन्य भागों में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के लिए भी किया। भारतीय सैनिक ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के लिए अफ़गानिस्तान, बर्मा तथा अन्य कई स्थानों में लड़े। भारत के अनेक राष्ट्रवादी नेताओं ने अन्य देशों के विरुद्ध अंग्रेज़ों द्वारा भारतीय सैनिकों और साधनों का उपयोग किए जाने का विरोध किया।

सिविल सर्विस

तुम पहले पढ़ चुके हो कि देश का शासन चलाने के लिए सिविल सर्विस की स्थापना की गई थी। सिविल सर्विस को ब्रिटिश साम्राज्य का 'इस्पाती चौखटा' कहा जाता था। महत्त्व के सारे सरकारी पदों पर सिविल सर्विस के लोग ही नियुक्त किए जाते थे। तुम पढ़ चुके हो कि 1853 ई. से सिवल सर्विस के सदस्यों की भरती प्रतियोगिता परिक्षाओं के ज़रिए होने लगी थी। ये परिक्षाएँ इंग्लैंड मे होती थी। उनमे बहुत कम भारतीय बैठ पाते थे। परीक्षाएं अंग्रेज़ों में होती थीं। प्रतियोगिता परीक्षा में बैठने के लिए भारतीयों को एक नितांत भिन्न वातावरण में रहना पड़ता था।

परीक्षा में बैठने की उम्र 1853 ई. में 23 वर्ष थी। 1866 ई. में इसे घटाकर 21 वर्ष और 1876 ई. में 19 वर्ष कर दिया गया। इससे प्रतियोगिता में अंग्रेजो की बराबरी करने में भारतीयों को कठिनाई होने लगी। महारानी की घोषणा में कहा गया था कि सिविल सर्विस में प्रवेश पाने के लिए भारतीयों को अंग्रेज़ों के बराबर अवसर प्रदान किए जाएंगे। मगर वास्तव में सिविल सर्विस पर अंग्रेज़ों का ही एकाधिकार बना रहा। कई गवर्नर–जनरलों ने यहां तक सुझाव दिया था कि भारतीयों को ऊंचे पदों की नौकरियां न दी जाएं। शिक्षित भारतीयों ने मांग की कि प्रतियोगिता परीक्षाओं के लिए आय की सीमा बढ़ाई जाए

और ये परीक्षाएं इंग्लैंड तथा भारत में एक साथ हो। मगर ब्रिटिश सरकार और गवर्नर-जनरलों-सहित बड़े अंग्रेज़ अफ़सर भारतीयों को पसंद नहीं करते थे। वे नहीं चाहते थे कि शिक्षित भारतीय अपने को अंग्रेज़ों के बराबर समझे। विदेशी शासन की सभी जगह यह एक विशेषता होती है कि विदेशी शासक स्थानीय जनता से अपने को श्रेष्ठ समझते हैं। विदेशी अफ़सरों को यह सिखाया जाता है कि वे जिन लोगों पर शासन करते हैं उन्हें निकृष्ट जाति का समझें। उन्हें यह भी सिखाया जाता है कि ऐसी जाति पर शासन करना उनका अधिकार है। इस तरह सोचने से शासकों में जातीय घमंड आ जाता है। वे शासित लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। सरकार की नीतियां बनाने और उन्हें लागू करने में ब्रिटिश सिविल सर्विस के लोगों का बड़ा हाथ था। भारत की सरकार पर उनका बड़ा बुरा प्रभाव रहा। उनके रवैयों से कभी-कभी सरकार तक हक्का-बक्का रह गई थी। उदाहरण के लिए, 1876 ई. में एक अंग्रेज वकील ने अपने भारतीय नौकर को इतना पीटा कि वह मर गया। वकील को केवल 30 रुपए जुर्माना हुआ। ऐसी घटनाएं अक्सर होती रहती थीं। कभी-कभी सरकार को भी ऐसे मामलों में हस्तक्षेप करना पड़ता था।

1883 ई. में, गवर्नर-जनरल रिपन के समय में एक विधेयक पेश किया गया। इस विधेयक के ज़रिए भारतीय और यूरोपीय जजों के बीच का भेद खत्म कर दिया गया। इसे "इलबर्ट विधेयक" कहते हैं। इस विधेयक में कहा गया कि भारतीय जज भी, मामला उसके अधिकार-क्षेत्र में आने पर, यूरोपीय लोगों के विरुद्ध मुकदमें की सुनवाई कर सकता है। सिविल सर्विस के लोगों ने और बड़ी तादाद में यूरोपीय लोगों ने विधेयक का विरोध किया। मजबूर होकर सरकार को विधेयक वापस लेना पड़ा।

सन् 1879 ई. में एक नई प्रशासकीय सेवा बनी जिसमें हर साल कुछ भारतीय भरती किए जा सकते थे। मगर नियुक्ति प्रतियोगिता के आधार पर नहीं होती थी। इस सेवा के लिए उन भारतीय परिवारों से भरती की जाती थी जिन्हें अंग्रेज़ अच्छा समझते थे। अर्थात्, भरती समाज के उन उच्च-वर्गों से की जाती थी जो ब्रिटिश शासन के समर्थक थे। 1886 ई. के बाद विभिन्न प्रकार की तीन सेवाएं बनीं। उनमें एक पुरानी सिविल सर्विस थी जिसे इंडियन सिविल सर्विस (आई.सी.एस.) का नाम दिया गया। उच्च पदों के अधिकारी इसी सेवा के होते थे। वे अधिकतर अंग्रेज़ होते थे। प्रांतों के लिए भी सिविल सर्विस बनी। इसे प्रांतों के आधार पर नाम दिए गए। जैसे, बंगाल सिविल सर्विस। इसके अलावा पेशेवर कामों के लिए एक और सर्विस बनी। उदाहरण के लिए, एज्यूकेशनल सर्विस (शिक्षा सेवा)।

ब्रिटिश शासन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी – अफ़सरशाही का बोलबाला। वे अपने को जनता से ऊपर समझते थे। हालांकि उनमें से कुछ काफी परिश्रम करते थे, मगर उनकी बुनियादी मान्यता यही थी कि उनका काम जनता पर शासन करना है, जनता का कल्याण करना नहीं।

भारतीय राजाओं के प्रति ब्रिटिश नीति

सन् 1857 ई. में ब्रिटिश सरकार ने अपने शासन को मज़बूत बनाने की नियत से भारतीय राजाओं को बनाए रखने की नीति अपनाई। तुम पहले पढ़ चुके हो कि महारानी की घोषणा में वादा किया गया था कि भारत में ब्रिटिश इलाकों का विस्तार नहीं किया जाएगा और भारतीय राजाओं के अधिकारों का तथा उनकी प्रतिष्ठा का सम्मान किया जाएगा। भारत की ब्रिटिश सरकार ने इन राजाओं को अपना सहयोगी मान लिया। कई जागीरदारों को राजा का दर्जा दिया गया। भारत में उस समय 562 रजवाड़े थे। इनमें से कई राज्य बहुत छोटे थे। कुछ का क्षेत्रफल लगभग एक वर्ग-किलोमीटर था और आबादी 100 से भी कम। दूसरी तरफ कश्मीर और हैदराबाद – जैसे भी बड़े राज्य थे जो क्षेत्रफल में ब्रिटेन के बराबर थे। इस प्रकार, 1857 ई. के बाद भारत दो भागों में बंट गया – एक, ब्रिटिश भारत, जिस पर भारत सरकार के

महारानी विक्टोरिया ने "भारत साम्राज्ञी" की पदवी धारण की। व्यंग्य चित्र में ब्रिटिश प्रधानमंत्री डिज़रैली को महारानी विक्टोरिया को भारत का ताज मुकुट पहनाते हुए दिखाया गया है। यह व्यंग्य चित्र अंग्रेजी पत्रिका पंच में प्रकाशित हुआ था।

जरिए ब्रिटिश सरकार सीधे शासन करती थी; और दूसरा, भारतीय राज्य, जिन पर भारतीय राजा शासन करते थे।

सन् 1857 ई. के पहले भारत में ब्रिटिश शासन और भारतीय राज्यों के बीच के संबंध, इनके बीच हुई संधि के अनुसार, अलग-अलग किस्म के थे। कुछ राज्य अपने को भारत की ब्रिटिश सरकार के समकक्ष और पूर्णत: स्वतंत्र समझते थे। कुछ अन्य राज्य भारत की ब्रिटिश सरकार के अधीन

समझे जाते थे। 1858 ई. के बाद संबंध बदल गए। एक तरफ यह वादा किया गया कि उन पर कब्ज़ा नही किया जाएगा, तो दूसरी तरफ उन्हें ब्रिटिश सरकार के अधीन बनाया गया। भारतीय राज्यों को "प्रभुसत्ता के सिद्धांत" के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार के अधीन बनाया गया था। इसके अनुसार, भारत में ब्रिटिश सत्ता सर्वोच्च थी। भारत में ब्रिटिश प्रभुसत्ता 1876 ई. के एक एक्ट में स्पष्ट रूप से व्यक्त की गई थी। उसी के अनुसार 1 जनवरी, 1877 ई. को महारानी विक्टोरिया ने 'भारत की साम्राज्ञी' की पदवी धारण की थी। जिस समय भारत के कई भागों में भयंकर अकाल पड़ा, उसी समय राज-दरबार (इंपीरियल असेंबली) का आयोजन किया गया। दरबार में शामिल हुए राजाओं ने अपने वैभव का खूब प्रदर्शन किया। उसी राज-दरबार में महारानी विक्टोरिया द्वारा 'भारत की साम्राज्ञी' पदवी धारण करने की घोषणा की गई।

भारत में ब्रिटिश सरकार की प्रभुसत्ता कायम हो जाने पर भारतीय राजाओं की शक्ति और हैसियत घट गई। भारतीय राज्यों को भीतरी तथा बाहरी संकटों से बचाने की जिम्मेदारी अब ब्रिटिश सरकार की थी। इससे ब्रिटिश सरकार को भारतीय राज्यों के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप करने के असीम अधिकार मिल गए। राज्य के उत्तराधिकार के हर मामले में ब्रिटिश राजसत्ता या भारत में उसके प्रतिनिधि-वायसराय-की अनुमति प्राप्त करना ज़रूरी हो गया। उत्तराधिकार से संबंधित झगड़ों का निपटारा ब्रिटिश सरकार करती थी। उत्तराधिकारी के नाबालिग़ होने पर राज्य का शासन अंग्रेज़ चलाते थे। यदि किसी राज्य में विद्रोह या कुप्रशासन होता, तो ब्रिटिश सरकार राजा को हटा कर उसका उत्तराधिकारी नियुक्त कर सकती थी। ऐसे मामलों में राज्य पर कब्ज़ा नहीं किया जाता था; केवल उत्तराधिकारी नियुक्त किया जाता था। भारतीय राज्यों की कोई अंतर्राष्ट्रीय हैसियत नहीं थी। वे अन्य देशों के साथ संबंध स्थापित नहीं कर सकते थे। यहां तक कि गवर्नर-जनरल कर्जन ने भारतीय राजाओं के बिना अनुमति के विदेश जाने पर भी रोक लगा दी थी। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय राजाओं द्वारा रखे जाने वाले सैनिकों की संख्या भी निश्चित कर दी थी। राज्यों की ये सेनाएं अंग्रेज़ अफसरों के नियंत्रण में थीं। इन राज्यों के लोग यदि किसी अन्य देश की यात्रा करते या वहां निवास करते तो उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य की प्रजा माना जाता था। इन राज्यों की रेलवे तथा टेलीग्राफ और डाक व्यवस्थाएं ब्रिटिश सरकार के नियंत्रण में थीं। इस प्रकार, अंग्रेज़ों ने भारतीय राजाओं पर अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित करके उनकी शक्ति को नष्ट कर दिया। भारतीय राज्यों से ब्रिटिश शासन को अब कोई खतरा नहीं रहा। उलटे, वे ब्रिटिश शासन के समर्थक बन गए।

भारतीय राज्यों पर अंग्रेज़ों द्वारा कब्ज़ा किए जाने का अब डर नहीं रहा, इसलिए उन्होंने ब्रिटिश सरकार की अधीनता स्वीकार कर ली। वे अब अपने लोगों से भी सुरक्षित थे, क्योंकि उनके लोगों द्वारा विद्रोह करने पर ब्रिटिश सरकार उनकी मदद करती। अधिकांश राजा अपने राज्य को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति मानते थे और अपने लोगों की स्थिति सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं करते थे। वे बड़े ऐशो-आराम से रहते थे और प्रशासन के कामों पर बहुत कम ध्यान देते थे। कुछ राज्यों में प्रशासन इतना अधिक बिगड़ गया कि ब्रिटिश सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा। ब्रिटिश भारत में प्रशासन और कानून की व्यवस्था एकरूप थी। मगर राज्यों में ये व्यवस्थाएं अलग-अलग तरह की थीं। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय जनता में फूट डालने के लिए इन राज्यों को बनाए रखा। ब्रिटिश भारत की तुलना में इन राज्यों में जनता की दशा कई दृष्टियों से अधिक दयनीय थी। इन राजाओं का अक्सर दरबार लगता था। इन दरबारों में ये अपने वैभव का प्रदर्शन करते थे और इन्हें ब्रिटिश सरकार से पदवियां मिलती थीं। चूंकि इनका अस्तित्व ब्रिटिश शासन पर निर्भर था, इसलिए ये उसके निष्ठावान समर्थक बन गए।

"फूट डालो और शासन करो" की ब्रिटिश नीति

हर साम्राज्यवादी देश विजित देश की जनता में फूट डाल कर वहां अपने शासन को बनाए रखता है। जनता में मौजूद मतभेदों का लाभ उठाया जाता है। एक समुदाय को दूसरे से लड़ा कर या एक के विरुद्ध दूसरे को समर्थन देकर नए मतभेद पैदा किए जाते हैं। जैसा कि तुम जानते हो, अंग्रेज़ अपने शासन को राजाओं और ज़मींदारों के सहयोग से मज़बूत बना रहे थे। देश के कई भागों में, जहां नई भूमि-व्यवस्थाओं के अंतर्गत ज़मींदार खत्म हो गए थे, नए ज़मींदार खड़े करने की कोशिश की गई। 1857 ई. के विद्रोह को कुचल देने के बाद अवध में तालुकेदारों को ज़मीन वापस कर दी गई। अंग्रेज़ों ने ज़मींदारों के बेटों को नौकरियां दीं और इस प्रकार शिक्षित भारतीयों के साथ भेदभाव किया। भारतीय राज्यों के प्रति अंग्रेज़ों की नीति ने भारतीय जनता को दो समुदायों में बांट दिया - भारतीय राज्यों की जनता और ब्रिटिश भारत की जनता। जैसा कि तुम जानते हो, सैनिक प्रशासन में भी उन्होंने वही नीति अपनाई। 1857 ई. के बाद कोई सामाजिक सुधार न करके और भारतीय समाज में विद्यमान जाति तथा धर्म पर आधारित अंतरों को बरकरार रख कर उन्होंने मतभेदों को टिकाए रखा। तुम देख चुके हो कि 1857 ई.

के विद्रोह में किस प्रकार हिंदू और मुसलमान कंधे से कंधा मिलाकर अंग्रेज़ों के खिलाफ लड़े थे। 1858 ई. के बाद अंग्रेज़ों ने हिंदुओं और मुसलमानों में फूट डालने की नीति अपनाई। अंग्रेज़ों ने मुसलमानों को अपना मुख्य शत्रु माना, क्योंकि उन्हें 1857 ई. के विद्रोह के लिए ज़िम्मेदार समझा गया। नौकरियां देने में उनके साथ भेदभाव किया गया। अंग्रेज़ो ने इतिहास की अपनी पुस्तकों में यह दिखाने की कोशिश की कि मुसलमानों ने हिंदुओं का दमन किया, इसलिए हिंदुओं का हित इसी में है कि वे ब्रिटिश शासन का समर्थन करें। बाद में उन्होंने अपनी मुस्लिम- विरोधी नीति बदल दी। ब्रिटिश सरकार ने हिंदुओ के विरुद्ध उच्च-वर्गीय मुसलमानों को सुविधाएं देना शुरू किया। मगर ब्रिटिश नीति का उद्देश्य वही कायम रहा-हिंदू और मुसलमानों में फूट डालना। बाद में जब भारतीय जनता की आशाओं और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला राष्ट्रीय आंदोलन शुरू हुआ, तब अंग्रेज़ों ने धर्म पर आधारित दलों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार उन्होंने आज़ादी के आंदोलन को कमज़ोर करने की कोशिश की।

अफ़ग़ानिस्तान और बर्मा के प्रति नीति

भारत सरकार की विदेश नीति इंग्लैंड की सरकार की विदेश नीति का अंग थी। उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध साम्राज्यवादी विस्तार का काल था। उपनिवेशों के लिए साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच होड़ लगी हुई थी। इस होड़ के कारण उनके बीच अक्सर झगड़े हुए। अंग्रेज़ों ने अपनी साम्राज्यवादी लड़ाइयों में और दूसरे देशों के आतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए भारतीय साधनों और भारतीय सैनिकों का इस्तेमाल किया।

उन्नीसवीं सदी में रूसी साम्राज्य का मध्य एशिया में विस्तार हो रहा था। इससे अंग्रेज़ चौकन्ने हो गए। रूसी विस्तार को रोकने के लिए उन्होंने अफ़ग़ानिस्तान मे अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू कर दिया। वे सोचते थे कि अफ़ग़ानिस्तान में पैर जमाने के बाद मध्य एशिया में अपना प्रभाव बढ़ाने में उन्हें आसानी होगी। अफ़ग़ानिस्तान का राजा दोस्त मुहम्मद एक योग्य शासक था। अंग्रेज़ों ने 1839 ई. में अपनी फौज अफ़ग़ानिस्तान भेजी, दोस्त मुहम्मद की सेना को हराया और उसके एक विरोधी को गद्दी पर बिठाया। दोस्त मुहम्मद को बंदी बना कर भारत लाया गया। अफ़ग़ानिस्तान में अंग्रेज़ों के हस्तक्षेप के ख़िलाफ विद्रोह हुए, इसलिए दोस्त मुहम्मद को पुनः गद्दी देनी पड़ी और अंग्रेज़ों को अफ़ग़ानिस्तान छोड़ना पड़ा। इस लड़ाई में अंग्रेज़ों को भारी नुक्सान उठाना पड़ा और उनके हज़ारों सैनिक मारे गए। बाद में अफ़ग़ानिस्तान के शासक और अंग्रेज़ों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित हुए। अंग्रेज़ों ने

अफ़ग़ानिस्तान के मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाई। 1878 ई. में अंग्रेज़ों ने पुनः अफ़ग़ानिस्तान पर हमला किया। इस बार भी वे अफ़ग़ानिस्तान पर अपना शासन कायम नहीं कर पाए। यहां तक कि वहां अपना रेजिडेंट भी नहीं रख पाए। परंतु अफ़ग़ानिस्तान की विदेश नीति पर अपना नियंत्रण स्थापित करने में उन्हें सफलता मिल गई। चालीस साल बाद अफ़ग़ानिस्तान के नए शासक ने ब्रिटिश भारत के खिलाफ युद्ध छेड़ दिया और 1921 ई. में अपने देश को पूर्णतः आज़ाद कर लिया।

भारत अफ़ग़ानिस्तान के बीच के इलाकों में रहने वाले कबायली लोगों को कब्ज़े में करने के लिए भी अंग्रेज़ों ने प्रयत्न किए। भारत और अफ़ग़ानिस्तान के बीच सीमा निर्धारित की गई। उत्तर-पश्चिम के सीमावर्ती क्षेत्र के कबीलों के विद्रोहों को दबाने के लिए ब्रिटिश सरकार को अक्सर फ़ौज भेजनी पड़ी। फिर भी उस इलाके में विद्रोह जारी रहे। सीमावर्ती क्षेत्रों को पंजाब से पृथक करके एक उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत बना दिया गया। सीमावर्ती क्षेत्र पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने के लिए अंग्रेज़ों ने रेल-लाइनें और सड़कें बनाईं। सीमावर्ती क्षेत्रों के आजादी-पसंद लोगों को पूरे नियंत्रण में रखने के लिए अंग्रेज़ों ने आतंकवादी तरीके भी आज़माए, विमानों से उन पर बमबारी भी की गई, मगर उन्हें इसमें पूर्ण सफलता नहीं मिली।

बर्मा के राजा ने असम पर अधिकार कर लिया था। अंग्रेज़ों ने 1824-26 ई. में बर्मा के साथ युद्ध करके असम पर पुनः अधिकार कर लिया। उसी समय अंग्रेज़ों ने बर्मा के कुछ इलाकों पर कब्ज़ा कर लिया और बर्मा में अपना रेजिडेंट नियुक्त किया। 1852 ई. में अंग्रेज़ों ने बर्मा पर पुनः हमला किया और बर्मा के सभी तटवर्ती प्रांत ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य के अंग बन गए।

इस बीच फ़्रांस ने दक्षिण-पूर्व एशिया में अपना साम्राज्यवादी प्रभाव बढ़ाना शुरू कर दिया था। 1880 ई. के दशक में फ़्रांसीसियों ने हिंद-चीन में अपना शासन कायम कर लिया था और उन्होंने उत्तरी बर्मा पर अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू कर दिया था। फ़्रांसीसियों के बढ़ते प्रभाव से अंग्रेज़ घबड़ा गए। उन्होंने बर्मा के राजा से कहा कि वह बर्मा की विदेश नीति पर उनका नियंत्रण स्वीकार करे और अपनी राजधानी मांडले में एक ब्रिटिश रेज़िडेंट रखे। उसने इस मांग को ठुकरा दिया, तो अंग्रेज़ों ने 1885 ई. में बर्मा पर हमला करके उस पर अधिकार कर लिया। बर्मी लोग कई सालों तक ब्रिटिश शासन का विरोध करते रहे, मगर अंततः बर्मा को ब्रिटिश भारत का एक प्रांत बना दिया गया।

उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत में जनजातियों का विद्रोह

इस तरह, 1857 ई. के विद्रोह के बाद ब्रिटिश नीति में अनेक परिवर्तन हुए। भारत पर ब्रिटिश सरकार का सीधा नियंत्रण स्थापित हो गया। इंग्लैंड अपने आर्थिक और साम्राज्यवादी हितों के लिए भारत पर शासन करता रहा। भारत के बारे में ब्रिटिश नीति 1857 ई. के बाद पहले की अपेक्षा कई दृष्टियों से अधिक हानिकर थी। ब्रिटिश शासकों ने सोचा कि भारत को पिछड़ा हुआ रख कर ही वे अपने शासन को मज़बूत रख सकते हैं। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने भारत में राजाओं और जमीदारों का ही समर्थन किया। अन्य भारतीयों को, विशेषकर शिक्षितों को, वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। देश के प्रशासन में उनकी कोई पूछ नहीं थी। इस बीच भारतीय अर्थ-व्यवस्था और समाज में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सामाजिक व धार्मिक सुधार तथा राष्ट्रीय पुनरुत्थान का एक शक्तिशाली आंदोलन शुरू हुआ। इन परिवर्तनों के साथ भारतीय इतिहास का एक नया दौर-स्वतंत्रता के लिए संघर्ष का दौर-शुरू हुआ।

अभ्यास

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो :

   1. सन् 1857 ई. के विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार की नीतियों के निर्माण में किन बातों का विशेष ध्यान रखा गया ?
   2. सन् 1858 ई. के घोषणा पत्र के बाद इंग्लैंड से भारतीय सरकार पर नियंतत्रण रखने के तरीके में क्या परिवर्तन हुए?
   3. सन् 1858 ई. के घोषणा पत्र में भारतीय जनता को क्या वचन दिए गए?
   4. भारत मंत्री (सेक्रेटरी आफ स्टेट) की नियुक्ति के बाद गवर्नर जनरल की स्थिति में क्या फर्क आया ?

5. वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् के ढाँचे और कार्यों में सन् 1853 से 1892 ई. तक क्या परिवर्तन हुए ?
6. सन् 1882 ई. में स्थानीय शासन में क्या परिवर्तन किए गए ?
7. राज्य के मुख्य राजस्व स्रोत क्या थे ? राजस्व का वितरण केंद्रीय सरकार और प्रांतीय सरकारों के बीच कैसे होता था ?
8. सन् 1857 ई. के विद्रोह के बाद सेना में यूरोपीयों का अनुपात भारतीयों की अपेक्षा क्यों बढ़ाया गया ?
9. सेना के संगठन में फूट डालने और शासन करने की नीति किस प्रकार लागू की गई ?
10. सिविल सर्विस में भारतीयों के लिए प्रवेश करना क्यों कठिन था ?
11. सन् 1858 ई. में घोषणा पत्र के बाद ब्रिटिश सरकार और भारतीय राजाओं के आपसी संबंधों में क्या परिवर्तन हुए?
12. अंग्रेज़ों ने "फूट डालो और शासन करो" की नीति कैसे लागू की ?
13. अफ़गानिस्तान और बर्मा के प्रति ब्रिटिश नीति का क्या आधार था ?

2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से दो। उत्तर देने के लिए अन्य किताबों से सहायता लो।

1. सन् 1858 ई. के घोषणा - पत्र में कहा गया था कि सब भारतीयों को उन्नति के लिए समान अवसर दिए जाएंगे। अंग्रेजों ने अपना यह वचन कहाँ तक पूरा किया?
2. कहा गया है कि 1857 ई. के बाद कई दृष्टियों से भारत के प्रति ब्रिटिश नीति पहले की अपेक्षा अधिक हानिकर थी। उदाहरणों के साथ, प्रशासन, सेना, न्यायपालिका, स्थानीय प्रशासन और समाज सुधार के क्षेत्र में अंग्रेज़ों द्वारा अपनाई गई नीतियों की चर्चा करो।

3. कालम "क" में कुछ कानूनों के नाम दिए गए हैं। कालम "ख" में उनमें निहित मूल बातें दी गई हैं। कालम "ख" को इस तरह व्यवस्थित करो कि कालम "क" के कानूनों और "ख" में कही गई बातों में मेल हो।

"क"	"ख"
1. 1858 ई. का ऐक्ट	1. महारानी विक्टोरिया भारत की साम्राज्ञी घोषित की गई।
2. 1861 ई. का ऐक्ट	2. विधान परिषद् के सदस्यों को बजट पर विचार करने का अधिकार दिया गया।
3. 1876 ई. का ऐक्ट	3. नगरपालिकाओं में निर्वाचित सदस्यों का शामिल किया गया।
4. 1882 ई. का ऐक्ट	4. प्रांतीय और शिक्षा सेवाएँ बनी।
5. 1892 ई. का ऐक्ट	5. 6 से लेकर 12 तक अतिरिक्त सदस्यों की नियुक्ति कर विधान परिषद् का विस्तार किया गया।
	6. भारत मंत्री (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) का पद बना।
	7. केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच राजस्व के वितरण की व्यवस्था की गई।

4. करने के लिए कार्य :

1. भारत का मानचित्र खींचो। उसमें सन् 1858 ई. के ब्रिटिश भारत की सीमाओं को दिखाओ।
2. सन् 1858 ई. के एलान की मूल प्रति प्राप्त कर निम्नलिखित बातों से संबंधित धाराओं पर निशान लगाओ।
   - (क) केंद्रीय प्रशासन में परिवर्तन।
   - (ख) ब्रिटिश सरकार और भारतीय जनता के बीच संबंध।
   - (ग) ब्रिटिश सरकार और भारतीय राजाओं के बीच संबंध।

अध्याय 7

आर्थिक जीवन में परिवर्तन (1858–1947 ई.)

महारानी विक्टोरिया की 1858 ई. की घोषणा में कहा गया था कि ब्रिटिश सरकार भारत के आर्थिक विकास और भारतीय जनता के कल्याण पर ध्यान देगी। मगर ब्रिटिश शासकों ने जो कदम उठाए उनसे केवल ब्रिटेन के औद्योगिक और व्यापारी हितों को ही लाभ पहुंचा। भारतीय अर्थव्यवस्था का पिछड़ापन बरकरार रहा और जनता की गरीबी बढ़ती गई। तुम पढ़ चुके हो कि अंग्रेज़ों ने भारत में अपने आरंभिक शासन के दौरान किस प्रकार की आर्थिक नीतियां अपनाईं थीं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में और उसके बाद भारतीय जनता के आर्थिक जीवन में अनेक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि भारत के विभिन्न क्षेत्र धीरे-धीरे एक-दूसरे पर आश्रित हो गए। भारत में समरूप आर्थिक जीवन का उदय होने लगा जिसने देश का एकीकरण करने में योग दिया।

किसानों पर भारी बोझ

तुम्हें याद होगा कि कंपनी के शासनकाल में ज़मींनदारी और रैयतवारी भूमि-व्यवस्थाएं लागू की गईं थीं। जिन क्षेत्रों में ज़मींदारी व्यवस्था लागू की गई थी वहां ज़मींदार, सरकार और किसानों के बीच मध्यस्थ बनकर, राजस्व वसूल करके सरकार को देते थे। रैयतवारी व्यवस्था में सरकार का किसानों से सीधा संबंध था। राजस्व की नियमित वसूली हो सके इसलिए ये व्यवस्थाएं लागू की गईं थीं। मगर जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया कि ज़मींदारी व्यवस्था ने किसानों पर भारी बोझ डाल दिया है। ज़मींदारों द्वारा किसानों से की जाने वाली मांगों पर रोक लगाने के लिए कई कानून पास किए गए। ये कानून ज़मींदारों द्वारा किसानों की बेदखली पर भी रोक लगाते थे। मगर ये कानून काफ़ी हद तक निष्फल रहे। रैयतवारी क्षेत्रों में तो, जहां सरकार के राजस्व-अधिकारी ही असली मालिक थे

कानून भी नहीं थे। इन क्षेत्रों में सरकारी अधिकारी, किसानों की वास्तविक आर्थिक दशा पर ध्यान दिए बिना ही, राजस्व का पुनर्निर्धारण करते रहे। इस उत्पीड़क वसूली का नतीजा यह हुआ कि किसानों को विवश होकर महाजनों की शरण में जाना पड़ा। इस शोषण के खिलाफ बंगाल और दक्कन में उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक में किसान-विद्रोह हुए। किसानों ने दंगे किए, दुकानों तथा घरों को आग लगा दी और अनाजों के गोदाम लूट लिए। फिर भी राजस्व की वृद्धि को रोकने के लिए कदम नहीं उठाए गए।

ज़मींदारी और रैयतवारी, दोनों ही क्षेत्रों में बड़े किसानो ने अपनी ज़मीन छोटे किसानों को लगान या बटाई पर देनी शुरू कर दी। इससे किसानों का जीवन और भी कष्टकर हो गया। तुम पढ़ चुके हो कि अंग्रेज़ों ने जिन ज़मींदारों को पैदा किया था वे स्वयं कृषि-उत्पादन नहीं करते थे। किसानों के श्रम पर उनका जीवन-निर्वाह चलता था। वे किसानों से राजस्व वसूल करने की ज़िम्मेदारी भी अक्सर दूसरे लोगों को सौंप देते थे। ज़मींदारों से यह अधिकार प्राप्त करने वाले कुछ लोग इसे आगे दूसरे लोगों को बेच देते थे। परिणामस्वरूप, राज्य और किसानों के बीच मध्यस्थों की संख्या बढ़ गई। ये सभी बीचौलिये, बिना कोई उपयोगी काम किए, किसान के उत्पादन पर आश्रित हो गए। इन्होंने किसान के बोझ को और अधिक बढ़ा दिया। रैयतवारी क्षेत्रों में भी बड़े किसानों ने अपनी जमीन छोटे किसानों को बटाई पर देनी शुरू कर दी। इससे वास्तविक किसानों के कष्ट बढ़ते गए। इन सभी बिचौलियों की खेती में कोई दिलचस्पी नहीं थी, इसलिए कृषि-कर्म पिछड़ा रह गया। बिचौलियों को हटाने के लिए कुछ कानून बनाए गए, मगर भारत के स्वतंत्र होने के बाद तक इस दिशा में कोई कारगर कदम नहीं उठाया गया।

छोटी जोतें

कृषि के पिछड़ेपन का एक और महत्वपूर्ण कारण था - छोटी-छोटी जोतें। आबादी बढ़ी, तो शनैः-शनैः ज़मीन पर भी भार बढ़ता गया। उद्योगों का विस्तार नहीं हुआ; इसलिए अतिरिक्त काम भी नहीं थे। उस समय के उत्तराधिकार के कानूनों के कारण जोतें लगातार बंटती गईं। जैसे-जैसे अधिकाधिक लोग अपनी जीविका के लिए खेती पर निर्भर हो गए, वैसे-वैसे जोतों का अधिकाधिक बंटवारा होता गया। उदाहरण के लिए, दक्कन में 1771 ई. और 1915 ई. के बीच जोतों का औसत क्षेत्रफल 40 एकड़ से घटकर 7 एकड़ हो गया। इस

कारण अधिकतर किसान अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त अनाज पैदा नहीं कर पाते थे।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से कृषि-भूमि का विस्तार हुआ। मगर इससे भी ज़मीन पर आबादी का दबाव कम नहीं हुआ। बढ़ती आबादी के लिए रोज़गार के अतिरिक्त अवसर उपलब्ध नहीं थे। 1861 ई. में जब पहली बार जनगणना की गई, तो उस समय भारत की आबादी 20 करोड 60 लाख थी। 1901 ई. में आबादी बढ़ कर 28 करोड़ 30 लाख हो गई। चालीस साल बाद 1941 ई. में आबादी 38 करोड 90 लाख पर पहुंच गई। मगर जनसंख्या में हुई वृद्धि के बराबर कुल कृषि-उत्पादन में वृद्धि नहीं हुई। खाद्यान्नों का उत्पादन घट गया।

नकदी फसलें

खाद्यान्नों के उत्पादन में कमी आने का कारण यह था कि कपास, जूट और तिलहन-जैसी नकदी या व्यावसायिक फ़सलों के उत्पादन को ज्यादा महत्व दिया गया। सरकार ने व्यावसायिक फसलों के उत्पादन को तो प्रोत्साहन दिया, मगर खाद्यान्नों की कमी की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। 1861 ई. से 1865 ई. तक अमरीका में गृह-युद्ध चला। इसलिए वहां से इंग्लैंड की कपड़ा मिलों को कपास पहुंचनी बंद हो गई। इंग्लैंड के कपड़ा मिलों की आवश्यकता के लिए अंग्रेज़ों ने भारत में कपास के उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिए विशेष कदम उठाए। इससे भारतीय किसानों का एक समुदाय तो कुछ समय के लिए समृद्ध हो गया, परंतु खाद्यान्नों का उत्पादन घट गया। देश के कुछ भागों के किसानों को अंग्रेज़ बाग़ान-मालिकों ने नील की ख़ेती करने के लिए और उन्हीं के द्वारा तय की गई कीमत पर उन्हें ही इसे बेचने के लिए मजबूर किया।

किसानों की कंगाली

देश के स्वतंत्र होने तक भारत की ग्रामीण जनता दो प्रकार की विपदाओं से लगातार त्रस्त रही। ये दो त्रासदियां थीं – कर्ज़ का बोझ और अकाल। स्पष्ट था कि भारत की कृषि का स्तर घटिया था। भारत के अधिकतर किसानों को दोनों समय भरपेट खाना भी नहीं मिलता था।

ग्रामीण कर्ज़भार

किसान, कहीं के भी हों, आसानी से कर्ज़दार बन जाते हैं। भारत के किसानों को केवल महाजनों से ही क़र्ज़ मिलता था। मगर जहां अन्य देशों के किसान कर्ज का

इस्तेमाल बीज, खाद, औजार आदि खरीदने तथा ज़मीन को सुधारने के लिए करते थे, वहां भारत के किसान कर्ज़ का उपयोग मुख्यत: गैर-उत्पादक कामों में करते थे। भारतीय किसान कर्ज़ लेकर उसका उपयोग भू-राजस्व देने या ज़मींदार को लगान देने या फ़सल अच्छी न होने पर परिवार का भरण-पोषण करने या जन्म, मरण तथा शादी के अवसरों पर खर्च करता था। भारतीय किसान की औसत आय इतनी कम थी कि एक बार कर्ज़ लेने पर वह उसे अगले साल की फ़सल से मुश्किल से ही चुकता कर पाता था। जानकारी मिलती है कि 1860 ई. में सभी प्रांतों के दो-तिहाई किसान कर्ज़ में डूबे हुए थे। भारत में ब्रिटिश शासन के पूरे दौर में यही स्थिति बनी रही।

कर्ज़ वापस न करने का परिणाम यह होता था कि किसानों की ज़मीन महाजनों के कब्ज़े में चली जाती थी। अंग्रेज़ों के शासन के पहले ज़मीन के हस्तांतरण पर अनेक पाबंदियां थीं। कर्ज़ की वसूली में महाजन को राज्य से अधिक मदद नहीं मिलती थी। मगर नई न्यायिक व्यवस्था में कर्ज़ की वसूली के लिए महाजनों को ज़्यादा अधिकार दे दिए गए।

इस सदी के आरंभ से ही भूमि के हस्तांतरण पर रोक लगाने के लिए प्रांतों में

1900 ई में मद्रास मे अकाल के शिकार

कानून बनने लगे थे। ब्याज की अधिकतम दर और राशि निश्चित कर दी गई थी। इस सदी के आरंभिक सालों में किसानों को सस्ते दरों पर कर्ज़ मुहैया करने के लिए सहकारी समितियां स्थापित की गई थीं। मगर इनका असर काफ़ी सीमित रहा।

भारत में अकाल

भारत मे कई बार अकाल पड़े हैं। भारतीय किसानों का पूर्णत: मानसून पर आश्रित होना इसका मुख्य कारण था। फ़सल अच्छी होने पर भी वे इतना नहीं बचा पाते थे कि सूखे के दिनो के लिए कुछ सुरक्षित रख सकें। जिस साल मानसून दगा दे जाता उस साल अकाल पड़ता। यद्यपि अकाल बार-बार पड़े हैं (1860 ई और 1908 ई.

सुप्रसिद्ध चित्रकार जैनुल आबेदीन द्वारा बनाया गया बंगाल के अकाल का एक रेखाचित्र

के बीच अकाल के कुल 20 साल रहे), मगर ऐसा बहुत कम हुआ कि एक ही साल में सारे देश में मानसून न दग़ा दिया हो। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में सड़कों में सुधार और रेलवे-मार्गों के निर्माण के कारण अभावग्रस्त क्षेत्रों में अनाज पहुंचाने में आसानी हुई। फिर भी देश के किसी न किसी क्षेत्र में अकाल पड़ते ही रहे। असली समस्या यह थी कि छोटे किसान और मज़दूर दिन में दो बार का भोजन भी मुश्किल से जुटा पाते थे। वर्षा न होने पर थोड़ी अवधि के लिए भी फ़सल नहीं होती तो उन्हें भूखमरी का सामना करना पड़ता था।

अकाल के कई तरह के परिणाम होते थे। इन अकालों में लाखों लोग मर गए। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में पड़े अकालों में तीस लाख लोगों की मौत हुई। मवेशी भी बड़ी संख्या में मरे। अकाल के हर साल बाद कुपोषण और महामारियों का फैलाव होता गया। लोग अकालग्रस्त क्षेत्रों को छोड़ कर दूसरे स्थानों पर चले गए।

बार-बार अकाल पड़ने के कारण सरकार ने अकाल आयोगों की स्थापना की। उनकी सिफारिशों को मान कर सरकार ने 1883 ई. में एक करोड़ 15 लाख रुपए राहत कार्य और बीमा के लिए प्रतिवर्ष देने का निर्णय किया। प्रशासकों के मार्गदर्शन

के लिए अकाल संहिता भी बनी। लगान-माफी, सिंचाई-प्रबंधों का विस्तार और प्रभावित लोगो को आर्थिक सहायता देना, आदि इस संहिता की कुछ प्रमुख बातें थीं। मगर सरकार समस्या की तह तक नहीं गई। उसने 1880 ई के अकाल आयोग का यह सुझाव नहीं माना कि खेती में लगे हुए अतिरिक्त लोगों के लिए अन्य अवसर खोजे जाएं।

बीसवीं सदी में कम अकाल पडे। वे ज़्यादा भयंकर भी नहीं थे। इसका मुख्य कारण सिंचाई, परिवहन तथा राहत-कार्यों में सुधार था। उस समय तक लोग भी बार-बार की इस विपदा के प्रति सचेत हो गए थे। फिर भी, 1943 ई. में बंगाल में एक भयंकर अकाल पड़ा। उसमें करीब 30 लाख लोगों की जानें गईं। मगर दूसरे महायुद्ध के दौरान यह अकाल प्रशासन के गैर-इंतजाम के कारण पड़ा।

सिंचाई की सुविधाओं का विकास

प्राचीन काल से ही शासन द्वारा या सामूहिक प्रयासों से तालाब, कुएं, नहरें और बांध बनाए जाते रहे हैं। अकाल के समय सिंचाई की समस्या पर हमेशा ही विशेष ध्यान दिया गया। सारे अकाल-आयोगों ने सिंचाई की सुविधाएं बढ़ाने की सिफारिश की।

इन आयोगों ने नहरों के विकास पर विशेष बल दिया। यद्यपि सिंचित भूमि के क्षेत्रफल में ज़्यादा वृद्धि नहीं हुई (1940 ई. तक 13 प्रतिशत भूमि में ही सिंचाई होती थी), फिर भी इससे वर्षा के दग़ा देने पर पड़ने वाली विपदाओं में कमी आई। सिंचाई वाले क्षेत्रों में फ़सलें पैदा करने में ज़्यादा खर्च आता था, क्योंकि किसानों को नहरों के पानी का पैसा देना पड़ता था। इसलिए किसान ऐसी फ़सलें उगाने लगे जिनकी बाज़ार में ज़्यादा कीमत मिलती थी। इस प्रकार नकदी फसलों के उत्पादन को बढ़ावा मिला।

वर्तमान सदी के आरम्भ से कृषि के विकास के लिए सरकार ने कुछ रचनात्मक नीतियां अपनाईं। कृषि के बारे में जानकारी एकत्र करने के लिए कृषि-विभाग स्थापित किए गए। विकास की योजनाएं पूरी करने की ज़िम्मेदारी भी कृषि-विभागों को सौंपी गई। कृषि के बारे में उच्च शिक्षा देने के लिए अनुसंधान-कार्य तथा प्रायोगिक कृषि के लिए बिहार में 'इंपीरियल इंस्टीट्यूट ऑफ एग्रिकल्चर' की स्थापना की गई। बाद में यह संस्थान दिल्ली चला आया। देश के विभिन्न भागों में कुछ कृषि-स्कूल और कालेज भी स्थापित किए गए। इस तरह कृषि के विकास के लिए कुछ

कदम उठाए गए। मगर ज़मींदार भूमि में कोई सुधार किए बग़ैर ही किसानों से ज़्यादा लगान वसूल करते रहे, इसलिए आधुनिक और उन्नत कृषिकर्म की दिशा में अधिक प्रगति नहीं हुई।

कृषि-पैदावार में वृद्धि तो हुई, मगर उससे ज़्यादा वृद्धि जनसंख्या में हुई। भूमि के वितरण में असमानताएं होने के कारण कठिनाइयां और भी अधिक बढ़ गईं। ऐसे किसानों की तादाद बहुत ज़्यादा थी जो खेती तो करते थे मगर भूमि के मालिक नहीं थे। ऐसे खेतिहर मज़दूरों की संख्या भी बढ़ती गई जिन्हें साल के केवल कुछ महीने ही खेती का काम मिलता था। कृषि के क्षेत्र में उन्नति करने के लिए यह आवश्यक था कि भूमि-स्वामित्व से संबंधित असमानताओं को समाप्त किया जाए, असली किसानों को स्वामित्व के अधिकार दिए जाएं और खेतिहर मज़दूरों के हितों की रक्षा की जाए। मगर इन सुधारों को स्वाधीनता मिलने तक इंतज़ार करना पड़ा।

परिवहन का विकास

देश के आर्थिक विकास के लिए परिवहन और संचार के अच्छे साधन आवश्यक हैं। उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल तक इन मामलों में भारत की स्थिति बड़ी ख़राब थी। उस समय तक देश में केवल दो अधबनी मुख्य सड़कें थीं - एक कलकत्ता और दिल्ली के बीच और दूसरी बंबई और आगरा के बीच। उन्नीसवीं सदी के लगभग मध्यकाल से परिवहन और संचार के साधनों को उन्नत बनाने पर विशेष ध्यान दिया गया। सड़कें बनाने के अलावा परिवहन और संचार के नए साधनों को, विशेषकर रेलवे और टेलीग्राफ
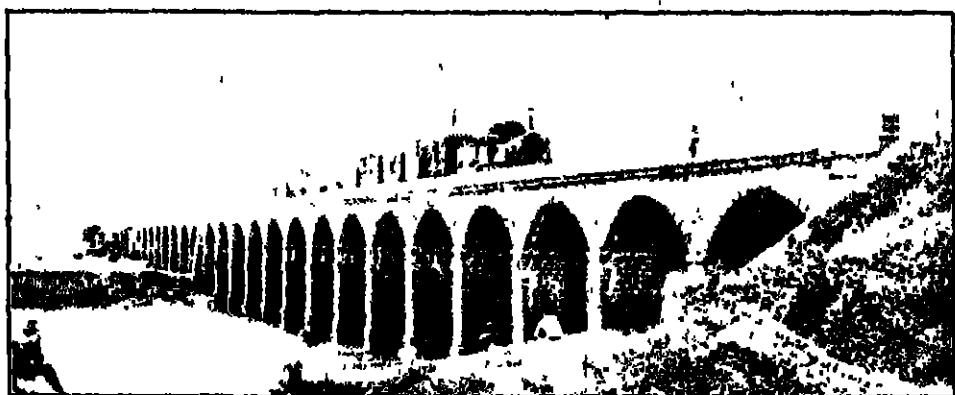
बम्बई और थाना के बीच पुल से गुजरती हुई पहली रेलगाड़ी

को, चालू किया गया। 1857 ई. के विद्रोह से अंग्रेज़ों ने सबक सीखा कि भारत पर अपना शासन कायम रखने के लिए उन्हें संचार के साधनों का विस्तार और विकास करना होगा। ब्रिटेन के हित में भारत के आर्थिक शोषण को तीव्र बनाने के लिए भी परिवहन और संचार के साधनों में सुधार करना आवश्यक था। तुम पहले पढ़ चुके हो कि ब्रिटिश शासक इंग्लैंड के उद्योगों के लिए भारत को कच्चे माल का स्रोत और इंग्लैंड में उत्पादित वस्तुओं का बाज़ार बनाना चाहते थे। बंदरगाहों से देश के विभिन्न भागों में माल के तेज़ी से और आसानी से आवागमन के साधन विकसित करके ही ऐसा किया जा सकता था। इसलिए यह स्मरण रखना चाहिए कि परिवहन के क्षेत्र में जो विकास हुआ वह वस्तुत: भारत के आर्थिक विकास के लिए नहीं था।

रेलवे

रेलवे ने भारत की परिवहन-व्यवस्था में एक प्रकार की क्रांति पैदा कर दी। पहली रेलवे लाइन 1853 ई. में बंबई और थाना के बीच बनी। अगले साल कलकत्ता को रेलमार्ग से बंगाल के पश्चिमी क्षेत्र की कोयला-खानों

19वीं शताब्दी में रेलगाड़ी से यात्रा करते हुए अंग्रेज यात्री

के साथ जोड़ा गया। 1856 ई. में मद्रास को आर्कोनाम के साथ जोड़ा गया। उसके बाद सरकार और निजी कंपनियों के प्रयासों से रेलवे का तेज़ी से विकास हुआ। भारत में रेलवे के निर्माण-कार्य में ब्रिटिश व्यापारियों और ठेकेदारों ने भारी मुनाफा कमाया।

शुरू के वर्षों में रेलवे-विभाग ने बड़ी लाइनों के निर्माण पर ही अधिक ज़ोर दिया। बंबई, मद्रास और कलकत्ता-जैसे बड़े बंदरगाहों को देश के भीतरी भागों के महत्त्वपूर्ण शहरों और कृषि-क्षेत्रों के साथ जोड़ा गया। इस प्रकार देश के महत्त्वपूर्ण शहर रेलवे के ज़रिए एक-दूसरे के साथ जुड़ गए थे और उन्नीसवीं सदी के अंत तक 25,000 किलोमीटर लंबी रेलवे लाइन देश में तैयार हो गई थी। रेलवे लाइनों के निर्माण का मुख्य उद्देश्य था बंदरगाहों को देश के ऐसे भीतरी क्षेत्रों से जोड़ना जो अंग्रेज़ों के आर्थिक हितों की दृष्टि से महत्त्व के थे। देश के उन विभिन्न भागों को आपस में जोड़ने पर बहुत कम ध्यान दिया गया जिनसे देश के एक भाग में निर्मित वस्तुओं को दूसरे भागों में पहुंचाने में सुविधा होती। रेलवे ने मालभाड़े के बारे में जो नीति अपनाई उससे भी अंग्रेज़ों की नीयत स्पष्ट होती है। देश के भीतर एक स्थान से दूसरे स्थान तक रेलवे से माल पहुंचाने में ज़्यादा भाड़ा लगता था, मगर बंदरगाहों से माल को देश के अन्य भागों में पहुंचाने में कम भाड़ा लगता था। भारत में रेलवे लाइनें बिछाने के पीछे अंग्रेज़ों का एक और प्रमुख उद्देश्य था-भारत पर अंग्रेज़ों के शासन को मज़बूत बनाना। जो क्षेत्र प्रतिरक्षा की दृष्टि से महत्त्व के थे उन्हें, फ़ौज को स्थानांतरित करने के लिए, आपस मे जोड़ दिया गया। बाद में, विशेषकर प्रथम महायुद्ध के दौरान और बाद में, जब भारतीय उद्योगों का कुछ विकास हुआ, तब रेलवे की नीति में परिवर्तन करने की मांग की गई। भारतीयों ने मांग की कि रेलवे को विदेशी हितों की बजाए भारत की आर्थिक आवश्यकताओं का ज़्यादा ध्यान रखना चाहिए। रेलवे भारी मुनाफा कमा रही थी और उस मुनाफे का एक बड़ा हिस्सा देश के बाहर जा रहा था। रेलवे पर प्रमुखत: सरकार का स्वामित्व था, परंतु उनका प्रबंध ब्रिटिश कंपनियों के हाथों में था। इस स्थिति में 1947 ई. तक कोई ख़ास परिवर्तन नहीं हुआ, हालांकि उस समय तक देश में करीब 70,000 किलोमीटर लंबी रेलवे लाइनें बन चुकी थीं और दुनिया का सबसे बड़ा रेलवे-जाल भारत में ही था।

रेलवे का भारतीय अर्थव्यवस्था और आम जीवन पर बड़ा गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा। लोगों और वस्तुओं का आवागमन

19वीं शताब्दी में कलकत्ता बंदरगाह का एक दृश्य। चित्र में जहाज़ों पर सामान की दुलाई करते हुए देखा जा सकता है।

तीव्रगामी, रास्ता और अधिक सुरक्षित हो गया। देश के भीतरी भागों में उत्पादित चीजें बाहरी बाजारों में पहुंचने लगीं।

रेल-मार्गों के कारण अकाल के खतरे को दूर करना संभव हुआ। क्योंकि जहां सूखा पड़ा हो वहां रेल-मार्ग के ज़रिए अनाज पहुंचाना आसान हो गया। रेलवे ने उद्योगों के विकास में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया, क्योंकि जहां कारखाने स्थापित किए गए थे वहां बड़ी मात्रा में कोयला और कच्चा माल पहुंचाना संभव हुआ। रेलवे ने देश के विभिन्न भागों की वस्तुओं की कीमतों को लगभग एकसमान करने में भी योग दिया। पहले जहां वस्तुओं का उत्पादन होता था वहां उनकी भरमार होती थी और कीमतें भी कम होती थीं, परंतु अन्य स्थानों पर, जहां उनकी कमी होती थी वहां उनकी कीमतें ज़्यादा होती थीं। लेकिन अब वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाना आसान हो गया, इसलिए कीमतों में पहले से कम अन्तर रहने लगा। रेल-मार्गों के निर्माण से समाज में एक नए वर्ग का उदय हुआ। ये वे अकुशल श्रमिक थे जिनको रेल-मार्गों के निर्माण और उनके रख-रखाव का काम दिया गया। इस प्रकार समाज में एक ऐसे समुदाय का उदय हुआ जो अपनी जीविका के लिए भूमि या दस्तकारी पर आश्रित

नहीं था। इस नये समुदाय के लोग मूलतः गरीब किसान या भूमिहीन खेतिहर मज़दूर थे।

तुम पहले पढ़ चुके हो कि औद्योगिक क्रांति ने, जिसकी शुरुआत सर्वप्रथम इंग्लैंड में हुई थी और जो बाद में यूरोप के कुछ अन्य देशों में फैली, किस प्रकार उन देशों की समाज-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था को बड़े पैमाने पर बदला। इंग्लैंड में रेलवे की शुरुआत के कुछ ही साल बाद भारत में भी रेलवे की शुरुआत हो गई थी। रेलों के लिए बड़े पैमाने पर लोहे तथा कोयले का इस्तेमाल होता था और उनमें एक आधुनिक मशीन-भाप के इंजन-का प्रयोग होता था। रेलवे की स्थापना के साथ भारत में आधुनिक, उद्योगों, लोहे तथा इस्पात के कारखानों और रेल-इंजन बनाने वाले कारखानों की शुरुआत हो जानी चाहिए थी। परंतु ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि रेलवे की स्थापना का उद्देश्य भारत का औद्योगिक विकास करना नहीं बल्कि भारत का और अधिक आर्थिक शोषण करना था। रेल-इंजन इंग्लैंड से आयात किए जाते रहे। भारत के लौह और इस्पात उद्योग को भी प्रोत्साहन नहीं दिया गया। कोयला खनन को विकसित किया गया, परंतु इसका मुनाफा भारत की कोयला खानों के अंग्रेज़ मालिकों को मिलता था। रेलों की मरम्मत के लिए भारत में कुछ कारखाने भी स्थापित किए गए।

रेलमार्ग के विस्तार के साथ-साथ नई सड़कों का भी निर्माण हुआ। सड़कों ने गांवों के अलगाव को खत्म कर दिया। इनके कारण गांवों में पैदा की जाने वाली फ़सलों को बदलना संभव हो गया, क्योंकि अब गांवों में पैदा होने वाली फ़सलों को बाहर के बाज़ारों में बेचना आसान हो गया। इसी प्रकार, बाहर तैयार हुई वस्तुओं को अब गांवों में बेचना संभव हो गया।

परिवहन के साधनों में किए गए ये तमाम सुधार अंग्रेज़ों के हितों को बढ़ाने के लिए थे। मगर इनसे देश के विभिन्न भागों को एक-दूसरे के नज़दीक लाने में भी मदद मिली।

भारत में आधुनिक उद्योग

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत में कुछ आधुनिक उद्योग अस्तित्व में आए। ये दो प्रकार के थे-बाग़ान-उद्योग और मशीन उद्योग। इन उद्योगों पर प्रमुखतः ब्रिटिश कंपनियों का स्वामित्व और नियंत्रण था। भारतीय भी कुछ उद्योगों के मालिक थे, मगर सरकार से सहयोग न मिलने के कारण

भारतीयों के इन उद्योगों का तेज़ी से विकास न हो सका।

औद्योगिक विकास के प्रारंभिक दौर में हर देश को विदेशी प्रतियोगिता से अपने को बचाने के लिए 'संरक्षण' की नीति अपनानी पड़ती है। परंतु भारत की ब्रिटिश सरकार ने लंबे समय तक इस तरह की कोई कार्रवाई नहीं की, क्योंकि उससे इंग्लैंड के हितों को हानि पहुंचती। तुम जानते हो कि इंग्लैंड में बने माल के लिए भारत सबसे बड़ा बाज़ार था।

स्वदेशी आंदोलन, जिसकी शुरुआत 1905 ई. में हुई, स्वतंत्रता के आंदोलन का एक महत्वपूर्ण अंग था। इसने भारतीयों को हर क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनने के लिए प्रेरित किया। इस आंदोलन ने और दो महायुद्धों की आवश्यकताओं ने भारत में आधुनिक उद्योगों के विकास के लिए बेहतर अवसर प्रदान किए। वर्तमान सदी के तीसरे दशक में कुछ उद्योगों को संरक्षण प्राप्त हुआ। दूसरे महायुद्ध के दौरान औद्योगिक वस्तुओं की मांग बढ़ी-सैनिक इस्तेमाल तथा लोकोपयोग, दोनों के लिए। जितनी वस्तुएं आयात होती थीं उससे मांग कहीं अधिक थी। वैसी स्थिति में भारतीय उद्योगों को बढ़ावा मिलना स्वाभाविक था और सरकार ने भी उन्हें संरक्षण का आश्वासन दिया। मगर बडे स्तर पर औद्योगीकरण का आरम्भ भारत के स्वतंत्र होने पर ही हुआ।

बागान

यूरोपियनों ने जिन क्षेत्रों में भारतीय स्रोतों का सबसे ज़्यादा लाभ उठाया उनमें से एक था बागान उद्योग। इसकी शुरुआत अठारहवीं सदी के अंतिम वर्षों में नील से रंग तैयार करने के साथ हुई। बिहार और बंगाल के कुछ खास जिलों में नील की खेती की जाती थी। भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में 1805 ई. तक नील एक प्रमुख चीज़ हो गई। मगर उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में नील की मांग घटती गई, क्योंकि तब सस्ते और अधिक टिकाऊ, कृत्रिम रंगों का उत्पादन शुरु हो गया था।

चाय बागान उद्योग, जिसकी स्थापना उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल में हुई, जल्दी ही भारत का सबसे बड़ा बागान उद्योग बन गया। अधिकांश चाय बागान, असम, बंगाल और दक्षिण भारत में थे। धीरे-धीरे चाय का उत्पादन बढ़ता गया और बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में संसार के चाय बाज़ार में भारत का स्थान प्रथम हो गया। 1940 ई. तक भारत में उत्पादित चाय का अस्सी प्रतिशत निर्यात होनें लगा और इंग्लैंड इसके लिए सबसे बडा बाज़ार बन

गया। बागान उद्योग की अन्य महत्त्वपूर्ण चीजें थीं काफी, रबर और सिंकोना। भारत में अंग्रेज़ी राज की समाप्ति तक इन बागान उद्योगों पर ब्रिटिश पूंजी का एकाधिकार बना रहा।

भारत में उद्योगों का आरंभ उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ। इनमें सूती कपड़े और जूट के उद्योग प्रमुख थे। सूती कपड़े की पहली मिल 1853 ई. में बंबई में खुली। उसके बाद भारतीय सूती कपड़ा उद्योग लगातार प्रगति करता रहा। इस प्रगति में थोड़ी बाधा तभी पड़ी जब इंग्लैंड में कपास की मांग बढ़ जाने से इसकी कीमत में वृद्धि हो गई थी। प्रथम महायुद्ध आरम्भ होने के पहले सूती कपड़े का उत्पादन करने वाले देशों में भारत का चौथा स्थान था। अधिकांश जूट मिलें तो अंग्रेज़ों के अधिकार में थी, मगर भारतीयों ने कई सूती कपड़ा मिलें स्थापित कीं। भारतीय सूती कपड़ा उद्योग ने पहले अंग्रेज़ी कपड़ा उद्योग का और बाद में जापानी कपड़ा उद्योग का सफलतापूर्वक सामना किया। भारतीय सूती मिलों द्वारा तैयार किए गए धागों का करघा उद्योग ने भी बड़े स्तर पर उपयोग किया। ज़्यादातर सूती कपड़ा मिलें बंबई, अहमदाबाद और मद्रास में थीं। आरम्भ में जूट उद्योग बंगाल का एक कुटीर उद्योग था। फिर 1855 ई. में वहां पहला जूट कताई कारखाना खुला। कुछ समय तक भारतीय जूट उद्योग को डंडी (स्काटलैंड) की जूट मिलों की कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। परंतु उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण से भारतीया जूट-उद्योग का विश्व बाज़ार में लगभग एकाधिकार स्थापित हो गया।

टाटा आयरन और स्टील कंपनी के संस्थापक जमशेदजी टाटा

आधुनिक उद्योगों के लिए लोहा, इस्पात, सीमेंट, विविध रसायन तथा ऊर्जा की आवश्यकता होती है। खनिज तेल का बड़े पैमाने पर इस्तेमाल शुरू होने के पहले कोयला ही ऊर्जा का प्रमुख स्रोत था। भारत की कोयला खानों में 1854 ई. में काम शुरू हुआ था। रेलवे के विस्तार और उद्योगों के विकास के साथ कोयले की मांग बढ़ती गई। लंबे समय तक कोयले की सबसे अधिक

खपत रेलवे के लिए होती रही। अनुमान है कि बंगाल, बिहार और उड़ीसा में औसत किस्म के कोयले के विशाल भंडार मौजूद हैं। लोहे को गलाने के लिए कोयला परमावश्यक है। भारत में आधुनिक तरीके से लौहगलन की शुरुआत 1874 ई. में हुई। किंतु भारत में लोहा और इस्पात उद्योग की वास्तविक शुरुआत तब हुई जब 1905 ई. में जमशेदपुर में प्रसिद्ध 'टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी' का कारखाना स्थापित हुआ। बाद में बंगाल और मैसूर में भी लोहे के छोटे कारखाने स्थापित हुए। लोहे से बनने वाली अनेक प्रकार की चीज़ों के कारण इंजीनियरी उद्योगों का विकास संभव हुआ। भारत में लोहा और इस्पात उद्योग की स्थापना प्रमुख रूप से भारतीय पूंजी, कौशल तथा उद्यम के द्वारा हुई थी। मगर भारत में लोहे तथा इस्पात का उत्पादन काफी कम होता था। रसायन उद्योगों में नगण्य प्रगति हुई। सीमेंट उद्योग का विकास 1930 ई. से होने लगा। भारतीय स्वामित्व वाला एक प्रमुख प्रयास था चीनी उद्योग, जिसका 1930 ई. के बाद तेज़ी से विकास हुआ। मशीन-निर्माण के उद्योगों में बहुत कम प्रगति हुई। इस उद्योग का विकास न होने के कारण विभिन्न उद्योगों के लिए आवश्यक मशीनें बाहर से आयात करनी पड़ती थीं।

यद्यपि उद्योगों में कुछ सुधार हुआ था, मगर स्वाधीनता मिलने तक भारत में उद्योगों का बहुत सीमित विकास हुआ था। भारत के कुछ ही भागों में उद्योग स्थापित किए गए थे। इनमें से अधिकतर उद्योग अंग्रेज़ों के कब्ज़े में थे, इसलिए उनके द्वारा कमाया गया मुनाफा इंग्लैंड भेज दिया जाता था। यह तब होता था जब कि देश में मानव-श्रम और कच्चे माल के स्रोत विपुल मात्रा में उपलब्ध थे और उत्पादित वस्तुओं के लिए देश तथा विदेश में बाज़ार भी सहज उपलब्ध थे। यह स्थिति मुख्यतः अंग्रेज़ों की आर्थिक नीतियों का परिणाम थी। ब्रिटेन ने अपने हितों के लिए भारत को औद्योगिक रूप से पिछड़ा बनाए रखा। भारतीय अर्थव्यवस्था ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की पिछलग्गू बनी रही।

भारतीय धन का बहिर्गमन

रेलमार्गों के निर्माण और आधुनिक किस्म के जहाज़ बनने से भारत के विदेश-व्यापार में वृद्धि हुई। स्वेज़ नहर खुल जाने से भारत और यूरोप के बीच की दूरी कम हो गई और इससे इंग्लैंड तथा भारत के बीच वस्तुओं के आयात-निर्यात में वृद्धि हुई। उन्नीसवीं सदी के अंत तक भारत प्रमुख रूप से कपास, जूट, चाय, चावल, गेहूं, बीज

तथा चमड़े-जैसी चीजें बाहर भेजता था। बाहर जाने वाली वस्तुओं में जूट से बनी चीज़ें सबसे महत्त्वपूर्ण थीं। बाहर से प्रमुख रूप से मशीनें, धातु की चीजें कपड़े तथा अन्य उत्पादित चीज़ें आयात की जाती थीं।

बीसवीं सदी में भारत का विदेश व्यापार तेज़ी से बढ़ा। आयात-निर्यात की दशा और वस्तुओं की किस्मों में परिवर्तन हुआ। समूची उन्नीसवीं सदी में भारत का विदेश व्यापार मुख्य रूप से इंग्लैंड के साथ ही था। बीसवीं सदी में अमेरिका, जापान, जर्मनी और कुछ अन्य देशों के साथ भी व्यापार-संबंध स्थापित हुए। इन देशों के साथ व्यापार में वृद्धि होती गई। इस बीच आयात तथा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में भी कुछ परिवर्तन हुआ। जैसे-जैसे भारतीय उद्योगों का विकास होता गया, वैसे-वैसे उत्पादित वस्तुओं के आयात में कमी आई और भारत अपनी उत्त्पादित वस्तुओं का निर्यात करने लगा।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं था कि भारत आर्थिक विकास के उच्च स्तर पर पहुंच गया था।

ब्रिटिश शासन के पूरे दौर में भारत का धन लगातार इंग्लैंड पहुंचता रहा। ब्रिटिश स्वामित्व के उद्योगों तथा व्यापार से होने वाला मुनाफा तो इंग्लैंड भेजा ही जाता था, भारत सरकार द्वारा वसूल किए गए राजस्व का एक बड़ा हिस्सा भी 'स्वदेश शुल्क' के नाम पर इंग्लैंड पहुंचता था। भारत पर शासन करने के लिए इंग्लैंड में जो कुछ भी खर्च होता था, जैसेकि भारत सचिव के कार्यालय का खर्च, वह सब भारत के राजस्व से अदा किया जाता था। भारत के ब्रिटिश अधिकारी अपने वेतन का एक हिस्सा इंग्लैंड भेजते थे और सेवा से अवकाश ग्रहण करने पर उन्हें उनकी पेंशन भारत से भेजी जाती थी। अनुमान लगाया गया है कि उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में भारत में वसूल किए गए राजस्व का एक-तिहाई भाग इंग्लैंड पहुंचा था।

लोगों की आर्थिक दशा

भारतीय समाज में जिन दो नए वर्गों का उदय हुआ था वे थे-पूंजीपति और औद्योगिक मज़दूर। इनके अलावा एक मध्य वर्ग था। प्रशासन-व्यवस्था और व्यापार तथा उद्योग के विस्तार के साथ-साथ मध्य वर्ग की संख्या और इसका महत्त्व तेज़ी से बढ़ता गया। अनेक व्यक्तियों ने कानून, अध्यापन, इंजीनियरी तथा व्यापार के पेशे अपनाए। इन नए वर्गों ने भारत के इतिहास में बड़े महत्त्व की भूमिका अदा की। तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि इन वर्गों ने भारत की पुरानी

परंपराओं के स्थान पर आधुनिक ढंग से व्यवस्था स्थापित करनी चाही। ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय जनता की आर्थिक दशा की प्रमुख विशेषता थी उनकी घोर गरीबी।

प्रति व्यक्ति औसत वार्षिक आय की यदि ठीक से गणना की जाए, तो इससे देश की आम आर्थिक दशा की सही सूचना मिल जाती है। भारत में ऐसी आय का अनुमान मोटे तौर पर ही लगाया गया है। ऐसे ही अनुमान के अनुसार 1947 ई. में प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 228 रुपए थी, यानी प्रति दिन एक रुपए से भी कम आय। हमें यह तथ्य भी ध्यान में रखना होगा कि समाज के अलग-अलग वर्गों की आय अलग-अलग थी। ज़मींदारों, कारखाना-मालिकों, व्यापारियों तथा मध्य वर्ग के लोगों की आय ज़्यादा थी। उनकी तुलना में छोटे किसानों, खेत-मज़दूरों की आय काफी कम थी। कम आय वाले लोगों की संख्या बहुत ज़्यादा थी और उनका जीवन-स्तर भी बहुत भिन्न था। बीसवीं सदी के आरंभ में खेत-मजदूर की औसत मासिक कमाई 5 रुपए से कम थी और कलकत्ता तथा दिल्ली-जैसे नगरों के अकुशल मज़दूर की करीब 8 रुपए थी। इन आंकड़ों से भारतीय जनता की गरीबी के बारे में स्पष्ट जानकारी मिल जाती है। रमेशचंद्र दत्त इंडियन सिविल सर्विस के सदस्य थे। उन्होंने 1903 ई. में लिखा : "यदि उत्पादकों को अपंग बनाया जाए, किसानों पर करों का बोझ लाद दिया जाए और एक-तिहाई राजस्व देश से बाहर भेज दिया जाए, तो दुनिया का कोई भी देश स्थायी तौर पर दरिद्र हो जाएगा और उसे बार-बार अकाल का सामना करना पड़ेगा।"

उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों में संसार के अनेक विकसित देशों में वहां की सरकारों ने आर्थिक विकास को प्रोत्साहन दिया। मगर भारत में, जैसा कि हमने देखा है, विदेशी शासन होने के कारण स्थिति भिन्न रही। ब्रिटिश व्यापारियों के दबाव के कारण यहां सरकार ने लंबे समय तक उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन नहीं दिया। सरकार ने ग्रामीण जीवन को उन्नत बनाने और खेती को आधुनिक बनाने के लिए कुछ नहीं किया। उलटे उसने भू-राजस्व बढ़ा दिया और कई प्रकार के कर लगा दिए। परिणामत: छोटे किसान अपनी ज़मीन से हाथ धो बैठे और भूमिहीन मज़दूर बन गए। इस तरह के शोषण के खिलाफ उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत के कई भागों में किसानों ने विद्रोह किए। सेना और प्रशासन पर होने वाले भारी खर्च के कारण भारत दरिद्र बना रहा।

ज़मींदार, धनी किसान और महाजन भी गांव के गरीब लोगो-काश्तकारों, भूमिहीन मज़दूरों, निम्न जाति के लोगों तथा आदिवासियो-का शोषण करते रहे। बाद में इन लोगों के हितों की रक्षा के लिए किसान सभा तथा हरिजन लीग-जैसे संगठन बने।

बागानों और कारखानों के मज़दूरों की दशा भी अच्छी नहीं थीं यद्यपि 1881 ई. में काम के घंटे नौकरी करने वाले की न्यूनतम आयु तथा न्यूनतम वेतन के बारे में कानून बनते रहे, परंतु उन्हें सख्ती से लागू नहीं किया गया। 1920 ई. में 'अखिल भारतीय मज़दूर कांग्रेस' की स्थापना हुई। इसने मज़दूर आंदोलन को संगठित करने और मज़दूरों के हितों की रक्षा के लिए कदम उठाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

भारतीय पूंजीपति-वर्ग और मध्य-वर्ग भी प्रभावित हुआ। ब्रिटिश उद्योगपतियों को सरकारी संरक्षण प्राप्त होने के कारण उन उद्योगों के विकास में बाधा पहुंची जिन पर भारतीय पूंजीपतियों का नियंत्रण था। भारतीय पूंजीपतियों ने राजनीतिक अधिकारों तथा भारत के आर्थिक हितों की रक्षा एवं वृद्धि के लिए आवाज़ें उठानी शुरू कर दी।

अंग्रेज़ों के कारण भारत के आर्थिक जीवन में जो परिवर्तन हुए उन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता के उत्थान में बड़े महत्त्व की भूमिका अदा की है। भारतीय राष्ट्रवादी आरम्भ से ही देश की गरीबी और आर्थिक दुर्गति के बारे में चिंतित रहे हैं। वे सरकार की उत्पीड़क भू-राजस्व नीति, भारतीय धन का ब्रिटेन की ओर प्रवाह और भारतीय साधनों को विकसित करने में सरकार की असफ़लता के खिलाफ लगातार विरोध प्रकट करते रहे। 1938 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भारत के आर्थिक विकास के संबंध में एक रूपरेखा तैयार करने के लिए एक राष्ट्रीय योजना समिति का गठन किया। भारत के स्वतंत्र होने पर यह काम योजना आयोग ने अपने हाथों में ले लिया।

अभ्यास

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो :
   1. अंग्रेजी राज में भारतीय कृषि के पिछड़ेपन के कारण बतलाओ।
   2. उन्नीसवीं सदी में खाद्यान्नों के उत्पादन में कमी क्यों आई?
   3. भारत में अंग्रेज़ी राज्य के समय किसानों की ऋणग्रस्तता के क्या कारण थे ?
   4. अंग्रेजी राज में भारत में बार-बार अकाल पड़ने के क्या कारण थे?
   5. अकाल की समस्या को हल करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने क्या कदम उठाए ?
   6. देश की अर्थव्यवस्था और लोगों के सामान्य जीवन पर रेल-परिवहन के प्रारंभ होने से क्या प्रभाव पड़े ?
   7. अंग्रेजों ने किस प्रकार के उद्योगों की स्थापना की? उन उद्योगों की मुख्य विशेषताएँ बतलाओ।
   8. विदेशी प्रतियोगिता से भारतीय उद्योगों के बचाव के लिए ब्रिटिश सरकार ने संरक्षण की नीति क्यों नहीं अपनाई?
   9. अंग्रेज़ी राज के दौरान उद्योगों के विकसित होने के बावजूद भारत आर्थिक रूप से क्यों पिछड़ा रहा?
   10. बीसवीं शताब्दी के दौरान भारत के विदेश-व्यापार के बढ़ने के क्या कारण थे ?
   11. अंग्रेज़ी राज के दौरान कृषि और उद्योगों के क्षेत्र में विकास होने के बावजूद आम लोगों की स्थिति क्यों खराब रही?
   12. अंग्रेज़ी राज के दौरान कृषि और उद्योगों के विकास से किन लोगों को अधिक फ़ायदा पहुँचा और क्यों?

2. सन् 1858 से 1947 ई. के बीच भारत के आर्थिक विकास के संबंध में नीचे कुछ कथन दिए गए हैं। जो सही हों उनके आगे (√) निशान और जो ग़लत हों उनके आगे (×) निशान लगाओ।
   1. आर्थिक जीवन में आए परिवर्तन देश की एकता कायम करने में सहायक हुए।

2. रैयतवारी व्यवस्था मुख्य रूप से दक्षिण और पश्चिम भारत में प्रचलित थी।
3. ज़मींदारी व्यवस्था के अंतर्गत रहने वाले किसानों की तुलना में रैयतवारी व्यवस्था वाले इलाकों के किसान अच्छी हालत में थे।
4. अंग्रेज़ों ने भारतीय कपड़ा-उद्योगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कपास के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया।
5. प्रथम महायुद्ध के समय सूती कपड़े के उत्पादन की दृष्टि से भारत संसार के अन्य देशों की अपेक्षा काफी पीछे था।

3. करने को कार्य

1. एक चार्ट बनाओ जिसमें लोगों के जीवन, देश की समृद्धि तथा कृषि पर निम्नलिखित कारकों के प्रभाव को दिखलाओ:
   क. नकद फसलों की खेती।
   ख. नहरों का निर्माण।
   ग. रेलमार्ग का निर्माण।
2. ग्राफ के द्वारा क. प्रति व्यक्ति औसत वार्षिक आय, ख. जनसंख्या में वृद्धि, ग. रेल-मार्ग की लंबाई, घ. खेती की जाने वाली भूमि का क्षेत्रफल और ङ सिंचित भूमि का क्षेत्रफल सन् 1858 से 1947 ई. तक दिखलाओ। आँकड़ों और अन्य आवश्यक सूचनाओं के लिए अन्य पुस्तकों का सहारा लो।

अध्याय 8

धार्मिक तथा सामाजिक सुधार आंदोलन और सांस्कृतिक जागृति

तुम भारतीय समाज की कुछ विशेषताओं के बारे में पहले पढ़ चुके हो। जैसे, जातिप्रथा ने ऊंच-नीच और असमानताओं को जन्म दिया था, स्त्रियों का उत्पीड़न होता था, और कुछ अमानवीय प्रथाएं तथा रीति-रिवाज प्रचलित थे। उन्नीसवीं सदी के आरंभिक दशकों से देश के हर भाग में यह अधिकाधिक महसूस किया जाने लगा कि भारतीय समाज पिछड़ा हुआ है और इसे सुधारना आवश्यक है। कुछ सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों ने धार्मिक विश्वासों का रूप धारण कर लिया था। अतः देश के हर भाग में और हर धार्मिक समुदाय में सामाजिक सुधार के जो आंदोलन शुरू हुए वे धार्मिक सुधार के भी आंदोलन थे। ये सुधारक बुद्धिवाद, मानवतावाद और मानव-एकता के विचारों से बड़े प्रभावित हुए थे।

तुमने पहले पढ़ा है कि भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा की शुरुआत किस प्रकार हुई थी। यद्यपि बहुत कम लोगों को इस शिक्षा का लाभ मिला, मगर पाश्चात्य जगत के कुछ उच्च विचारों का और आधुनिक विज्ञान का ज्ञान भारत में लाने में इस शिक्षा ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। शिक्षित भारतीय भी दुनिया के अन्य भागों के राष्ट्रीयता तथा जनतंत्र के आंदोलनों से और बाद में समाजवाद के आंदोलन से परिचित हुए। भारतीय जनता की सर्वतोमुखी जागृति के लिए शुरू हुए इन आंदोलनों ने आधुनिक भारत के निर्माण की आधारशिला रखी। धार्मिक और सामाजिक जीवन के कुछ पहलुओं में सुधार के साथ शुरू हुई यह जागृति कालांतर में देश के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक जीवन में भी फैली।

अठारहवीं सदी के अंतिक चरण से कतिपय यूरोपीय तथा भारतीय विद्वानों ने भारत की प्राचीन विद्या का अन्वेषण शुरू कर दिया। प्राचीन भारत के दर्शन, विज्ञान, धर्म तथा साहित्य की अधिकाधिक जानकारी मिलने लगी, तो भारतीयों में अपनी सभ्यता के प्रति अभिमान की भावना जगने लगी।

इस भावना से धार्मिक तथा सामाजिक आंदोलनों को बढ़ावा मिला। सुधारकों ने अंधविश्वासों तथा अमानवीय प्रथाओं के खिलाफ शुरू किए अपने संघर्ष में प्राचीन ग्रंथों के प्रमाण प्रस्तुत किए। ऐसा करते समय उनमें से अधिकांश ने धार्मिक विश्वासों की बजाय तर्कबुद्धि को महत्त्व दिया। इस प्रकार भारत के धार्मिक तथा सामाजिक सुधारको ने पाश्चात्य विचारों की अपनी जानकारी के साथ-साथ प्राचीन ज्ञान का भी उपयोग किया।

राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज

सुधार आंदोलन में अग्रगामी और अनेक दृष्टियों से सर्वाधिक महत्त्व की भूमिका राजा राममोहन राय ने अदा की। उनका जन्म 1772 ई. के आसपास बंगाल के एक संपन्न परिवार में हुआ था। उन्होंने संस्कृत की परंपरागत शिक्षा वाराणसी में और अरबी तथा फ़ारसी की शिक्षा पटना में प्राप्त की। बाद में उन्होंने अंग्रेज़ी, ग्रीक तथा हिब्रू भाषाएं भी सीखीं। राममोहन राय ने न केवल हिंदू धर्म का गहन अध्ययन किया, बल्कि इस्लाम, ईसाई धर्म और जन धर्म का भी अध्ययन किया। उन्होंने बंगला, हिंदी, संस्कृत, फारसी तथा अंग्रेज़ी में कई ग्रंथो की रचना की। उन्होंने दो समाचारपत्र भी शुरू किए-एक बंगला में और दूसरा फारसी में। उन्हें 'राजा' की पदवी दी गई और मुगल बादशाह ने उन्हें अपना दूत बनाकर इंग्लैंड भेजा। वे 1831 ई. में इंग्लैंड पहुंचे और वहीं 1833 ई. में उनका देहांत हुआ।

राजा राममोहन राय

राममोहन राय का दृढ़ मत था कि हिंदू धर्म में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि जनता को उनके मूल धर्मग्रंथों की सही जानकारी दी जाए। इसके लिए उन्होंने अथक प्रयास करके वेदों तथा उपनिषदों के बंगला अनुवाद प्रकाशित किए। उन्होंने एक सर्वशक्तिमान ईश्वर पर आधारित विश्वधर्म में अपनी आस्था व्यक्त की। उन्होंने मूर्तिपूजा तथा धार्मिक अनुष्ठानों की निंदा की। धार्मिक सुधार के क्षेत्र में

उनका महान कार्य था - 1828 ई. ब्रह्म सभा की और 1830 ई. में ब्रह्म समाज की स्थापना। ब्रह्म समाज धार्मिक सुधार का पहला महत्त्वपूर्ण संगठन था। इसने मूर्तिपूजा और निरर्थक प्रथाओं तथा रीति-रिवाजों का बहिष्कार किया। समाज ने अपने समुदायों के लिए नियम बनाया कि वे किसी भी धर्म पर प्रहार न करें।

राममोहन राय की गतिविधियां धार्मिक सुधार तक ही सीमित नहीं थीं। तुम पहले पढ़ चुके हो कि उन्होंने भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा शुरू करने का समर्थन किया था। वे समझते थे कि भारत में ज्ञान-विज्ञान को बढ़ावा देने के लिए अंग्रेज़ी शिक्षा आवश्यक है। हम पहले बता चुके हैं कि उन्होंने दो समाचारपत्र शुरू किए थे। वे प्रेस की आज़ादी के समर्थक थे और प्रेस पर लगे प्रतिबंधों को हटाने के लिए उन्होंने आंदोलन किया था।

सामाजिक सुधार के क्षेत्र में राममोहन राय की सबसे बड़ी उपलब्धि थी - 1829 ई. में सती प्रथा का अंत। इसके बारे में तुम पहले पढ़ चुके हो। उन्होंने देखा था कि उनके बड़े भाई की पत्नी को सती होने के लिए मजबूर किया गया था। सती प्रथा के खिलाफ़ उनके आंदोलन का कट्टरपंथियों ने कड़ा विरोध किया। राममोहन राय ने महसूस किया कि सती प्रथा हिंदू स्त्रियों की अत्यंत दयनीय दशा का ही एक अंग है। उन्होंने बहुपत्नी प्रथा का विरोध किया। वे चाहते थे कि स्त्रियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था हो और उन्हें संपत्ति का उत्तराधिकार मिले।

राममोहन राय और उनके सहयोगियों को कट्टरपंथी हिंदुओं की शत्रुता तथा उनके उपहास का सामना करना पड़ा। मगर ब्रह्म समाज का प्रभाव बढ़ता गया और देश के विभिन्न भागों में समाज की शाखाएं स्थापित हुईं। ब्रह्म समाज के दो प्रमुख नेता थे-देवेंद्रनाथ ठाकुर और केशवचंद्र सेन। ब्रह्म समाज के प्रचार के लिए केशवचंद्र सेन ने मद्रास तथा बंबई प्रांतों की यात्राएं कीं और बाद में उत्तर भारत का भी दौरा किया। 1866 ई. में ब्रह्म समाज में विभाजन हुआ। केशवचंद्र सेन ने भारतीय ब्रह्म समाज की स्थापना की। धार्मिक और सामाजिक मामलों में केशवचंद्र सेन और उनके सहयोगियों के विचार अन्य ब्रह्म-समाजियों के विचारों से अधिक पुरोगामी थे। उन्होंने जाति-प्रथा, धार्मिक रीति-रिवाज और धर्मग्रंथों के प्रमाणों को मानने से इनकार कर दिया। उन्होंने अंतर्जातीय विवाह तथा पुनर्विवाह का समर्थन किया और ऐसे विवाह आयोजित भी किए। उन्होंने परदा-प्रथा तथा जाति-भेद

का भी विरोध किया। केशवचंद्र सेन द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज फलता-फूलता गया, परंतु दूसरे समुदाय के ब्रह्म समाजियों का प्रभाव, सामाजिक सुधार में कोई दिलचस्पी न लेने के कारण घटता गया।

यद्यपि ब्रह्म समाजियों की संख्या कभी भी बहुत ज़्यादा नहीं रही, मगर वे बुद्धिवाद तथा सुधार की नई भावना के प्रतिनिधि थे। उन्होंने जातिप्रथा की कठोर व्यवस्था पर प्रहार किया, तथाकथित निम्न जातियों के तथा अन्य धर्मों के लोगों के साथ खानपान शुरू कर दिया, खान-पान से संबंधित वस्तुओं पर लगाए गए प्रतिबंधों का विरोध किया, समाज में स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए प्रयास किए, शिक्षा के प्रसार के लिए काम किया और धर्म के नाम पर समुद्र-यात्रा पर लगी पाबंदी का विरोध किया।

राममोहन राय द्वारा शुरू किए गए और दूसरों द्वारा आगे बढ़ाए गए इस आंदोलन ने देश के अन्य भागों में इसी तरह के सुधार आंदोलनों को प्रभावित किया।

डेरोज़ियो और तरूण बंगाल

बंगाल में आधुनिकीकरण के आंदोलन को आगे बढ़ाने में कलकत्ता के हिंदू कालेज ने बड़े महत्त्व की भूमिका अदा की। इस कालेज की स्थापना 1817 ई. में हुई थी। राममोहन राय के सहयोगी डेविड हारे ने इस कालेज की स्थापना में बड़ा योग दिया था। डेविड हारे स्काटलैंड के निवासी थे और घड़ियां बेचने कलकत्ता आए थे, मगर बाद में बंगाल में आधुनिक शिक्षा का प्रसार करना उनके जीवन का उद्देश्य बन गया। 1826 ई. में 17 साल के तरुण हेनरी लुई विवियन डेरोज़ियो हिंदू कालेज में अध्यापक बने। उनके पिता पुर्तगाल के थे और मां अंग्रेज़ थी। थोड़े ही समय में कालेज के अनेक प्रतिभाशाली विद्यार्थी डेरोजियो के इर्द-गिर्द एकत्र हुए जिन्हें उन्होंने स्वतंत्रता से सोचने और परंपरागत मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लगाने के लिए प्रोत्साहित किया। डेरोज़ियो ने अपने विद्यार्थियों के सामने पुरोगामी विचार रखे और साहित्य, इतिहास, दर्शन तथा विज्ञान के बारे में विचार-विमर्श करने के लिए एक संगठन बनाया। डेरोज़ियो की इन गतिविधियों ने कलकत्ता के तरुण विद्यार्थियों को बड़ा आकर्षित किया और उन्होंने एक प्रकार की बौद्धिक क्रांति को जन्म दिया। डेरोज़ियो के विद्यार्थियों ने, जिन्हें सामूहिक रूप से 'यंग बंगाल' या तरुण बंगाल कहा जाने लगा, सभी प्रकार की परंपराओं का मज़ाक उड़ाया, ईश्वर के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाया, सामाजिक व धार्मिक रूढ़ियों को

तोड़ा, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और स्त्रियों के लिए शिक्षा की मांग की। उन्होंने फ़्रांस की क्रांति और इंग्लैंड के उदार चिंतन के आदर्श प्रस्तुत किए। इस समूह के पुरोगामी विचारों ने और मूर्तिपूजा के बहिष्कार – जैसे परंपरा-विरोधी आचरणों ने कलकत्ता के कट्टरपंथी हिंदुओं में हलचल मचा दी। उन्होंने आरोप लगाया कि डेरोज़ियो के विचारो से ही तरुण लड़के बिगड़ रहे हैं। डेरोज़ियो को कालेज से निकाल देने के लिए उन्होंने अधिकारियो पर दवाब डाला।

डेरोज़ियो को कालेज से बरखास्त कर दिया गया। 1831 ई. में उनकी एकाएक मृत्यु हो गई। मगर उनकी मृत्यु के बाद भी 'यंग बेंगाल' आंदोलन जारी रहा। इस सगठन के सदस्य, नेतृत्वहीन, होने पर भी, शिक्षा और लेखन के ज़रिए पुरोगामी विचारों का प्रचार करते रहे।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर

एक अन्य महान् सुधारक थे – ईश्वरचंद्र विद्यासागर। एक गरीब ब्राह्मण परिवार मे 1820 ई. में उनका जन्म हुआ था और उन्होंने सस्कृत का गहन अध्ययन किया था। वे कलकत्ता के संस्कृत कालेज के प्रिंसीपल बने। उनके अगाध पांडित्य के लिए सस्कृत कालेज ने उन्हे "विद्यासागर" की उपाधि प्रदान की। उनके जीवन की सादगी, उनकी निस्वार्थ सेवा, उनकी निर्भयता और दलितों के उत्थान तथा शिक्षा के प्रसार के लिए किए गए उनके अथक प्रयासों ने उन्हें एक आख्यान-पुरुष बना दिया। उन्होंने सस्कृत कालेज में आधुनिक पाश्चात्य विचारों पर आधारित शिक्षा शुरू की और संस्कृत के अध्ययन के लिए तथाकथित निम्न जातियों के विद्यार्थियों के लिए भी कालेज के द्वार खोल दिए। उसके पहले संस्कृत कालेज में परंपरागत विषय ही पढ़ाए जाते थे।

संस्कृत के अध्ययन पर ब्राह्मण-वर्ग का एकाधिकार था और तथाकथित निम्न जातियों के लिए सस्कृत के अध्ययन की मनाही थी। उन्होंने बगला भाषा के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। उन्हें आधुनिक बंगला का प्रणेता माना जाता है। वे कई पत्र-पत्रिकाओं से जुड़े हुए थे। उन्होंने सामाजिक सुधारों के बारे में अनेक करारे लेख लिखे।

विद्यासागर ने स्त्री जाति के उत्थान के लिए महान कार्य किया। विधवा पुनर्विवाह का कानून बनाने के लिए उन्होंने जो कार्य किया उसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। कलकत्ता में 1856 ई. मे पहली बार जिस विधवा-पुनर्विवाह का आयोजन हुआ उसमें

विद्यासागर ने व्यक्तिगत भूमिका अदा की। अपने अगाध पांडित्य के बल पर उन्होंने विधवा पुनर्विवाह को समर्थन प्रदान किया और कन्याओं की शिक्षा के लिए उन्होंने जो प्रयास किए उनके कारण कट्टरपंथी हिंदू उनके दुश्मन बन गए। जब 1855 ई. में विद्यासागर स्कूलों के विशेष निरीक्षक नियुक्त हुए, तब उन्होंने अपने इलाकों में कई विद्यालय, कन्या विद्यालय भी खोले। अधिकारियों ने इसे पसंद नहीं किया, इसलिए उन्होंने अपने पद से इस्तीफा दे दिया। ड्रिंकवाटर बेथ्यून से उनके मित्रता के संबंध थे। बेथ्यून ने ही कलकत्ता में 1849 ई. में कन्याओं की शिक्षा के लिए पहला स्कूल खोला था। स्वयं विद्यासागर ने भी कन्याओं के लिए कई स्कूल खोले। आज यह कल्पना करना कठिन है कि कन्या-शिक्षा के समर्थकों को उन दिनों के कट्टरपंथियों के कड़े विरोध का कितना अधिक सामना करना पड़ा था। उदाहरण के लिए, कुछ कट्टरपंथी तो यहां तक कहते थे कि जो व्यक्ति शिक्षित कन्या से विवाह करता है वह ज़्यादा दिनों तक जीवित नहीं रहता। विद्यासागर धार्मिक मसलों में ज़्यादा नहीं उलझे। मगर उन्होंने धर्म के बारे में अर्जित अपने अगाध ज्ञान से उन लोगों का मुकाबला किया जो धर्म के नाम पर सुधारों का विरोध कर रहे थे।

पश्चिम भारत के सुधार आंदोलन

बंगाल में शुरू हुए धार्मिक और सामाजिक सुधार के आंदोलन देश के अन्य भागों में भी फैले। 1867 ई. में बंबई में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना हुई। इसके दो प्रमुख नेता थे—महादेव गोविंद रानडे और रामकृष्ण गोपाल भांडारकर। प्रार्थना समाज के नेता ब्रह्म समाज से प्रभावित हुए थे। उन्होंने जातिप्रथा और अस्पृश्यता की निंदा की। उन्होंने स्त्रियों के उद्धार के लिए काम किया और विधवा पुनर्विवाह का समर्थन किया। रानडे ने, जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में भी योग दिया था सारे देश में सामाजिक सुधार के कार्य को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से 1887 ई. में 'भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन' की स्थापना की। हर साल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर सामाजिक समस्याओं पर विचार करने के लिए इस सम्मेलन का भी आयोजन होता था। रानडे की मान्यता थी कि सामाजिक सुधारों के बिना आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में उन्नति कर पाना संभव नहीं है। वे हिंदू-मुसलमान एकता के ज़बरदस्त समर्थक थे। उन्होंने कहा था कि, "जब

तक हिंदू और मुसलमान एक-दूसरे से हाथ नहीं मिलाते, तब तक इस विशाल देश में कोई प्रगति नहीं हो सकती।"

पश्चिम भारत के दो और महान सुधारक थे— गोपाल हरि देशमुख, जो 'लोकहितवादी' के नाम से प्रसिद्ध हुए, और ज्योतिराव गोविंदराव फुले, जो 'ज्योतिबा' के नाम से प्रसिद्ध हुए। लोकहितवादी सामाजिक सुधार के कई संगठनों से संबंधित रहे। उन्होंने जातिप्रथा का विरोध किया और स्त्रियों के उत्थान के लिए काम किया। महात्मा फुले ने दलितों और स्त्रियों के उद्धार के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया। 1848 ई. में उन्होंने तथाकथित निम्न जातियों की कन्याओं के लिए स्कूल खोला। उन्होंने अपनी पत्नी को पढ़ाया ताकि वह उस कन्या को स्कूल में पढ़ा सके। बाद में उन्होंने कन्याओ के लिए और भी स्कूल खोले। 1873 ई. में उन्होंने 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की और सभी जातियों तथा धर्मों के लोगों के लिए इसके द्वार खोल दिए। सत्यशोधक समाज का लक्ष्य था दलित जातियों के लोगों के लिए समान अधिकार प्राप्त करना। महात्मा फुले ब्राह्मणों की प्रभुता के विरोधी थे। उन्होंने ब्राह्मण-पुरोहितों के बिना विवाह समारोह सम्पन्न कराने की प्रथा चलाई। ज्योतिबा ने दलितों के उद्धार का जो महान कार्य किया उसके लिए उन्हें "महात्मा" की पदवी दी गई।

दक्षिण भारत के सुधार आंदोलन

ब्रह्म समाज से प्रेरणा पाकर 1864 ई. में मद्रास में 'वेद समाज' की स्थापना हुई। वेद समाज ने जातिभेद का विरोध और विधवा पुनर्विवाह तथा कन्याओं की शिक्षा-व्यवस्था का समर्थन किया। ब्रह्म समाज की तरह वेद समाज ने भी कट्टरपंथी हिंदुओं के अनुष्ठानों और अंधविश्वासों की निंदा की और एक सर्वशक्तिमान ईश्वर में आस्था व्यक्त की। चेंबेटी श्रीधारलु नायडू वेद समाज के प्रमुख नेता थे। उन्होंने ब्रह्म समाज की पुस्तकों का तमिल और तेलुगु में अनुवाद किया। बाद में दक्षिण भारतीय ब्रह्म समाज की शाखाएं तमिलनाडु, कर्नाटक और आन्ध्र में स्थापित हुईं। कुछ समय बाद ही प्रार्थना समाज की भी शाखाएं खुलीं और दोनों समाजों ने मिलकर धार्मिक और सामाजिक सुधार का कार्य किया।

दक्षिण भारत में सुधार आंदोलनों के एक और प्रमुख नेता थे-कंडुकुरी वीरेसलिंगम। उनका जन्म आन्ध्र के एक कट्टरपंथी ब्राह्मण परिवार में 1848 ई. में हुआ था। वे ब्रह्म समाज के, विशेषकर केशवचंद्र सेन

के विचारों से प्रभावित हुए थे। उन्होंने सामाजिक सुधार के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया। 1876 ई. में उन्होंने एक तेलुगु पत्रिका शुरू की जो लगभग पूर्णत: सामाजिक सुधार-कार्य के लिए समर्पित थी। उन्होंने जनता-जागृति तथा सामाजिव सुधार के अनेक क्षेत्रों में काम किया, परंतु उनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य स्त्रियों की विमुक्ति से संबंधित था। इसमें कन्याओं की शिक्षा और विधवा पुनर्विवाह के लिए किया गया उनका कार्य भी शामिल है। आन्ध्र के समाज सुधारकों और राष्ट्रीय नेताओं की एक पूरी पीढ़ी ने वीरेसलिंगम् के लेखन तथा सुधार-कार्यों से प्रेरणा प्राप्त की।
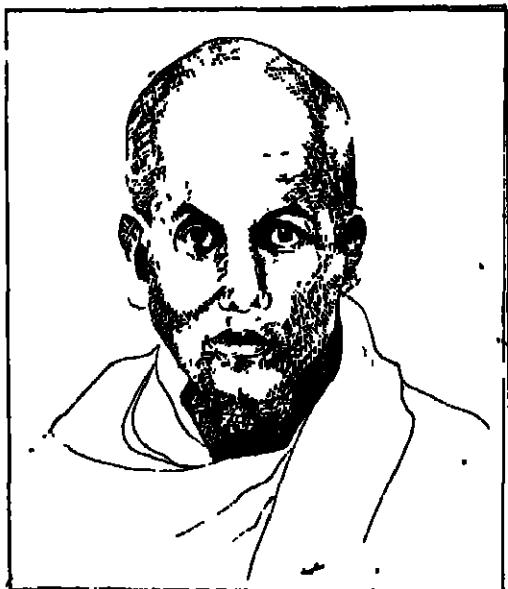
श्री नारायण गुरू

केरल में नारायण शुरू ने दलितोद्धार का एक महत्त्वपूर्ण आंदोलन शुरू किया था। नारायण गुरू का जन्म एक एझवा परिवार में 1854 ई. में हुआ था। केरल के उच्च जाति के हिंदू अन्य अनेक समुदायों के साथ एझवाओं को भी अछूत मानते थे। नारायण गुरू ने संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया और एझवा तथा अन्य दलित-वर्गों के उत्थान के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया। उन्होंने ऐसे मंदिर स्थापित किए जिनमें ईश्वर या उसकी मूर्ति का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। उन्होंने अपना पहला मंदिर समीप की एक नदी से पत्थर लाकर स्थापित किया था। उस पत्थर पर उन्होंने शब्द खुदवाए थे: "इस स्थान पर सभी लोग बिना किसी जातिभेद तथा धर्मभेद के बंधुभाव से रहते हैं।" नारायण गुरू ने 1903 ई. में 'श्री नारायण धर्म परिपालन योगम्' (एस. एन. डी. पी) संस्था की स्थापना की, जो सामाजिक सुधार का एक महत्त्वपूर्ण साधन बनी। नारायण गुरू ने जाति तथा धर्म पर आधारित भेदों को निरर्थक माना और, उन्हीं के शब्दों में कहें तो, सभी के लिए "एक जाति, एक धर्म और एक ईश्वर" की आवश्यकता पर ज़ोर दिया।

दक्षिण भारत के अनेक सुधारकों का कार्य हिंदू मंदिरों से संबंधित कुछ प्रथाओं में सुधार करने से संबंधित था। उन्होंने मंदिरों में

देवदासी प्रथा चालू रखने का विरोध किया। वे यह भी चाहते थे कि मंदिरों की सम्पत्ति - कुछ मंदिरों के पास बेशुमार सम्पत्ति थी - पुरोहितों के कब्ज़े में नहीं जानी चाहिए, बल्कि उस पर जनता का नियंत्रण होना चाहिए। कुछ मंदिरों में तथाकथित निम्न जाति के लोगों के लिए प्रवेश मना था और कुछ अवसरों पर तो मंदिर के पास के रास्ते भी उनके लिए बंद कर दिए जाते थे। सुधारकों ने मंदिर प्रवेश के लिए और मंदिरों के साथ जुड़ी हुई कुप्रथाओं को बंद करने के लिए जबरदस्त आंदोलन शुरू किए। दुर्भाग्य से, उन्नीसवीं सदी से सुधारकों द्वारा किए गए प्रयासों के बावजूद, देश कुछ भागों में आज भी ऐसे मामले उठते हैं जब जाति के नाम पर कुछ लोगों को मंदिर के प्रांगण में प्रवेश नहीं मिलता।

दयानंद सरस्वती और आर्य समाज

उत्तर भारत में धार्मिक और सामाजिक सुधार का सबसे प्रभावशाली आंदोलन दयानंद सरस्वती ने शुरू किया। दयानंद, जिनका बचपन का नाम मूलशंकर था, 1824 ई. में काठियावाड़ में पैदा हुए थे। 14 साल की आयु में मूर्तिपूजा का बहिष्कार करके वे विद्रोही बन गए। कुछ ही समय बाद उन्होंने घर छोड़ दिया और घुमक्कड़ पंडित बनकर ज्ञान की खोज करते रहे। उस दौर में उन्होंने संस्कृत भाषा और साहित्य पर अधिकार प्राप्त कर लिया।

1863 ई. से दयानंद ने अपने मत का प्रतिपादन शुरू कर दिया—ईश्वर केवल एक है, जिसकी पूजा मूर्ति के रूप में नहीं, बल्कि जीवात्मा के रूप में की जानी चाहिए। उनकी मान्यता थी कि मनुष्य को ईश्वर द्वारा प्रदत्त सारा ज्ञान वेदों में विद्यमान है और उनमें आधुनिक विज्ञान की प्रमुख उपलब्धियां भी निहित हैं। इस संदेश को लेकर दयानंद ने सारे देश की यात्रा की और 1875 ई. में बंबई में आर्य समाज की स्थापना की। दयानंद ने अपने उपदेश हिंदी भाषा में दिए। उनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'सत्यार्थ-प्रकाश' है। हिंदी भाषा का उपयोग करने के कारण दयानंद के विचार उत्तर भारत की आम जनता तक पहुंचे। उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात और पंजाब में आर्य समाज का तेज़ी से प्रसार हुआ। पंजाब में तो यह एक अत्यंत महत्त्व की सामाजिक और राजनीतिक शक्ति बन गया।

आर्य समाज के सदस्य "दस सिद्धांतों" का अनुसरण करते हैं। इनमें प्रथम है - वेदों का अध्ययन। शेष सिद्धांत सद्गुण और नैतिकता से संबंधित हैं। दयानंद ने आर्य समाज के सदस्यों के लिए सामाजिक व्यवहार

के जो नियम बनाए उनमें जातिभेद और सामाजिक असमानता के लिए कोई स्थान नहीं है। आर्य समाजी बाल-विवाह का विरोध और विधवा पुनर्विवाह का समर्थन करते हैं।

शिक्षा के प्रसार के लिए समूचे उत्तर भारत में लड़के तथा लड़कियों के लिए कई सारे स्कूल और कालेज खोले गए। लाहौर के दयानंद एंग्लो-वेदिक स्कूल ने, जो जल्दी ही पंजाब का एक प्रमुख कालेज बन गया, इन सब संस्थाओं के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया। लाहौर के इस कालेज में अंग्रेज़ी तथा हिंदी माध्यम से आधुनिक शिक्षा दी गई जो आर्य समाजी दयानंद की मूल शिक्षाओं का अनुसरण करना चाहते थे उन्होंने हरिद्वार में गुरुकुल की स्थापना की। गुरुकुल की स्थापना प्राचीन आश्रमों की पद्धति पर की गई थी।

दयानंद वेदों को प्रमाण-ग्रंथ मानते थे। वे हिंदू धर्म को एक निश्चित दिशा और लड़ाकू चरित्र प्रदान करना चाहते थे। वे चाहते थे कि जो हिंदू मुसलमान या ईसाई बन गया है उसे पुनः हिंदू बना लेना चाहिए। इसके लिए उन्होंने शुद्धिकरण की भी व्यवस्था की।

जिन अनेक सुधारकों के बारे में तुमने पहले पढ़ा है उन्होंने अपने धार्मिक और सामाजिक सुधारों के समर्थन में वेदों के तथा अन्य प्राचीन ग्रंथों के हवाले प्रस्तुत किए थे। मगर उनके विचार तर्कबुद्धि पर ही आधारित थे और उनमें से कुछ ने प्राचीन धर्मग्रंथों की मान्यताओं को भी खुली चुनौती दी थी। किन्तु दयानंद वेदों को परम सत्य मानते थे। परंतु शिक्षा के प्रचार-प्रसार, स्त्रियों के उत्थान तथा जातिप्रथा के बंधनों को कमज़ोर करने में दयानंद और आर्य समाज के विचारों ने दूसरे अनेक सुधार आंदोलनों की अपेक्षा ज़्यादा प्रभावकारी कार्य किया।

रामकृष्ण मिशन और विवेकानंद

उन्नीसवीं सदी के एक और महत्त्वपूर्ण सुधारक थे रामकृष्ण परमहंस (1836-1886 ई.)। वे कलकत्ता के समीप के दक्षिणेश्वर मंदिर के पुजारी थे। दूसरे धर्म के नेताओं के संपर्क में आने पर उन्होंने सभी पंथों की पवित्रता को स्वीकार किया। उस समय के प्रायः सभी धर्म-सुधारकों ने, केशवचंद्र सेन और दयानंद ने भी, रामकृष्ण परमहंस से धार्मिक चर्चा की और उनसे प्रेरणा प्राप्त की। पश्चिम के प्रभाव के कारण जिन समकालीन शिक्षितों का अपनी ही संस्कृति के प्रति विश्वास डगमगा गया था उन्हें रामकृष्ण की शिक्षाओं से सांत्वना मिली।

रामकृष्ण के उपदेशों के प्रचार तथा उन्हें व्यवहार में उतारने के उद्देश्य से उनके प्रिय शिष्य विवेकानंद ने 1897 ई. में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। मिशन का उद्देश्य है–समाज की सेवा करना। इसका आदर्श वाक्य है : "ईश्वर की आराधना का सर्वोत्तम मार्ग है मानवजाति की सेवा करना!" रामकृष्ण मिशन अपने सार्वजनिक कार्यों के लिए सुप्रसिद्ध हो गया है। मिशन ने बाढ़, अकाल तथा महामारियों के समय राहत-कार्य किया। मिशन ने अस्पताल और शिक्षण संस्थाएँ भी खोलीं।

विवेकानंद (1863-1902ई.) का जीवन-चरित्र रामकृष्ण से बिल्कुल भिन्न था। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य दर्शन का गहन अध्ययन किया था, मगर रामकृष्ण से मुलाकात होने तक उन्हें मानसिक शांति नहीं मिली थी। परंतु वे केवल आध्यात्मिक शांति पाकर ही संतुष्ट नहीं थे। मातृभूमि की दुर्दशा देखकर वे अत्यंत दुःखी थे। सारे देश का दौरा करने पर उन्हें चारो ओर "ग़रीबी, गंदगी, बौद्धिक जड़ता और भविष्य के प्रति निराशा" ही देखने को मिली। उन्होंने स्पष्ट कहा था : "अपनी इस दरिद्रता और अवनति के लिए हम स्वयं ज़िम्मेवार हैं।" उन्होंने देश की हालत सुधारने के लिए देशवासियों का आह्वान किया।

उन्होंने देशवासियों को उनकी कमज़ोरियों के प्रति संकेत करने और उन्हें जागृत करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने नई समाज-व्यवस्था लाने के लिए–ग़रीबी दूर करने और जनता को जागृत करने के लिए–भारतवासियों से आजीवन प्रयास करने को कहा। इसके लिए रामकृष्ण मिशन ने निष्ठावान कार्यकर्ताओं का एक समूह तैयार किया।

विवेकानंद ने देश के बाहर जो कार्य किया उससे भारतीय संस्कृति के प्रति विदेशियों का आकर्षण बढ़ा। विवेकानंद ने 1893 ई. में अमरीका के शिकागो नगर में आयोजित विश्व धर्म सम्मेलन में भाग लिया। उस सम्मेलन में दिए गए उनके भाषण ने दूसरे देशों के लोगों को बड़ा प्रभावित किया और इस प्रकार दुनिया में भारतीय संस्कृति का आदर बढ़ा।

मुस्लिम सुधार–आंदोलन

मुसलमानों में जागरण की शुरुआत उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में बरेली के सैयद अहमद और बंगाल के शरीयतुल्लाह जैसे नेताओं के प्रयासों से हुई। उनका विचार था कि इस्लाम के ह्रास के कारण ही भारत अंग्रेज़ों का गुलाम बना। वे इस्लाम को सुधारने तथा मज़बूत बनाने और इस्लामी शिक्षा की वृद्धि में जुट गए। उनके द्वारा

शुरू किए गए आंदोलनों की चर्चा हम अंग्रेजों के विरुद्ध हुए विद्रोहों से संबंधित अध्याय में कर चुके हैं। शरीयतुल्लाह किसानों के उत्थान के लिए बंगाल में शुरू किए गए फ़रायजी आंदोलन के नेता थे। उन्होंने मुसलमानों में मौजूद जातिभेद के कुप्रभावों की भी निंदा की।

भारतीय मुसलमानों पर पाश्चात्य विचारों और आधुनिक शिक्षा का प्रभाव देर से पड़ा। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में कलकत्ता और दिल्ली के थोड़े से मुसलमानों ने ही अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त की थी। उलमा (इस्लामी शिक्षा के पंडित) के विरोध के कारण अधिकांश मुसलमान भी ब्रिटिश शासन को फूटी आंखों नहीं देखते थे। अंग्रेज़ों ने उलमा और उच्चवर्गीय मुसलमानों को धीरे-धीरे प्रभावहीन और शक्तिहीन बना दिया था। अंग्रेज़ी शिक्षा और उसके सामाजिक तथा आर्थिक लाभों से वंचित रहने के कारण भारतीय मुसलमानों में लंबे समय तक मध्य वर्ग का उदय नहीं हो सका।

तुम जानते हो कि 1857 ई. के विद्रोह में मुसलमानों ने ज़ोर-शोर से भाग लिया था, इसलिए विद्रोह के बाद अंग्रेज़ों और मुसलमानों के संबंध ज़्यादा बिगड़ गए। उसी समय कुछ प्रबुद्ध मुसलमानों ने अनुभव किया कि शासकों के साथ सहयोग की नीति अपनानी चाहिए। वे अंग्रेज़ शासकों की मदद से अपनी सामाजिक स्थिति सुधारना चाहते थे। आधुनिक शिक्षा के प्रसार के लिए और परदा-प्रथा तथ बहुपत्नी-प्रथा जैसी सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए कुछ आंदोलन भी शुरू हुए। नवाब अब्दुल लतीफ़ (1828-93 ई.) द्वारा 1863 ई. में स्थापित कलकत्ता की मुस्लिम साहित्य सभा (मोहम्मडन लिटरेरी सोसायटी) ऐसा पहला संगठन था। शिक्षा के प्रसार में इसने महत्त्वपूर्ण योग दिया, विशेषकर बंगाल के मुसलमानों में। अब्दुल लतीफ़ ने हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए भी बड़े प्रयास किए।

सैयद अहमद खाँ और अलीगढ़ आंदोलन

मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा के प्रसार और सामाजिक सुधार के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण आंदोलन सर सैयद अहमद खाँ ने शुरू किया। सैयद अहमद खाँ (1817-98 ई.) का जन्म मुग़ल दरबार के एक सरदार परिवार में हुआ था। उन्होंने एक न्यायिक अफ़सर के रूप में ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी की और 1857 के विद्रोह के दौरान वे कंपनी के प्रति वफादार बने रहे। ब्रिटिश शासक मुसलमानों को अपना "असली दुश्मन और सबसे खतरनाक प्रतिद्वंदी" समझते थे। इसलिए उन्होंने मुसलमानों के दमन

की नीति अपनाई थी। सैयद अहमद खाँ मुसलमानों की दयनीय दशा से चिंतित थे। उन्होंने मुसलमानों की दशा सुधारने का बीड़ा उठा लिया। उन्होंने मुसलमानों के प्रति अंग्रेज़ों की दुश्मनी को दूर करने के लिए अथक प्रयास किए। उन्होंने मुसलमानों को भी समझाया कि वे धार्मिक तथा शैक्षणिक सुधारों को अपनाएं।

धार्मिक और शैक्षणिक सुधारों की समस्या बड़ी कठिन थी। उन्होंने मुसलमानों से इस्लाम की मूल मान्यताओं पर आधारित शुद्धता तथा सरलता के जीवन को अपनाने की अपील की। भारतीय मुसलमानों के पुनरुत्थान के लिए उन्होंने अंग्रेज़ी शिक्षा अपनाने पर ज़ोर दिया। रूढ़िवादी मुसलमानों ने उनका विरोध किया। तुम्हें याद होगा कि आधी सदी पहले रूढ़िवादी तत्वों ने राममोहन राय का भी ऐसा ही विरोध किया था। मगर सैयद अहमद खाँ ने साहस और बुद्धिमानी से इन बाधाओं को पार किया। 1864 ई. में उन्होंने अनुवाद समिति की स्थापना की जिसे बाद में वैज्ञानिक समिति का नाम दिया गया। इस समिति का कार्यालय अलीगढ़ में था। इसने विज्ञान तथा अन्य विषयों की अंग्रेज़ी पुस्तकों के उर्दू अनुवाद प्रकाशित किए और समाज सुधार से संबंधित उदार विचारों के प्रसार के लिए एक अंग्रेजी-उर्दू पत्रिका भी निकाली। उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि 1875 ई. में अलीगढ़ में "मोहम्मडन एंग्लो-ओरियंटल कालेज" की स्थापना थी। आगे चलकर यह कालेज एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा-संस्थान बन गया। यहां अंग्रेजी माध्यम से कला तथा विज्ञान के विषयों की पढ़ाई का प्रबंध हुआ। यहां के कई शिक्षक इंग्लैंड से आए थे। सारे देश के प्रमुख मुसलमानों ने इस कालेज को अपना सहयोग दिया। अंग्रेजों ने इस कालेज में दिलचस्पी ली और इसके विकास में हर प्रकार से सहयोग दिया।

यह कालेज आगे जाकर अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय बन गया। इसने यहां पढ़ने वाले विद्यार्थियों में आधुनिक दृष्टिकोण पैदा करने में योग दिया। विश्वविद्यालय बन जाने पर इसकी ओर सभी समुदायों के विद्यार्थी आकर्षित हुए। मगर भारतीय मुसलमानों को जागृत करने में इसने विशेष महत्त्व की भूमिका अदा की। सैयद अहमद खाँ और मोहम्मडन एंग्लो-ओरियंटल कालेज से संबंधित मुस्लिम जागृति का यह आंदोलन अलीगढ़ आंदोलन के नाम से जाना जाता है।

सैयद अहमद खाँ ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विरोध किया। उस समय के अन्य कई नेताओं की तरह उनकी भी मान्यता थी

कि भारतीय फिलहाल स्वशासन संभालने में समर्थ नहीं हैं और उनका हित इसी में है कि वे ब्रिटिश शासन के प्रति वफ़ादार बने रहें। कांग्रेस का विरोध करने के लिए उन्होंने कुछ हिंदू तथा मुसलमान नेताओं के सहयोग से 'इंडियन पेट्रिओटिक एसोसिएशन' की स्थापना की और मुसलमानों को कांग्रेस में शामिल होने से रोका। भारतीय मुसलमानों को संगठित करने और उनकी स्थिति को मजबूत बनाने के लिए वे ज़्यादा समय चाहते थे। वे समझते थे कि ब्रिटिश शासकों के साथ अच्छे संबंध बनाए रखकर ही ऐसा किया जा सकता है।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विरोधी होने के बावजूद सैयद अहमद खाँ हिंदू-मुस्लिम एकता के पुरज़ोर समर्थक थे। उनका मत था कि "हम (हिंदू और मुसलमान) एक ही देश के निवासी हैं, इसलिए एक राष्ट्र हैं, और देश की तथा हम दोनों समुदायों की प्रगति हमारी एकता, पारस्परिक सद्भावना तथा प्रेम पर आश्रित है।"

मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा के प्रसार के अलावा सैयद अहमद खाँ ने मुस्लिम समाज की कई सामाजिक कुरीतियों को खत्म करने के लिए भी प्रयास किए। उन्होंने विज्ञान की शिक्षा को महत्त्व दिया था, इसलिए रूढ़िवादी मुस्लिम उनसे खफ़ा थे।

नौरोजी फरदूनजी

पारसियों और सिक्खों के सुधार आंदोलन

देश के दूसरे समुदायों में भी सामाजिक कुरीतियों (जिनमें से कुछ कुरीतियां धार्मिक अनुष्ठानों की अंग बन गई थीं) के उन्मूलन, स्त्रियों के उद्धार और आधुनिक शिक्षा के प्रसार के लिए आंदोलन शुरू हुए। पारसी समाज के दो अग्रणी धर्म और समाज सुधारक थे—दादाभाई नौरोजी (1825–1917 ई.) और नौरोजी फरदूनजी (1817–1885 ई.) दोनों ने मिलकर 'रास्त गोफ्तार' नामक पत्रिका शुरू की। दोनों ने ही शिक्षा के प्रसार के लिए, विशेषकर कन्याओं की शिक्षा के लिए, अथक

प्रयास किए। सोरबजी बंगाली एक माने हुए पारसी समाज सुधारक थे।

1870 के दशक में अमृतसर और लाहौर में सिंह सभाएं स्थापित हुईं और उन्होंने सिक्खों में सुधार आंदोलन को आरंम्भ किया। बाद में यह दोनों सभाएं मिलकर एक हो गईं। सिंह सभाओं ने शिक्षा के विस्तार में विशेष भूमिका निभाई। सिंह सभाओं के प्रयत्नों तथा अंग्रेज़ों की सहायता से 1892 में अमृतसर में खालसा कालेज की स्थापना हुई। इस कालेज ने और इस प्रकार के अन्य प्रयत्नों से स्थापित विद्यालयों ने गुरूमुखी, सिक्ख धर्मज्ञान और पंजाबी भाषा व साहित्य को प्रोत्साहन दिया।

बाद मे, बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों में, गुरुद्वारों के सुधार के लिए एक शक्तिशाली आंदोलन शुरू हुआ। उस समय गुरुद्वारे पुरोहितों और महंतों के कब्ज़े में थे। वे गुरुद्वारों को अपनी निजी सम्पत्ति समझते थे। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबधक कमेटी और अकाली दल ने मिलकर आंदोलन चलाया कि गुरुद्वारों का नियन्त्रण सिक्ख समाज के प्रतिनिधियों को सौपा जाए। यह आंदोलन शांतिपूर्वक तरीकों से चलाया गया था, फिर भी इसमे भाग लेने वालों को भ्रष्टचारी महंतों के गुंडों तथा ब्रिटिश पुलिस के प्रहार झेलने पड़े। उस समय तक सारे देश की जनता जागृत हो चुकी थी और गांधीजी के नेतृत्व में आज़ादी का आंदोलन एक जन-आंदोलन बन गया था। आज़ादी के आंदोलन के नेताओं ने सिक्ख जनता के आंदोलन को समर्थन दिया। अन्त में 1925 ई. में एक कानून बनाकर गुरुद्वारों के संचालन की ज़िम्मेदारी शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी को सौंप दी गई।

समाज सुधार की प्रगति

जब प्रबद्ध भारतीय बुद्धिवादी तथा उदार सिद्धांतों के आधार पर अपने समाज का सुधार करने का प्रयास कर रहे थे, तब ब्रिटिश शासकों को इस समस्या के प्रति क्या रवैया था? हम देखते हैं कि 1857 ई. के बाद के काल में ब्रिटिश सरकार सुधारों के मामलों, में अत्यंत उदासीन रही। वह समाज के उच्चवर्गीय रूढ़िवादियों को खुश रखना चाहती थी। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में केवल दो महत्त्वपूर्ण कानून बने। पहला क़ानून 1872 ई. में बना। उस कानून ने अंतर्जातीय और अंतर्समाजी विवाह को वैध बना दिया। 1891 ई. में बने दूसरे कानून का लक्ष्य था बाल-विवाह की प्रथा को समाप्त करना। ये कानून दो भारतीय सुधारक केशवचंद्र सेन और बहरामजी मालाबारी के प्रयासों से बने थे। बाल-विवाह को रोकने के लिए ज़्यादा

कारगर कदम काफी बाद में तब उठाया गया जब 1929 ई. में शारदा एक्ट बना। इस कानून के अनुसार 14 साल से कम आयु की लड़की और 18 साल से कम आयु का लड़का शादी नहीं कर सकते।

आगे चलकर भारत के आज़ादी के आंदोलन में लोगों की दिलचस्पी ज़्यादा बढ़ी। यह प्रमुखतः राजनीतिक आंदोलन था। मगर 'भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन' जैसे संगठन, जिनकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं, सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ लड़ते रहे। पहले की तरह ये स्त्रियों तथा तथाकथित निम्न जातियों के उद्धार के लिए काम करते रहे। मगर बहुपत्नी विवाह को खत्म करने, या स्त्रियों को सम्पत्ति के अधिकार दिलाने या अछूत समझे जाने वाले लोगों को मंदिरों में प्रवेश दिलाने के उनके प्रयासों को ज़्यादा सफलता नहीं मिली, हालांकि बीसवीं सदी के चौथे दशक में स्त्रियो को सम्पत्ति पर अधिकार दिलाने के लिए और मंदिर प्रवेश के लिए कानून भी बने थे।

आज़ादी के आंदोलन में स्त्रियों ने बड़ी संख्या में भाग लिया। यह उनकी विमुक्ति की दिशा में एक बहुत बड़ा कदम था। गांधीजी ने अस्पृश्यता के खिलाफ अपनी लड़ाई को आज़ादी के आंदोलन का अंग बना दिया। आजादी के लिए विदेशी शासन के खिलाफ किया गया सघर्ष भारतीय समाज के पुर्निर्माण का भी सघर्ष था।

शिक्षा

तुम्हें याद होगा कि कपनी की सरकार ने शिक्षा के प्रसार के बारे में क्या कदम उठाए थे। इसके लिए 1813 ई के चार्टर एक्ट तहत प्रति वर्ष एक लाख रुपए का खर्च मंजूर हुआ था और 1835 ई में गवर्नर-जनरल बेंटिक ने भारतीयों में पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार का निर्णय लिया था। 1854 ई. में सरकार ने "प्राथमिक स्कूल से लेकर विश्वविद्यालय तक शिक्षा की समुचित व्यवस्था" करने की घोषणा की । आधुनिक भारत में शिक्षा के विकास की यह एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

यह घोषणा, जो 'वुड्स डिस्पैच' के नाम से जानी जाती है, 1857 ई. के विद्रोह के बाद विस्तारपूर्वक तैयार की गई थी। इस घोषणा के तहत प्रांतों में लोकशिक्षा विभागों की स्थापना हुई। कलकत्ता, बम्बई ओर मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित हुए। गैर-सरकारी स्कूलों तथा कालेजों के लिए सरकारी अनुदान की व्यवस्था हुई। इंडियम एज्यूकेशनल सर्विस नामक एक नई सेवा भी अस्तित्व मे आई। यह सेवा

देशभर के सरकारी संस्थानों के लिए अध्यापक चुनती थी।

इन प्रयासों से सरकार द्वारा संचालित स्कूल और कालेजों की, साथ ही मिशनरी तथा निजी संगठनों के स्कूल कालेजों की भी, संख्या बढ़ गई। इसके साथ ही शिक्षा पर सरकार का नियंत्रण भी बढ़ गया।

परंतु शिक्षा का यह विकास सभी स्तरों में एकरूप नहीं था। हाइस्कूलों और कालेजों के विस्तार पर ज़्यादा बल दिया गया। धनाभाव के कारण प्राथमिक शिक्षा को विशेष क्षति पहुंची। परिणामत: भारतीय जनता बड़ी तादाद में निरक्षर बनी रही।

इस सबका नतीजा यह रहा कि बीसवीं सदी के आरंभ में भारत के 80 प्रतिशत गांवों में प्राथमिक स्कूल नहीं थे और 75 प्रतिशत बच्चे शिक्षा से वंचित थे। उच्च शिक्षा पश्चिम का अंधानुकरण मात्र थी। देश की आवश्यकताओं से उसका कोई सरोकार नहीं था। उच्च शिक्षा के स्वरूप में कुछ सुधार हुआ, विशेषकर तब जब भारतीयों ने भी शिक्षा-व्यवस्था की जिम्मेदारी संभाली और भारतीय शिक्षकों की संख्या में वृद्धि हुई। मगर ब्रिटिश शासकों ने शिक्षा पर अपना नियंत्रण बनाए रखने और विद्यार्थियों तथा अध्यापकों में देशभक्ति के प्रसार को रोकने का हर संभव प्रयास किया।

शिक्षा के प्रसार में स्वयं भारतीय नेताओं ने महत्त्व की भूमिका अदा की। इस अध्याय के आरंभ में तुमने पढ़ा है कि शिक्षा प्रसार को प्रत्येक सुधारक ने कितना महत्त्व दिया था और इसके लिए क्या-क्या प्रयास किए थे-यदा-कदा सरकार की मदद से, मगर अधिकतर अपने बल पर ही। शिक्षा पर ब्रिटिश नियंत्रण के विरोध में स्वतंत्रता आंदोलन के नेताओं ने 'राष्ट्रीय शिक्षा परिषद्' की स्थापना की। उन्होंने राष्ट्रीय स्कूल और राष्ट्रीय कालेज खोले। बाद में उन्होंने वाराणसी तथा अहमदाबाद में विद्यापीठों की और अलीगढ़ में जामिया मिलिया इस्लामिया (बाद में इसे दिल्ली ले जाया गया) की स्थापना की। उन्होंने शिक्षा को नया स्वरूप देने के भी प्रयास किए।

रवींद्रनाथ ठाकुर ने शांतिनिकेतन में विश्व-भारती की स्थापना की। विद्यार्थियों को आत्मनिर्भर बनाने के उद्देश्य से गांधीजी ने नई तालीम की जो योजना तैयार की थी उसके अनुसार स्कूल खोले गए। डा. ज़ाकिर हुसैन ने, जो बाद में भारत के तीसरे राष्ट्रपति बने, इस शिक्षा-प्रणाली के विकास में महत्त्व की भूमिका अदा की। ब्रिटिश शासन के दौरान निरक्षरता भारत की एक सर्वाधिक ज्वलंत समस्या बनी रही। भारत के एक अग्रणी राष्ट्रीय नेता गोपाल

कृष्ण गोखले ने 1903 ई. में कहा था : "यह स्पष्ट है कि अशिक्षित और अज्ञानी देश कोई ठोस प्रगति नहीं कर सकता और जीवन की दौड़ में निश्चय ही पिछड़ जाता है।" भारत से निरक्षरता को खत्म करने के लिए उन्होंने और दूसरों ने बार-बार यह मांग की कि छह साल से दस साल तक के बच्चों के लिए मुफ्त तथा अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। मगर इस मामले में सरकार ने कोई खास कदम नहीं उठाया। 1947 ई. में जब देश स्वतंत्र हुआ तब भारत में केवल 24 प्रतिशत पुरुष और सात प्रतिशत महिलाएं ही साक्षर थीं।

सांस्कृतिक जागरण

धार्मिक और सामाजिक सुधार के आंदोलन उन्नीसवीं सदी में शुरू हुई भारतीय जनता की जागृति के ही अंग थे। इस जागृति ने संस्कृति के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया और इसने संस्कृति के विभिन्न पक्षों के विकास में भी योग दिया।

भारत के अतीत का स्वाभिमान

भारत में विदेशी शासन की स्थापना होने से आत्मसम्मान खो देने की भावना पैदा हुई। भारत में आए अधिकांश अंग्रेज़ अधिकारियों तथा दूसरों ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति को निकृष्ट समझा। वे अपने को उच्चतर सभ्यता तथा उच्चतर जाति का समझते थे। उसी समय भारतीयों ने भारत के पूर्व कालों के इतिहास तथा संस्कृति का अध्ययन शुरू कर दिया। भारत के अतीत की खोज में कुछ अंग्रेज़ और यूरोपिय विद्वानों ने भी महत्त्व की भूमिका अदा की। इनमें अग्रणी थे विलियम जोन्स। उन्होंने 1784 ई. में कलकत्ता में 'एशियाटिक सोसायटी' की स्थापना की। एशियाटिक सोसायटी ने भारत के प्राचीन तथा मध्यकालीन अतीत, उसके इतिहास, भाषाएं, साहित्य, दर्शन, कला, विज्ञान तथा कानून के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया। सोसायटी ने प्राचीन ग्रंथो तथा उनके अनुवादों को प्रकाशित किया। स्वय विलियम

प्रिंसेस जिसने 1834 ई. में ब्राह्मी लिपि का अर्थ निकाला

जोन्स ने कालिदास के नाटक अभिज्ञान शाकुंतलम् का संस्कृत से अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। तुम्हें याद होगा कि प्राचीन भारत के महान शासक सम्राट आशोक ने अपने अभिलेख देश के विभिन्न भागों में स्तंभों और चट्टानों पर ख़ुदवाए थे। जिस लिपि में ये लेख खुदवाए गए थे उसे भारतीय भूल गए थे। उन्नीसवीं सदी के विद्वानों ने अथक परिश्रम करके इस लिपि को पढ़ने में सफ़लता प्राप्त की और इस प्रकार भारत के अतीत को समझने के लिए ज्ञान के विपुल स्रोत खोले। जिन सुधारकों के बारे में तुमने पढ़ा है कि वे भारतीय और पाश्चात्य ज्ञान के पंड़ित थे। कई अन्य विद्वानों ने भी भारत के अतीत के अध्ययन के लिए अपना जीवन समर्पित किया। इन सब विद्वानों के प्रयासों से भारत की महान विरासत के बारे में, उनकी सांस्कृतिक उपलब्धियों के बारे में अधिकाधिक जानकारी मिलने लगी।

इस जानकारी ने कि प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारत की सभ्यता किसी भी अन्य सभ्यता के तुल्य थी, जनता के आत्मसम्मान को जगाया। इससे भारतीयों को आत्मविश्वास हुआ कि वे स्वयं अपने भविष्य का निर्माण कर सकते हैं। भारत के गौरवशाली अतीत की इस खोज का एक अस्वास्थ्यकर पहलू भी था। कुछ विद्वान अतीत की हर चीज़ को गौरवान्वित करने लगे। वे अतीत को पुनर्जीवित करने के बारे में सोचने लगे। पीछे की ओर देखने की इस प्रकार की सोच से अतीत को ठीक से समझ पाने में कठिनाई हुई। इससे उन समस्याओं की उपेक्षा हुई या उनके बारे में गलत समझ बनी जो उस समय भारत के सामने मौजूद थीं और जिनके लिए समुचित समाधान खोजने थे।

मगर बाद में कुछ विद्वानों ने, जिनकी संख्या बढ़ती गई, इस प्रकार की समझ का त्याग कर दिया, यद्यपि कुछ विद्वान उस समझ से चिपके ही रहे। इन विद्वानों का उद्देश्य भारत का केवल गौरवशाली अतीत खोजना नहीं था। इन्होंने जानने का प्रयत्न किया कि प्राचीन युगों में भारत के लोग किस प्रकार रहते थे, वे अपनी खाद्य-सामग्री तथा जरूरत की अन्य चीज़ें किस तरह पैदा करते थे, समय के साथ उन लोगों का जीवन किस तरह बदलता गया, उनकी भाषाएं कौन-सी थीं और उन भाषाओं में उन्होंने किस तरह की चीजें लिखीं, उन्होंने कौन-सा ज्ञान अर्जित किया और ज्ञान के क्षेत्र में उनकी विशिष्ट उपलब्धियां कौन-सी थीं, समाज किन-किन वर्गों तथा समुदायों में बटा हुआ था और किस प्रकार कुछ लोग

दूसरों से अपने को श्रेष्ठ समझते थे और दूसरों की मेहनत पर अपना जीवन-निर्वाह चलाते थे, किस प्रकार देश विभिन्न भागों के लोगों का और दुनिया के अन्य भागों से आये लोगों को सम्मिश्रण हुआ। उन्होंने जनता द्वारा निर्मित कला-स्मारकों-वास्तुशिल्पों, मंदिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों, स्थलों व किलों तथा चित्रों को जानने के प्रयत्न किए। उन्होंने यह जानने की भी कोशिश की कि राजाओं तथा अन्य शासकों ने जनता पर किस तरह शासन किया, भारत की संस्कृति किन मानों में अन्य संस्कृतियों के समान थी और किन मानों में भिन्न तथा विशिष्ट थीं, किन क्षेत्रों में और किस प्रकार भारत की प्रगति रुक गई और देश विदेशी शासन का शिकार हुआ। विद्वानों ने अपने अध्ययन के ज़रिए इन तथा अन्य अनेक सवालों के उत्तर जानने के प्रयास किए। उन्होंने कहा कि प्राचीन भारत की उपलब्धियों के प्रति स्वाभिमान की भावना रखने के साथ-साथ हमें अतीत की अनेक कमज़ोरियों तथा असफलताओं की भी जानकारी होनी चाहिए। सबसे महत्त्व की बात है कि हमें गहराई में उतरकर यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि अतीत में ठीक क्या हुआ है और कैसे हुआ है। यह तमाम जानकारी हमें अपनी मौजूदा समस्याओं को समझने और उन्हे हल करने में सहायक हो सकती है।

अतीत के अध्ययन का यह दृष्टिकोण काफी धीमी रफ्तार से बना। अतीत के अध्ययन की शुरुआत होने पर प्राचीन भारत की कुछ उपलब्धियों के बारे में हमारे ज्ञान में वृद्धि हुई। यद्यपि कुछ दृष्टियों से यह ज्ञान परिपूर्ण नहीं था और कुछ बातों में तो एकदम कपोलकल्पित था, फिर भी इसने लोगों में देशाभिमान की भावना जगाई और उनके जागरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

साहित्य और कला

उन्नीसवीं सदी से भारत की प्रत्येक आधुनिक भाषा के साहित्य का विकास होने लगा। यह साहित्य पहले के साहित्य से विषय-वस्तु तथा शैली, दोनों ही रूपों में काफी भिन्न था। पहले की अधिकांश साहित्यिक कृतियों के स्रोत धर्मों और आख्यानों में निहित थे। उनमें से अधिकांश की रचना पद्य में हुई थी। अब गद्य को महत्त्व दिया जाने लगा और उपन्यास, लघुकथा, नाटक तथा निबंध जैसी नई शैलियों का विकास होने लगा। साहित्य की इन नई शैलियों के, और काव्य के भी, विषय बुनियादी तौर पर

भारतेन्दु हरिश्चंद्र

जिन सुधारकों के बारे तुमने पहले पढ़ा है उनमें से अधिकांश, जैसे कि राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर वीरेसलिंगम्, गोपाल हरि देशमुख "लोकहितवादी" तथा अन्य अनेक, अपनी - अपनी भाषा के समर्थ साहित्यकार थे। उन्होंने अपनी - अपनी भाषा के साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850 - 1885 ई.) आधुनिक हिंदी साहित्य के अगुआ थे। उन्होंने अपने विविध उपन्यासों, कहानियों, नाटकों, निबंधों तथा कविताओं के ज़रिए सुधारवादी विचारों का प्रचार किया और अन्याय के खिलाफ आवाज़ उठाई। कुछ अन्य भारतीय भाषाओं के कुछ अन्य अग्रगामी और महान लेखक थे - बंगला के बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय तथा रवींद्रनाथ ठाकुर, तेलुगू के गुरज़ादा अप्पा राव, मराठी के हरि नारायण आपटे, मलयालम के कुमारम् आसन तथा वल्लतोल के. नारायण मेनन, उड़िया के फकीरमोहन सेनापति, तमिल के सुब्रह्मण्यम् भारती, असमिया के हेमचंद्र बरुआ, कन्नड़ के के. वेकंटप्पा गौडा पुटटप्पा और उर्दू के मुहम्मद इकबाल। तुम शायद जानते ही हो कि 80 से भी अधिक साल पहले लिखा गया रवींद्रनाथ ठाकुर का एक गीत स्वतंत्र भारत का राष्ट्र - गान बना। दो अन्य राष्ट्रीय गीत

मानवतावादी थे, अर्थात् उनका संबंध लोगों के जीवन, उनकी समस्याओं तथा आकांक्षाओ और उनके संघर्षों से था। समाज में घटित हुए परिर्वतन उनमें प्रकट होने लगे। साहित्य जीवन के निकट पहुंच गया। अब साहित्य की भाषा कृत्रिम नहीं थी; यह अधिकाधिक जीवंत भाषा होती गई। साहित्य सामाजिक सुधार के प्रचार का, सामाजिक समस्याओं को उजागर करने को और बाद में देशप्रेम तथा राष्ट्रीयता को उभारने का साधन बन गया।
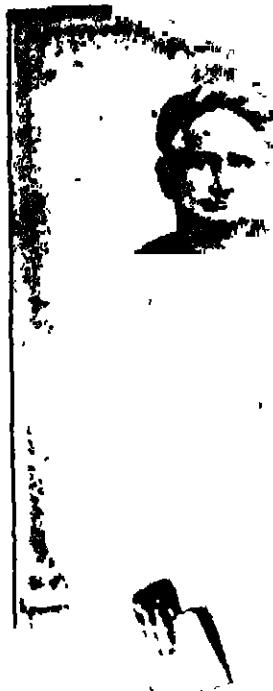
बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय

रवींद्रनाथ टैगोर

सुब्रह्मण्य भारती

"वंदे मातरम्" और "सारे जहां से अच्छा" जिन्हें तुमने अवश्य ही सुना और गाया होगा, बंकिमचंद्र और इकबाल ने लिखे थे। 1913 ई. में रवींद्रनाथ ठाकुर को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति का सर्वोच्च नोबेल पुरस्कार मिला। बीसवीं सदी के समूचे भारतीय साहित्य पर आज़ादी के आंदोलन का गहरा प्रभाव पड़ा। साहित्य ने जनता में देशप्रेम जगाने की महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इसने भारतीय समाज में व्याप्त उत्पीड़नों और अन्याय के खिलाफ आवाज़ उठाने के

मुहम्मद इकबाल

लिए जनता को जागृत किया। ग़रीबों की दयनीय दशा और भारत के गांवों की उत्पीड़ित जनता के बारे में लिखने वाले एक महान लेखक थे प्रेमचंद, जिन्होंने पहले उर्दू और बाद में हिंदी में लिखा।

कला के क्षेत्र में भी खूब उन्नति हुई। अवनींद्रनाथ ठाकुर और दूसरे कलाकारों ने भारत की शास्त्रीय परंपरा की चित्रकला को पुनर्जीवित करने के प्रयास किए। इन प्रयासों से चित्रकला की जिस शैली का उदय हुआ उसे बंगाल शैली कहते हैं। राजा रवि वर्मा ने भारतीय महाकाव्यों तथा आख्यानों के आधार पर चित्र बनाए। भारतीय कलाकारों पर पाश्चात्य चित्र- परंपराओं का भी गहरा प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश शासन के बाद के काल की एक प्रमुख चित्रकार थी अमृता शेरगिल। उसने और अन्य कलाकारों ने जनता के रोज़मर्रा के जीवन को अपने चित्रों में उतारा यद्यपि उनकी अपनी-अपनी विशिष्ट शैलियां थीं। उदाहरण के लिए, नंदलाल बसु ने प्राचीन कथाओं के दृश्यों के साथ-साथ कारीगरों और शिल्पियों के रोज़मर्रा के जीवन को भी
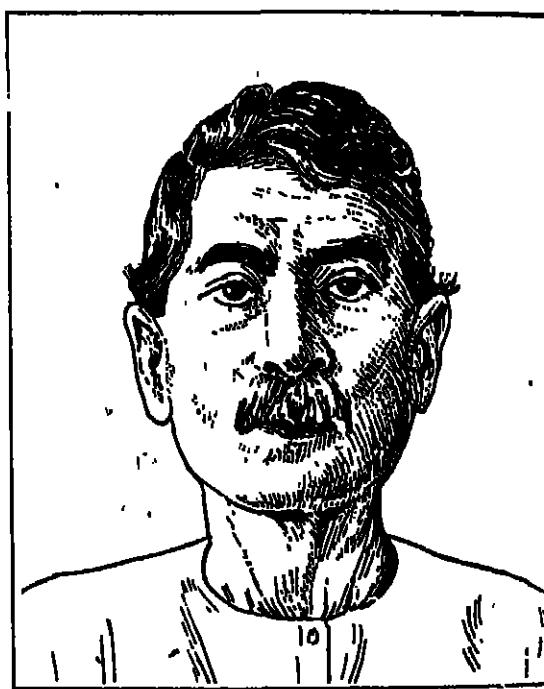
प्रेमचंद

रंगों में उतारा। इन चित्रकारों ने स्वतंत्रता के संघर्ष में भी भाग लिया।

प्रेस का विकास

भारत के कुछ आरंभिक समाचार पत्रों की शुरुआत अंग्रेज़ो ने की थी– अंग्रेज़ों के लिए। मगर उन्नीसवीं सदी में और बाद में अंग्रेज़ी तथा देशी भाषाओं के भी एक शक्तिशाली प्रेस का उदय हुआ। अधिकांश सुधारकों ने या तो खुद अपनी पत्र-पत्रिकाएं शुरू की थीं या वे किसी न किसी पत्र-पत्रिका से संबंधित रहे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारतीयों में राजनीतिक चेतना का विकास हुआ और राजनीतिक गतिविधियां शुरू हुईं, तो भारतीय पत्र-पत्रिकाओं में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। कुछ अंग्रेज़ी समाचार-पत्र, जिनके मालिक अंग्रेज़ थे, ब्रिटिश शासन के समर्थक थे, मगर अंग्रेज़ी तथा भारतीय भाषाओं के अन्य अधिकांश समाचारपत्रों ने भारतीय जनता की आकांक्षाओं को प्राचारित किया। उन्होंने भारतीय जनता की शिकायतों को और उनकी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक मांगों को प्रकाशित किया। उन्होंने देश के तथा दुनिया के विभिन्न भागों में घटित होने वाली घटनाओं की जनता को जानकारी दी। आज़ादी की लड़ाई के दौरान उन्होंने
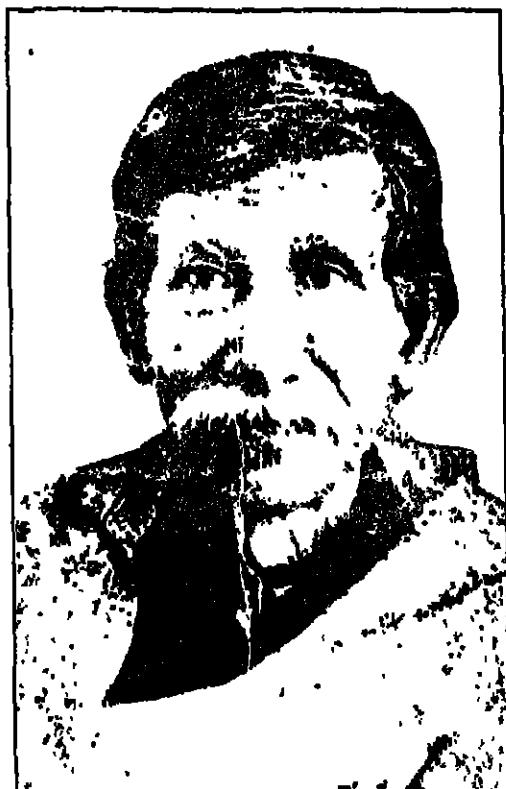
मोतीलाल घोष, अमृत बाज़ार पत्रिका के संस्थापक संपादक

जनता को एकजुट करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। राष्ट्रीय आंदोलन का ब्रिटिश शासकों ने दमन किया। अंग्रेज़ों ने कई बार इन समाचारपत्रों को बंद करवा दिया और इनके संपादकों को जेल में डाल दिया। आरंभिक दौर के ऐसे कुछ समाचार पत्र थे– द हिंदू, द इंडियन मिरर, अमृत बाज़ार पत्रिका, केसरी, मराठा, स्वदेशमित्रन, प्रभाकर और इंदु-प्रकाश।

विज्ञान का विकास

राममोहन राय जैसे अनेक भारतीय सुधारकों ने अंग्रेज़ी शिक्षा का समर्थन किया था, तो उसका प्रमुख कारण यह था कि वे विज्ञान की शिक्षा को विशेष महत्त्व देते थे सुधारकों का विश्वास था भारत के पिछड़ेपन का प्रमुख कारण भारत में विज्ञान की उपेक्षा होना है। उन्होंने विज्ञान की शिक्षा पर ज़ोर देने की मांग उठाई। कई सुधारकों ने विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के लिए वैज्ञानिक संस्थाएं स्थापित कीं।

भारत में आधुनिक विज्ञान का प्रवेश उन्नीसवीं सदी के आरंभ में हुआ। बाद मे, विश्वविद्यालयों की स्थापना के बाद, विज्ञान-विभाग खुले। भारतीयों ने अधिकाधिक सख्या में विज्ञान के अध्ययन को चुना और उनमें से कइयों ने विज्ञान के विविध क्षेत्रों में महत्त्व का खोजकार्य किया। इसके लिए उन्हें अंधविंश्वासों से अपने को मुक्त करना पड़ा। उदाहरण के लिए, चिकित्सा-विज्ञान पर अधिकार प्राप्त करने के लिए और शल्य-चिकित्सा करने के लिए चिकित्सा के विद्यार्थियों को शवच्छेदन करके मानव शरीरक्रिया के बारे मे जानकारी प्राप्त करनी पड़ी। मगर शवच्छेदन को पापकर्म माना जाता था। शवच्छेदन करने वाले चिकित्सा-विज्ञान के पहले भारतीय विद्यार्थी महेंद्रलाल सरकार थे। उन्होंने 1876 ई. में 'इंडियन एसोसिएशन फार द कल्टिवेशन आफ साइंस' नामक संस्था की स्थापना की। यह विज्ञान का प्रचार-प्रसार करने वाली पहली प्रमुख संस्था थी। बीसवीं सदी के तीसरे दशक में 'इंडियन साइंस कांग्रेस एसोसिएशन' की स्थापना हुई। साइंस कांग्रेस के अधिवेशनों में देश के विभिन्न भागों के वैज्ञानिक भाग लेते और एक-दूसरे से अपने विचारों और अनुभवों का

चंद्रशेखर वेंकटरामन

आदान-प्रदान करते। देश ने विज्ञान की प्रत्येक शाखा में बड़ी संख्या में वैज्ञानिक पैदा किए। इनमें से प्रफुल्लचंद्र राय, जगदीशचंद्र बसु, मेघनाद साहा, डी. एन. वाडिया और बीरबल साहनी जैसे कई वैज्ञानिकों ने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। चंद्रशेखर वेंकटरामन को भौतिकी के क्षेत्र में किए गए उनके खोजकार्य के लिए 1930 ई. में नोबेल पुरस्कार मिला। प्रफुल्लचंद्र महलनोबिस एक श्रेष्ठ वैज्ञानिक थे, उन्होंने भारत में सांख्यिकी के अध्ययन की ठोस नींव रखी। श्रीनिवास रामानुजन बीसवीं सदी के एक महान गणितज्ञ थे। ब्रिटिश शासन के दौरान इंजीनियरी और टेक्नालॉजी के क्षेत्र के एक महान भारतीय वैज्ञानिक थे मोसगुंडम् विश्वेश्वरैया (1861-1962 ई.)। अपने दीर्घ जीवनकाल में उन्होंने देश के विभिन्न भागों में कार्य किया और इंजीनियरी तथा टेक्नालॉजी की विभिन्न शाखाओं में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। बांध निर्माण, जलविद्युत के विकास, रेशम-उद्योग तथा तकनीकी शिक्षा के विकास के क्षेत्रों में किया गया उनका कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

एस. विश्वेश्वरैया

विज्ञान की उन्नति भारतीय जनता की व्यापक जागृति का ही एक अंग थी। राष्ट्रीय शिक्षा के जिस आंदोलन की हमने पहले चर्चा की है उसने देशभर में विज्ञान की शिक्षा को भी बढ़ावा दिया। आज़ादी के आंदोलन के नेता देश के विकास के लिए विज्ञान के महत्त्व को भलीभाँति समझते थे। भारतीय वैज्ञानिक, जिन्होंने विज्ञान की प्रायः प्रत्येक शाखा में महत्त्व का खोजकार्य किया था, देश के विकास में अपने योगदान के महत्त्व को समझते थे। मगर ब्रिटिश शासन उनके कार्य बाधक बना, क्योंकि अनुसंधान के लिए बहुत कम सुविधाएं उपलब्ध थीं। देश

के औद्योगिक विकास का स्तर बहुत निम्न होने के कारण वे अपने ज्ञान का उपयोग देश के विकास के लिए नहीं कर पाये। ये वैज्ञानिक अपने सम्मेलनों मे, जिनमें आज़ादी के आंदोलन के नेता भी भाग लेते थे और भाषण देते थे, अक्सर विचार-विमर्श करते थे कि भारत में विज्ञान को किस प्रकार देश की ज़रूरतों के साथ जोड़ा जाए।

धार्मिक व सामाजिक सुधार, शिक्षा, साहित्य व कला, प्रेस व विज्ञान तथा अन्य अनेक क्षेत्रों के ये सभी विकास भारतीय जनता के जागरण से जुड़े हुए थे। इन विकासों ने और आर्थिक जीवन में आए परिवर्तनों ने (जिनके बारे में तुम पहले पढ़ चुके हो) मिलकर भारतीय जनता में राष्ट्रीय चेतना के इस उभार ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ आज़ादी की लड़ाई को बलशाली बनाया।

अभ्यास

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो :
   1. समाज के प्रति भारतीय लोगों के चिंतन पर ब्रिटिश शासन का क्या प्रभाव पड़ा है?
   2. ब्रह्म समाज की स्थापना कब और किसने की? इसके मुख्य सिद्धान्त क्या थे?
   3. ईश्वर चन्द्र विद्यासागर की मुख्य उपलब्धियां क्या थीं?
   4. तरुण (यंग) बंगाल आंदोलन का क्या अर्थ है? इस आंदोलन में डेरोज़ियो की क्या भूमिका थी?
   5. जाति व्यवस्था और समाज में स्त्रियों की स्थिति के संबंध में केशवचंद्र सेन का क्या दृष्टिकोण था?
   6. आर्य समाज के संस्थापक कौन थे? उनकी शिक्षाएँ क्या थीं?
   7. भारत मे शिक्षा प्रसार में आर्य समाज का क्या योगदान था?
   8. प्रार्थना समाज क्या था? उसकी मुख्य गतिविधियां क्या थीं?
   9. रामकृष्ण मिशन के मुख्य कार्य क्या थे?
   10. भारतीय जनता को जागृत करने में विवेकानंद का क्या योगदान था?

11. शिक्षा प्रसार और मुसलमानों में जागृति लाने में सर सैयद अहमद खाँ का क्या योगदान था?
12. ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में स्थापित शिक्षा प्रणाली में क्या दोष थे?
13. सन् 1853 ई. के बाद की ब्रिटिश सरकार की शिक्षा नीति के बारे मे बतलाओ।
14. बीसवीं शताब्दी में शिक्षा प्रसार में भारतीयों का क्या योगदान था?
15. आधुनिक भारतीय साहित्य की क्या नवीन विशेषताएँ थीं?
16. सिक्ख सुधार आंदोलन की मुख्य गतिविधियां क्या थीं?
17. समाज सुधार के प्रसार में वीरेसलिंगम की क्या भूमिका थी? देश के किस भाग में उनका प्रभाव ज़्यादा रहा?
18. जोतिबा फूले और श्री नारायण गुरू के नाम के साथ कौन-से आंदोलन जुड़े हैं?
19. उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में कला और संस्कृति के क्षेत्र में कौन-कौन से मुख्य विकास हुए?
20. भारत में आधुनिक विज्ञान के विकास के प्रमुख सीमा चिन्हों का वर्णन करो।

2. कालम "क" में कुछ संगठनों और संस्थाओं तथा कालम "ख" में कुछ व्यक्तियों के नाम हैं। कालम "ख" में दिए गए नामों को इस तरह रखो कि उनका कालम "क" में दिए गए नामों से सही संबंध हो जाए।

"क"	"ख"
1. ब्रह्म समाज	1. विवेकानंद
2. आर्य समाज	2. केशव चंद्र सेन
3. प्रार्थना समाज	3. दयानंद
4. रामकृष्ण मिशन	4. सर सैयद अहमद खाँ
5. एम.ए.ओ. कालेज	5. महादेव गोविंद रानडे
6. सत्य शोधक मंडल	6. जोतिबाफूले
7. एस.एन.डी.पी.	7. नारायण गुरू

3. **करने को कार्यः**

1. उन्नीसवीं शताब्दी के विभिन्न धार्मिक और सामाजिक सुधार-संगठनों के संस्थापकों के चित्र जमा कर उन्हें अपने एल्बम में रखो।
2. जिन लोगों के चित्र तुमने जमा किए हैं उनमें से कुछ की जीवनियाँ पढ़ो।
3. कक्षा-भवन के लिए उनके समाज सुधार और शिक्षा संबंधी कार्यों की तालिका बनाओ।

अध्याय 9

भारतीय राष्ट्रवाद का उदय

पिछले अध्यायों में तुमने 1857 ई. के विद्रोह को कुचल देने के बाद भारत के आर्थिक जीवन में हुए परिवर्तनों के बारे में, धार्मिक तथा सामाजिक सुधार के आंदोलनों के बारे में और संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में हुए विकास के बारे में पढ़ा। 1857 ई. के विद्रोह को कुचल देने के बाद कई साल तक देश के विभिन्न भागों में ब्रिटिश शासन के खिलाफ विद्रोह होते रहे। साथ ही, जनता में राजनीतिक तथा राष्ट्रीय चेतना उभरने लगी तो एक अलग प्रकार का आंदोलन जन्म लेने लगा जिसने जल्दी ही स्वतंत्रता के देशव्यापी संघर्ष का रूप धारण कर लिया।

कूका विद्रोही हीरा सिंह जिसे 1872 ई. में तोप से बांधकर उड़ा दिया गया।

1857 ई. के बाद के सशस्त्र विद्रोह

सैयद अहमद बरेलवी द्वारा शुरू किए गए विद्रोह के बारे में तुम पहले पढ़ चुके हो। सैयद अहमद के अनुयायियों को प्रायः वहाबी कहा जाता है। वहाबियों की विद्रोही गतिविधियां 1857 ई. के बाद भी जारी रहीं। वहाबियों को अंततः 1870 ई. के दशक में कुचलने के लिए अंग्रेज़ों को हज़ारों सैनिकों का इस्तेमाल करना पड़ा। इस्लाम की धार्मिक शिक्षा के लिए 1867 ई. में उत्तर प्रदेश के सहारनपुर शहर के नज़दीक देवबंद स्थान में एक विद्या केंद्र की स्थापना हुई। यह विद्याकेंद्र अपने विद्यार्थियों में स्वातंत्र्य-प्रेम और ब्रिटिश शासन के प्रति विद्रोह की भावनाएं उभारता रहा। इसने सर सैयद अहमद खाँ की

गतिविधियों का विरोध किया। सैयद अहमद मुसलमानों में अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार में जुटे हुए थे और ब्रिटिश शासन के प्रति वफादार बने हुए थे। इन्हीं दिनों पंजाब के सिक्खों में गुरु रामसिंह ने एक नया आंदोलन खड़ा किया। इसे कूका आंदोलन कहते हैं। कूकाओं ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ हथियार उठाए, परंतु उन्हें 1872 ई. में क्रूरता से कुचल दिया गया। कई कूका विद्रोहियों को फांसी दी गई। उनमें से कुछ को तोप के मुंह के साथ बांध कर उड़ा दिया गया। 1857 ई. के बाद कई किसान विद्रोह भी हुए। बंगाल के नीलहों के विद्रोह का उल्लेख पहले किया जा चुका है। बंगाल, बिहार और महाराष्ट्र में अन्य किसान विद्रोह भी हुए। देश के विभिन्न भागों के आदिवासी समूहों ने भी विद्रोह किए। 1879 – 80 ई. में, और पुन: 1886 ई. में आंध्र में रमपा विद्रोह हुआ। यह विद्रोह न केवल ब्रिटिश शासन के खिलाफ बल्कि ज़मींदारों तथा महाजनों के शोषण के खिलाफ भी था। बिहार के छोटा नागपुर क्षेत्र में मुंडा आदिवासियों ने 1890 ई. के दशक में विद्रोह किया। बिरसा मुंडा ने उनका नेतृत्व किया। 1900 ई. में इस विद्रोह को कुचल दिया गया। बिरसा मुंडा को पकड़कर जेल में डाल दिया गया जहां जल्दी ही उनकी मृत्यु हो गई। कहा जाता है कि उनको ज़हर दिया गया था। मणिपुर में ब्रिटिश-विरोधी

बिरसा मुंडा

तिकेन्द्रजीत

विद्रोह का नेतृत्व तिकेंद्रजीत ने किया। उस विद्रोह को कुचल दिया गया और तिकेंद्रजीत को फांसी दी गई। महाराष्ट्र में वासुदेव बलवंत फडके ने 1879 ई. में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ सशस्त्र विद्रोह का संगठन किया। महाजनों और साहूकारों से पैसा लूट कर उन्होंने एक सशस्त्र सेना खड़ी करने का प्रयास किया। मगर यह विद्रोह ज़्यादा दिनों तक नहीं चला। फडके को पकड़ लिया गया और आजीवन कारावास की सज़ा दी गई।

1857 ई. के बाद के काल में देश के विभिन्न भागों में और भी कई सशस्त्र विद्रोह हुए। ये विद्रोह ब्रिटिश शासन के ख़िलाफ देश में व्यापत गहरे असंतोष के सूचक थे। मगर ये अधिकतर स्थानीय विद्रोह थे, इसलिए भारत में ब्रिटिश शासन के लिए बड़ा ख़तरा नहीं बने।

राष्ट्रीय चेतना का उदय

इन विद्रोहों के अलावा भारत में धीरे-धीरे एक ऐसा आंदोलन उभरा जो भारतीय जनता की आकांक्षाओं को एक राष्ट्र के रूप में व्यक्त करता था। यह पहले के विद्रोहों और आंदोलनों से अधिक व्यापक था। यह एक वर्ग या एक समुदाय या एक धर्म की नहीं, बल्कि समूचे राष्ट्र की मांगों का प्रतिनिधित्व करता था। इसके साथ ही

वासुदेव बलवंत फडके

स्वतंत्रता के आंदोलन ने राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त कर लिया। इसने पहली बार भारतीय जनता को एक सत्ता के रूप मे एकजुट किया।

तुमने अपनी 'प्राचीन भारत' और 'मध्यकालीन भारत' पुस्तकों में पढ़ा है कि भारतीय जनता ने इतिहास के अपने लंबे दौर में किस प्रकार एक मिली-जुली समृद्ध संस्कृति का विकास किया। आशोक और अकबर जैसे महान सम्राटो ने भारत के विभिन्न भागों को एक साम्राज्य में संगठित किया। राजनीतिक विभेद के भी लंबे दौर चले। अठारहवीं सदी में देश छोटे-बड़े अनेक राज्यों में बंटा हुआ था। ये राज्य आपस में

लड़ते रहते थे। प्रत्येक राज्य दूसरे को हड़प कर अपना विस्तार करना चाहता था। तुम्हें उन परिस्थितियों की भी जानकारी है जिनके कारण अंग्रेज़ भारत में अपना शासन स्थापित कर पाए। देश में एकता का अभाव होने के कारण केवल शासकों में एकता न होना ही नहीं था। लोगों को एकता के सूत्र में बांधने वाली कई बातों का, जैसे एकरूप आर्थिक जीवन का, अभाव था। एकता के अभाव के और भी कई कारण थे; जैसे, जातिप्रथा। मगर समाज में एकता का अभाव होने का मतलब यह नहीं था कि लोग एक-दूसरे से लड़ते रहते थे या एक-दूसरे से नफ़रत करते थे। इसके विपरीत, एक संयुक्त संस्कृति का विकास वस्तुत: एकता का ही द्योतक था। धार्मिक विश्वासों, रीति-रिवाजों, भाषाओं तथा कलाओं में तब भी विविधता थी और आज भी है। इन्होंने एक-दूसरे को निरंतर प्रभावित किया है। आदान-प्रदान की यह प्रक्रिया भारतीय जनता की संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। इसने विभिन्न जन-समुदायों तथा धर्मों के बीच पारस्परिक सहिष्णुता तथा आदरभाव को जन्म दिया है। शासकों के बीच हुए संघर्षों और युद्धों ने आम जनता के बीच संघर्षों को जन्म नहीं दिया है। जब हम एकता के अभाव की बात करते हैं तो उसका मतलब है, इस अनुभूति का अभाव कि भारत के सभी निवासियों के समान लक्ष्य तथा समान सरोकार हैं जिनके कारण वे दूसरे लोगों से भिन्न हैं।

तुम पहले पढ़ चुके हो कि यूरोप में राष्ट्रवाद का उदय और राष्ट्रों का निर्माण किस प्रकार हुआ था। जो देश कई राज्यों में बंटे हुए थे उन्होंने अपने एकीकरण के प्रयास किए और जो विदेशी शासन में थे उन्होंने स्वतंत्र होने के लिए संघर्ष किया। कई देशों में राजाओं ने मध्य वर्ग का-व्यापारियों, उत्पादकों तथा दूसरों का-सहयोग प्राप्त करके अपने शासन को दृढ़ बनाया। सामंती सरदारों की शक्ति को नष्ट करके उन्होंने अपने देशों में एकता स्थापित की। कुछ देशों में, कुछ समय बाद, जनता ने जनतांत्रिक सरकार स्थापित करने के लिए संघर्ष किया। उन्होंने मांग की कि उनके देश की सरकार उनके द्वारा चुनी जानी चाहिए और वह केवल उनके हितों की रक्षक होनी चाहिए। फलत: कई देशों में राजाओं की शक्ति को नष्ट कर दिया गया। फ्रांस में, 1789 ई. की क्रांति के बाद राजतंत्र को खत्म कर दिया गया और फ्रांस के राजा का सिर काट दिया गया। इस प्रकार राष्ट्रवाद और जनतंत्र एक-दूसरे से मिल गए। जो राष्ट्र छोटी-छोटी राजनीतिक इकाइयों

में बंटे हुए थे या जिन पर विदेशियों का शासन था उनकी जनता ने राष्ट्रीय एकता, स्वाधीनता तथा जनतंत्र के लिए आंदोलन खड़े किए। मगर जब यूरोप में ये घटनाएं घट रही थीं तब भारत विदेशी शासन का शिकार हुआ। ब्रिटिश शासन ने भारत की पुरानी सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था को और राजनीतिक तंत्र को नष्ट कर डाला। इसलिए भारत में राष्ट्रवाद का उदय ब्रिटिश शासन द्वारा पैदा की गई परिस्थितियों में हुआ।

भारतीय जनता द्वारा ब्रिटिश शासन का विरोध

तुमने पहले देखा है कि अंग्रेज़ों ने अपने ही राजनीतिक और आर्थिक हितों की वृद्धि के लिए भारत पर शासन किया। ब्रिटिश शासकों ने भारत का शोषण प्रशासन के एक क्षेत्र के रूप में इस्तेमाल किया। भारतीय जनता के हितों में और अंग्रेज़ों के भारत पर शासन करने के उद्देश्यों में कोई साम्य नहीं था। मगर भारतीयों में कुछ ऐसे वर्ग भी थे जिनकी अंग्रेज़ों ने, अपना शासन मज़बूत बनाने के प्रयोजन से, मदद की। इन चंद वर्गों को छोड़ कर शेष समूची भारतीय जनता के हित भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान भारत के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में जो परिवर्तन आए उन्होंने जनता को एकजुट होने तथा ब्रिटिश शासन के खिलाफ एक आंदोलन में संगठित होने में मदद दी। ये परिवर्तन अंग्रेज़ों द्वारा अपने हित-साधन के लिए अपनाई गई नीतियों के परिणाम थे। मगर इनके परिणामस्वरूप ही जनता ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एकजुट हुई। ब्रिटिश शासन ने स्वयं अपने विनाश के लिए परिस्थितियां पैदा कीं।

राजनीतिक और प्रशासनिक एकता

ब्रिटिश शासन के अंतर्गत लगभग समूचे देश का एक राजनीतिक इकाई के रूप में एकीकरण हुआ। भारत के जो क्षेत्र सीधे ब्रिटिश शासन के अंतर्गत थे उनके अलावा भारतीय शासकों के अंतर्गत भी राज्य थे जिन पर ब्रिटिश शासन का नियंत्रण था। वे पूर्णत: ब्रिटिश शासन की कृपा पर आश्रित थे और केवल नाममात्र के लिए सवतंत्र थे। वे दूसरे देशों के साथ संबंध स्थापित नहीं कर सकते थे। दूसरे देशों से उनकी "रक्षा" की ज़िम्मेदारी पूर्णत ब्रिटिश शासन के हाथों में थी। इन राज्यों की जनता ब्रिटिश प्रजा मानी जाती थी। इनमें से कुछ राज्यों का निर्माण खुद अंग्रेज़ों ने किया था। भारत की राजनीतिक एकता एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी, यद्यपि यह

विदेशी शासन के अंतर्गत और उनके हित-साधन के लिए प्राप्त की गई थी। इस एकता को ब्रिटिश-शासित प्रदेशों में स्थापित प्रशासन की एकरूप व्यवस्था ने अधिक मज़बूत बनाया। एकरूप कानून बनाए गए और कम से कम सिद्धांत रूप में, उन्हें हर व्यक्ति पर समान रूप से लागू किया गया। चूंकि कानून की नज़र में सबको समान अधिकार प्राप्त थे, इसलिए कानून के सामने समानता एकता की एक अंग बन गई। समूचे देश में प्रशासन की समान व्यवस्था ने और एकरूप कानून ने देश के विभिन्न भागों में निवास करने वाले लोगों में समानता एवं एकता की भावना को बढ़या।

आर्थिक परिवर्तन

तुम पहले पढ़ चुके हो कि ब्रिटिश शासन के कारण भारत के आर्थिक जीवन में किस प्रकार के परिवर्तन हुए। इन परिर्वनों के कारण देश के विभिन्न भाग एक-दूसरे पर अधिकाधिक आश्रित हो गए और एक समान आर्थिक जीवन का विकास हुआ। परिवहन के साधनों में विकास हुआ, विशेषकर रेलमार्गों के निर्माण के कारण, तो माल को और लोगों को पहले की अपेक्षा अधिक आसानी तथा अधिक तेज़ी से देश के एक भाग से दूसरे भाग तक ले जाना संभव हुआ। इनमें से कई परिवर्तन अंग्रेज़ों ने जनता पर थोपे थे, इसलिए उसे काफ़ी कष्ट झेलने पड़े। मगर अन्योन्याश्रय में हुई इस वृद्धि ने लोगों को एकजुट करने और उनमें समान आकांक्षाएं पैदा करने में महत्त्व की भूमिका अदा की।

आर्थिक क्षेत्र में हुआ एक और महत्त्वपूर्ण विकास था—भारत में आधुनिक उद्योग की स्थापना। तुम पहले पढ़ चुके हो कि अंग्रेज़ों की आर्थिक नीतियों के कारण भारतीय दस्तकारी का विनाश हुआ। भारत ब्रिटिश उत्पादकों के लिए बाज़ार और ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे माल का स्रोत बन गया। ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनाई गई नीति के कारण भारत में उद्योगों का विकास बहुत धीमी रफ्तार से हुआ। यह विकास भी एकांगी था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मशीन निर्माण जैसे कुछ बुनियादी उद्योगों की एकदम उपेक्षा हुई। जो चंद उद्योग स्थापित हुए वे देश के कुछ ही क्षेत्रों में सीमित थे। इन सब न्यूनताओं के बावजूद आधुनिक उद्योग की शुरुआत होने से आर्थिक क्षेत्र में अत्यंत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

आधुनिक व्यापार और उद्योग एकीकरण की प्रबल शक्तियां हैं। वे देश के विभिन्न

भागों को एक-दूसरे के नज़दीक लाती हैं। यदि कोई उद्योग देश के किसी अलग-थलग भाग में भी हो, तो भी उसके लिए कच्चे माल का उत्पादन काफी दूर के क्षेत्रों में हुआ हो सकता है। उसी प्रकार, किसी कारखाने में उत्पादित चीज़ें केवल उसी क्षेत्र के लोगों द्वारा उपयोग में नहीं लाई जातीं। इस प्रकार देश के विभिन्न क्षेत्र एक-दूसरे पर आश्रित हो जाते हैं और एक-दूसरे के नज़दीक आते हैं। इस तरह की अन्योन्याश्रयता से लोगों के बीच एकता बढ़ती है। आधुनिक उद्योग बड़े शहरों को जन्म देते हैं जहां बड़ी संख्या में लोग साथ-साथ काम करते हैं। उद्योगों में काम करने वाले लोग देश के विभिन्न क्षेत्रों के और विभिन्न जातियों तथा संप्रदायों के होते हैं। अतः ऐसी परिस्थितियां पैदा होती हैं कि उनमें जातीय, सांप्रदायिक तथा क्षेत्रीय महत्त्व मिटने लग जाता है। कारखानों में काम करने वाले लोगों में भाईचारे की भावना पैदा होती है। इससे वे एकजुट होते हैं और खास मांगों के लिए तथा देश के अन्य भागों के लोगों के साथ मिलकर व्यापक मांगों के लिए आंदोलन शुरू कर सकते हैं। शहर राजनीतिक आंदोलन के जन्मक्षेत्र बन जाते हैं। इन सब कारणों से उद्योगों का विकास लोगों को एक राष्ट्र में आबद्ध करने की महान भूमिका अदा करता है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत में शुरू हुए आधुनिक उद्योग के विकास ने राष्ट्रीय चेतना को उभारने में मदद दी।

आर्थिक जीवन में हुए परिवर्तनों के कारण समाज में जो नए वर्ग तथा समुदाय पैदा हुए उनके बारे में तुम पहले पढ़ चुके हो। उद्योगों का विकास होने लगा तो समाज में दो महत्त्वपूर्ण वर्गों का उदय हुआ– पूंजीपति-वर्ग और औद्योगिक मज़दूरों का वर्ग। इन दोनों वर्गों का अधिक विकास होने के लिए देश का औद्योगिकरण होना महत्त्वपूर्ण था। चूंकि ब्रिटिश शासन भारत के औद्योगिक विकास में बाधक बना हुआ था इसलिए वह इन दोनों वर्गों का भी विरोधी था, यद्यपि इन दोनों वर्गों के हित कई मामलों में एक से नहीं थे। इनमें से प्रत्येक वर्ग के अपने एक-से सार्वदेशिका हित भी थे। उदाहरण के लिए, सारे देश के सूती कपड़ा कारखानों के मालिक अंग्रेज़ों की आर्थिक नीतियों के कारण समान रूप से प्रभावित हुए थे और उनकी एक-सी समस्याएं तथा एक-से उद्देश्य थे। नए शिक्षित मध्यवर्ग के भी एक-से हित थे और ब्रिटिश शासन के विरुद्ध उनकी एक-सी शिकायतें थीं। राष्ट्रीय चेतना–यह चेतना कि वे एक ही राष्ट्र के नागरिक हैं–सर्वप्रथम इन वर्गों तथा समुदायों में पैदा हुई और इन्होंने ही भारतीय जनता की मांगों तथा अकांक्षाओं को उठाने की अग्रणी भूमिका अदा की।

आधुनिक शिक्षा का प्रभाव

आधुनिक शिक्षा के प्रसार ने राष्ट्रीय चेतना को उभारने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। अंग्रेज़ी शिक्षा अंग्रेज़ों ने जिस उद्देश्य से शुरू की थी वह सीमित था। उन्हें प्रशासकों के निम्न स्तरों में काम करने के लिए कुछ अंग्रेज़ी शिक्षित भारतीयों की ज़रूरत थी। ब्रिटिश शासक सोचते थे कि अंग्रेज़ी माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने वाले भारतीय उनके शासन के समर्थक बनेंगे। मगर राममोहन राय जैसे भारतीय नेताओं ने अंग्रेज़ी शिक्षा का स्वागत भिन्न प्रयोजन से किया था। उनका विचार था कि अंग्रेज़ी शिक्षा से भारत के लोगों को दुनिया के उन्नत ज्ञान की जानकारी मिलेगी। इसलिए स्वयं भारतीय नेताओं ने अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार के प्रयास किए।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत में शिक्षा का काफ़ी प्रसार हुआ। शिक्षित भारतीयों को यूरोपिय भाषाओं के साहित्य की ओर दुनिया के अन्य भागों की घटनाओं की जानकारी मिली। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में पश्चिम में अनेक क्रांतिकारी परिर्वतन हुए। तुम अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांतियों के बारे में पढ़ चुके हो। पश्चिम के महान विचारकों ने जनतंत्र, समानता तथा राष्ट्रवाद के समर्थन में ग्रंथ लिखे। अमरीकी स्वातंत्र्य की घोषणा और मानव तथा नागरिक के अधिकारों की फ्रांसीसी घोषणा ने नए क्रांतिकारी विचारों को बल प्रदान किया। उन्होंने बलपूर्वक कहा कि किसी भी देश के वास्तविक शासन वहां के लोग हैं और लोगों को यह अधिकार है कि वे ऐसी सरकार को उखाड़ फेंके जो उनकी आकांक्षाओं के अनुरूप काम नहीं करती और उनका उत्पीड़न करती है।

ब्रिटिश शासकों ने स्कूलों और कालेजों में उनकी सरकार के प्रति वफ़ादारी के विचार फैलाने के प्रयास किए। मगर शिक्षा का प्रभाव एकदम उलटा पड़ा। शिक्षा ने भारतीयों के लिए आधुनिक ज्ञान के दरवाज़े खोल दिए और उनमें राष्ट्रवाद तथा जनतंत्र के विचार पनपने लगे। दूसरे देशों के क्रांतिकारी और राष्ट्रवादी आंदोलन उनके लिए प्रेरणा के स्रोत बन गए।

सारे देश के शिक्षित भारतीयों का देश की समस्याओं के बारे में एक समान दृष्टिकोण बनने लगा। जनतंत्रवादी और राष्ट्रवादी विचारों से प्रभावित होने पर वे देश की समस्याओं के बारे में, अपने-अपने वर्गों या बिरादरियों की दृष्टि से नहीं, बल्कि समूचे देश की दृष्टि से सोचने लगे। समान दृष्टिकोण का विकास होने लगा तो वे एक-दूसरे के नज़दीक आकर भारतीय समाज के सन्मुख उपस्थित हुई समस्याओं के बारे में विचार-विमर्ष करने लगे। चूंकि

उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी थी, इसलिए सभी शिक्षित भारतीय अंग्रेज़ी भाषा जानते थे। इससे देश के विभिन्न भागों को एक-दूसरे से सम्पर्क स्थापित करने में आसानी हुई।

पिछले अध्याय में तुमने धार्मिक व सामाजिक सुधार के आंदोलनों के बारे में और सांस्कृतिक जीवन के विविध क्षेत्रों में हुए विकास के बारे में पढ़ा है। उन्होंने भारत की समस्याओं को अधिकाधिक महसूस कराने की और जनता को एकजुट करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। ये आंदोलन विभिन्न प्रदेशों की सीमाएं लांघ कर, और कभी-कभी विभिन्न बिरादरियों की भी सीमाएं लांघकर, सारे देश में फैल गए। सामाजिक कुरीतियों तथा सामाजिक असमानताओं को दूर करने के लिए किए गए प्रयासों से और अंधविश्वासों तथा संकुचित दृष्टिकोण की निंदा किए जाने से भी लोगों को अपनी राजनीतिक दुर्दशा को पहचानने में मदद मिली। भारत के अतीत की खोज ने और विभिन्न भारतीय भाषओं के साहित्य ने और प्रेस ने लोगों में स्वाभिमान तथा राष्ट्रीय चेतना की जो भावना जगाई उसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं।

शिक्षित भारतीयों ने सारे देश में राष्ट्रीयता के विचार फैलाने में प्रमुख भूमिका अदा की उन्होंने यूरोपिय भाषाओं के ग्रंथों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया और उन्होंने स्वयं ग्रंथ लिखे तथा पत्र-पत्रिकाएं निकालीं। उन्होंने भारत की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं पर रोशनी डाली। इससे देश के अधिकाधिक लोगों को भारतीय समाज की समस्याओं की तथा भारत पर ब्रिटिश शासन के प्रभावों की जानकारी मिली। उन्होंने राजनीतिक आर्थिक तथा सामाजिक मामलों पर अखिल भारतीय स्तर पर लोगों को संगठित करने की भी आवश्कता महसूस की।

ब्रिटिश शासन के प्रति असंतोष

पहले बताया जा चुका है कि भारतीय जनता के हितों में और ब्रिटिश शासकों के हितों में बुनियादी विरोध था। तुम पहले पढ़ चुके हो कि भारत में ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों के कारण किसान, शिल्पकार और कारीगर बरबाद हो गए थे। भारतीय जनता के घोर दरिद्रय का अंदाजा इसी से लग जाता है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में बार-बार पड़े अकालों में तीन करोड़ लोगों की मौत हुई थी। भारत के आर्थिक पिछड़ेपन के लिए भी ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियां ही ज़िम्मेदार थीं। ब्रिटिश शासन भारतीयों के हितों का

विरोधी है, यह अनुभव किए जाने पर ही भारतीय जनता में राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ। जो शिक्षित भारतीय आरंभ में सोचते थे कि ब्रिटिश शासन के औद्योगिक विकास में और आधुनिकीकरण में योग देगा उन्होंने अंतत: अनुभव किया कि उनकी आशाएं व्यर्थ थीं।

भारत में ब्रिटिश शासन को चलाने में जो भारी खर्च होता था उसे भारतीय जनता वहन करती थी। भारत की ब्रिटिश सरकार ने दूसरे देशों के साथ जो लड़ाइयां लड़ी उनसे भारतीय जनता के शोषण में वृद्धि हुई। भारतीय जनता का दमन करने के लिए और जिन देशों से भारतीय जनता की कोई दुश्मनी नहीं थी उनसे लड़ाइयां लड़ने के लिए भारत के ब्रिटिश शासन ने जो विशाल सेना खड़ी की थी उसका खर्च भारतीय जनता से वसूल किए गए करों से पूरा होता था। एक ओर भारतीय साधनों का ऐसे कामों में खर्च हो रहा था जिनका भारतीय जनता के लिए कोई लाभ नहीं था, तो दूसरी तरफ सिंचाई, शिक्षा आदि लोक-कल्याण के कामों की उपेक्षा हुई। इसलिए सेना आदि का खर्च कम करने और जनता पर लादे गए करों को कम करने की मांगे उठने लगीं।

तुम पढ़ चुके हो कि अंग्रेज़ों ने भारत में किस प्रकार का सरकारी प्रशासन स्थापित किया था। अपने ही देश की सरकार के संचालन में भारतीयों की कोई भागीदारी नहीं थी। तुम यह भी पढ़ चुके हो कि प्रशासनिक सेवाओं में भारतीयों की भरती के बारे में अंग्रेज़ों का क्या दृष्टिकोण रहा है। ब्रिटिश शासक उच्च शिक्षा प्राप्त भारतीयों को भी नफ़रत की निगाह से देखते थे। कुछ वायसरायों ने यहां तक सुझाव दिया था कि सिविल सर्विस की प्रतियोगिता परीक्षाओं में बैठने वाले भारतीयों पर पाबंदी लगायी जाए। वे शिक्षित भारतीयों के उस स्वभाव से भयभीत रहते थे जिसे वे हाज़िर-जवाबी कहते थे। प्रतियोगिता परीक्षाओं में सफल हुए भारतीयों को भी उन्होंने प्रशासनिक सेवाओं से अलग रखने की कोशिश की। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में शिक्षा का प्रसार होने के कारण शिक्षित लोगों की संख्या बढ़ती जा रही थी। मगर रोज़गार के अवसर अत्यंत सीमित थे। परिणामत: देश में शिक्षित बेरोज़गारों की संख्या बढ़ती गई। इससे ब्रिटिश शासन के खिलाफ असंतोष और भी अधिक बढ़ा।

आज यह कल्पना करना कठिन है कि ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीयों को कितना अपमान सहना पड़ा। यह एक आम बात है कि सभी साम्राज्यवादी शासित लोगों से जातीय नफ़रत करते हैं। शासित देश के शासक वर्ग में जातीय श्रेष्ठता की भावना

पनपती है। वे सोचने लगते हैं कि निकृष्ट जातियों पर शासन करने के लिए ईश्वर ने उन्हें ख़ास तौर से पैदा किया है। शासित देश के लोगों को वे अधम समझते हैं। भारत के ब्रिटिश अफ़सरों की भारतीयों से जातीय नफ़रत एक आम बात थी। यद्यपि ऐसे अनेक ब्रिटिश व्यक्ति थे, भारत में और ब्रिटेन में भी, जो भारतीय जनता के प्रति सहानुभूति रखते थे और उनकी सहायता करने थे, मगर ब्रिटिश शासन ने भारतीय जनता के प्रति जातीय घृणा और जातीय घमंड की भावना को ही बढ़ावा दिया। उन भारतीयों को भी अपमानित किया गया जो धनी थे और न्यायाधिश जैसे उच्च पदों पद आसीन थे। आम लोगों को पीटा गया और यातनाएं दी गईं। यदि किसी अंग्रेज़ ने अपने भारतीय नौकर को पीट-पीटकर मार डाला हो तो अंग्रेज़ जज उसे मामूली जुर्माना अदा करने का दंड देकर मुक्त कर देता था। ऐसे भी स्थान थे जहां भारतीयों के लिए प्रवेश मना था। रेलगाड़ी में गौरांगों के लिए सुरक्षित कंपार्टमेंट होते थे। ऐसे सुरक्षित पार्क थे जहां केवल यूरोपवासी ही जा सकते थे। राष्ट्रीय चेतना में उभार आने लगा तो ऐसे अपमानों के खिलाफ रोष बढ़ने लगा।

राष्ट्रीयता का उत्थान होने लगा तो सोचने, भाषण देने और अपने को व्यक्त करने जैसी बुनियादी आज़ादियों पर भी पाबंदियां लगनी शुरू हो गईं। समाचारपत्रों पर प्रतिबंध लगाए गए। पुस्तकों पर भी प्रतिबंध लगाए गए। उदाहरण के लिए, इतालवी एकीकरण के नेता माज़िनी की जीवनी पर रोक लगा दी गई थी। यहां तक कि अंग्रेज़ों द्वारा लिखी गई कुछ पुस्तकों पर भी रोक लगा दी गई थी। मगर इस नीति के बावजूद भारतीय जनता में पनप रही राष्ट्रीय चेतना राष्ट्रीय संगठनों के रूप में प्रकट होने लगी। ये संगठन विशिष्ट शिकायतों और मांगों को व्यक्त करने के लिए शुरू किए गए थे। धीरे-धीरे ये संगठन विदेशी शासन से पूर्ण आज़ादी प्राप्त करने के एक संयुक्त देशव्यापी आंदोलन में बदल गए।

राजनीतिक सभाओं की स्थापना

उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल के आसपास भारतीयों की राजनीतिक सभाएं स्थापित होने लगीं। इनकी स्थापना कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास जैसे प्रांतीय नगरों में हुई। 1851 ई. में कलकत्ता में ब्रिटिश 'इंडियन एसोसिएशन' की स्थापना हुई। इसने अन्य बातों के अलावा देश के प्रशासन में भारतीयों को भागीदार बनाने की मांग उठाई। भारतीय जनता के कल्याणार्थ भारत तथा ब्रिटेन के ब्रिटिश अधिकारियों

के पास अभिवेदनों को भेजने के लिए 1852 ई. में 'बम्बई एसोसिएशन' की स्थापना हुई। ऐसे ही उद्देश्य के लिए 1852 ई. में 'मद्रास नेटिव् एसोसिएशन' की स्थापना हुई। उन्होंने इस बात की भी मांग उठाई कि भारतीयों को प्रशासन में उच्च पद मिलने चाहिए। इन सभी एसोसिएशनों (सभाओं) के सदस्य अधिकतर भारतीय समाज के उच्च वर्गों के लोग थे। इनकी सीमित गतिविधयां थीं- प्रशासन में सुधार करने के लिए, सरकार के संचालन में भारतीयों को भागीदार बनाने के लिए, करों में कमी करने के लिए और भारतीयों के प्रति भेदभाव की नीति खत्म करने के लिए सरकार और ब्रिटिश पार्लियामेंट के पास याचिकाएं भेजना। यद्यपि ये सभाएं मुख्यत: अपने-अपने प्रांतों में ही काम करती थीं, मगर इनके घोषित उद्देश्य भारतीय जनता के उद्देश्य थे, न कि देश के किसी एक प्रदेश या समुदाय के उद्देश्य थे। बाद में ऐसे कई संगठन बने जो उपर्युक्त सभाओं की अपेक्षा जनता का ज़्यादा प्रतिनिधित्व करते थे। ऐसे कुछ संगठन थे-1870 ई. में स्थापित पुणे सार्वजनिक सभा, 1876 ई. में स्थापित इंडिया एसोसिएशन, 1884 ई. में स्थापित मद्रास महाजन सभा और 1885 ई. में स्थापित 'बाम्बे प्रेसिडेंसी एसोसिएशन'। ये संगठन सरकार की आलोचना करने में पहले के संगठनों की अपेक्षा अधिक प्रखर थे और भारतीयों के प्रति सरकार द्वारा अपनाई गई भेदभाव और दमन की नीतियों के खिलाफ सभाएं आयोजित करने में नहीं हिचकिचाते थे। मगर इन संगठनों की गतिविधियां भी अपने-अपने प्रदेशों तक ही सीमित थीं, यद्यपि इनकी मांगें अखिल भारतीय स्वरूप की थीं।

फिर कुछ घटनाओं के कारण 1870 ई. और 1880 ई. के दशकों में ब्रिटिश शासन के खिलाफ असंतोष और अधिक बढ़ गया। सरकार ने भारतीयों की मांगों को पूरा करने के प्रयास करने की बजाय, नए दमनकारी कदम उठाए। 1878 ई. में 'शस्त्र कानून'

मद्रास नेटिव समाज के संस्थापक गज़लु लक्ष्मीनरसु चेट्टी

बना जिसने भारतीयों के शस्त्र रखने पर प्रतिबंध लगा दिया। उसी साल भारतीय भाषाओं के समाचारपत्रों पर कड़े प्रतिबंध लगाए गए। 1883 ई. में सरकार ने भारत में रहने वाले अंग्रेज़ों और अन्य यूरोपवासियों के जातीय अहंकार को चोट पहुंचाने वाले एक ऐसे विधेयक (बिल) को वापस ले लिया जो उसने स्वयं पेश किया था। 'इल्बर्ट बिल' नामक इस विधेयक के अंतर्गत भारत में रहने वाले किसी अंग्रेज़ या यूरोपवासी पर भारतीय न्यायाधीश की अदालत में मुकदमा चलाया जा सकता था। भारत में अंग्रेज़ और भारतीय न्यायाधीशों के बीच समानता स्थापित करने के उद्देश्य से ही यह विधेयक पेश किया गया था। मगर भारत में रहने वाले अंग्रेज़ों और यूरोपवासियों के विरोध के कारण इस विधेयक को सरकार ने वापस ले लिया।

एक लंबे अरसे से यह आवश्यकता महसूस की जा रही थी कि भारतीय अभिमत का प्रतिनिधित्व करने वाला एक अखिल भारतीय संगठन होना चाहिए। सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने कलकत्ता में 'इंडियन एसोसिएशन' की स्थापना करके इस दिशा में कुछ कदम भी उठाए थे। सुरेंद्रनाथ बनर्जी इंडियन सिविल सर्विस में चुने गए थे मगर निहायत तुच्छ कारणों से उन्हें बरखास्त कर दिया गया था। वे पहले भारतीय नेता थे जिन्होंने दिसंबर 1883 ई. में कलकत्ता में आयोजित अखिल भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन में देश के सभी भागों के लोगों को एकत्र किया। उन्होंने दिसंबर 1885 ई. में कलकत्ता में एक और राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया। उसी बीच कुछ अन्य नेताओं ने एक अन्य अखिल भारतीय सम्मेलन बुलाया जो बम्बई में दिसंबर 1885 ई. में आयोजित हुआ। यही थी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जो भारतीय जनता की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला संगठन बना और जिसने भारतीय जनता के आज़ादी के संघर्ष का नेतृत्व किया।

सुरेंद्रनाथ बनर्जी

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

देश के सभी प्रांतों से आए 72 प्रतिनिधियों का बम्बई में 1885 ई. में 28 से 30 दिसंबर तक एक सम्मेलन हुआ। उसी के साथ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। कांग्रेस की स्थापना में भारत के एक अवकाश-प्राप्त ब्रिटिश अफ़सर एलान ओक्टेवियन ह्यूम ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन्होंने देशभर के चोटी के भारतीय नेताओं से सम्पर्क स्थापित किया और कांग्रेस की स्थापना में उनका सहयोग प्राप्त किया। बम्बई के गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कालेज में आयोजित कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में सम्मिलित हुए कुछ प्रमुख भारतीय नेता थे—दादाभाई नौरोजी, काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग, फीरोज़शाह मेहता, एस. सुब्रह्मण्य अय्यर, पी. आनंद चारलू, दिनशा एदलजी वाचा, गोपाल गणेश आगरकर, जी. सुब्रह्मण्य अय्यर, एम. वीरराघवचारियर, एन. जी. चंदावरकर, रहमतुल्ला एम. सयानी और उमेशचंद्र बोनर्जी। जो एक महत्त्वपूर्ण नेता अनुपस्थित

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में सम्मिलित प्रतिनिधिगण
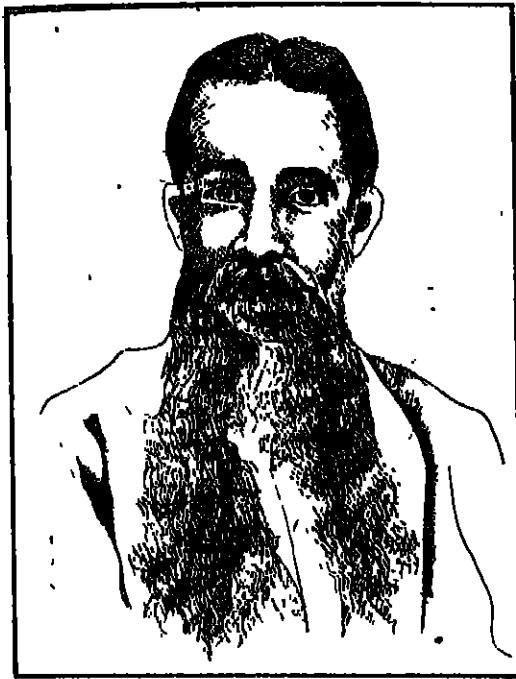
उमेशचंद्र बोनर्जी

थे वे थे सुरेंद्रनाथ बनर्जी। उन्होंने उसी दौरान कलकत्ता में एक राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया था।

भारत में स्थापित इस प्रथम राष्ट्रीय राजनीतिक संगठन के महत्त्व को जल्दी ही महसूस किया गया। अधिवेशन के समाप्त होने के मुश्किल से एक सप्ताह बाद कलकत्ता के समाचारपत्र द इंडियन मिरर ने लिखा : "बम्बई में आयोजित प्रथम राष्ट्रीय कांग्रेस भारत में ब्रिटिश शासन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ती है। जिस दिन इस कांग्रेस का उद्घाटन हुआ वह, यानी 28 दिसंबर, 1885 ई. का दिन, देशी जातियों की राष्ट्रीय प्रगति के इतिहास में एक स्मरणीय दिन होगा। यह कांग्रेस हमारे देश की भविष्य की संसद का केंद्रबिंदु बनेगी और हमारे देशवासियों के कल्पनातीत कल्याण की श्रेयभागी बनेगी। यदी हमसे पूछा जाए कि हमारे जीवन का सबसे गौरवशाली दिन कौन-सा है तो हम निःसंकोच कह सकते हैं कि यह वह दिन है जब पहली बार मद्रास, बम्बई, पश्चिमोत्तर प्रांत तथा पंजाब के हमारे सभी भाई इस राष्ट्रीय कांग्रेस को सफ़ल बनाने के लिए गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कालेज की छत के नीचे एक मंच पर एकत्र हुए। हम उम्मीद रखते हैं कि कांग्रेस की इस तिथि से आगे भविष्य में राष्ट्रीय प्रगति का अधिक तेजी से विकास होगा।"

कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष उमेशचंद्र बोनर्जी थे। उनके द्वारा घाषित कांग्रेस के उद्देश्य थे-देश के विभिन्न भागों के नेताओं को एकजुट करना, जाति, धर्म तथा क्षेत्र से संबंधित सभी संभव विद्वेषों को खत्म करना, देश के सन्मुख उपस्थित प्रमुख समस्याओं पर विचार-विमर्श करना और निर्णय करना कि भारतीय नेताओं को कौन से कदम उठाने चाहिए। कांग्रेस में पास हुए नौ प्रस्तावों में ब्रिटिश नीति में परिवर्तन करने और प्रशासन में सुधार करने की मांग की गई।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस : आरंभिक दौर

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बम्बई में आयोजित पहले अ ेशन के बाद हर साल दिसंबर में और प्रतिवर्ष प्राय: भिन्न-भिन्न स्थान पर कांग्रेस के अधिवेशन आयोजित होते रहे। कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन 1886 ई. में कलकत्ता में हुआ जिसमें करीब 450 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सुरेंद्रनाथ बनर्जी और इंडियन एसोसिएशन के अन्य नेता इस बार कांग्रेस के अधिवेशन में शरीक हुए। इस तथा बाद के अधिवेशनों में सम्मिलित होने वाले प्रतिनिधि अब स्थानीय स्तरों पर आयोजित सम्मेलनों में चुने जाने लगे। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन को भारत की प्रथम राष्ट्रीय सभा और 'हमारे देश की भविष्य की संसद का केंद्र' कहा गया था। कालांतर में यह सचमुच ही देश की जनता का प्रतिनिधि संगठन बन गया।

कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन के अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी थे। सुधार आंदोलनों के संदर्भ में हम उनकी चर्चा कर चुके हैं। वे 20 से भी अधिक साल तक कांग्रेस के एक अग्रणी नेता थे। इंग्लैंड के अपने निवासकाल में उन्होंने भारतीय जनता की मांगों के लिए ब्रिटिश नेताओं तथा वहां की जनता का समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से एक संगठन बनाया था। वे तीन बार कांग्रेस के अध्यक्ष

दादाभाई नौरोजी

बने। ये ब्रिटिश पार्लियामेंट के भी सदस्य चुने गए और वहां उन्होंने भारत के हितों के लिए आवाज़ उठाई। वे एक ऐसे आरंभिक नेता थे जिनका मत था कि भारतीय जनता का दारिद्र्य अंग्रेजों द्वारा भारत के शोषण और भारत के धन को इंग्लैंड ले जाने का परिणाम है। इन्हें भारत के 'पितामह' के रूप में जाना जाता है।

आरंभ से ही कांग्रेस ने धार्मिक तथा अन्य भेदभावों से रहित जन-एकता पर ज़ोर दिया। इसके अधिवेशनों को हर साल विभिन्न स्थलों पर आयोजित करने का भी यही उद्देश्य था। 1887 ई. में मद्रास में आयोजित कांग्रेस के अध्यक्षपद से इसी बात पर बल देते हुए बदरुद्दीन तैयबजी ने कहा था: "यह कांग्रेस

बदरुद्दीन तैयबजी

1891 ई. में कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष पी. आनंद चारलू

चित्र में ह्यूम (बाएँ), दादाभाई नौरोजी (मध्य) और विलियम वेडरबर्न (दाएँ)

भारत के किसी एक समुदाय या एक बिरादरी या भारत के एक भाग के प्रतिनिधियों की नहीं है, बल्कि भारत के विभिन्न समुदायों की है।" कांग्रेस के आरंभिक दौर में कुछ अंग्रेज़ भी इसके नेता रहे। 1888 ई. में इलाहाबाद में आयोजित अधिवेशन में करीब 1300 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। एक अंग्रेज़ जॉर्ज यूले इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे। कांग्रेस के अध्यक्ष बने अन्य अंग्रेज़ थे– विलियम वेडरबर्न, अल्फ्रेड वेब और हेनरी काटन। 1885 ई. से 1905 ई. तक की अवधि में कांग्रेस के कुछ अन्य अध्यक्ष थे– फीरोज़शाह मेहता, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, रहमतुल्ला

सयानी, आनंद चारलू, शंकरण नायर, रमेशचंद्र दत्त और गोपाल कृष्ण गोखले। इस काल में कांग्रेस के अधिवेशनों में महिलाओं ने भी भाग लेना शुरू किया। देश के राजनीतिक जीवन में कांग्रेस के अधिवेशनों का महत्त्व दिनोंदिन बढ़ गया।

कांग्रेस के आरंभिक 20 साल (1885-1905) आमतौर पर "नरम" दौर के नाम से जाने जाते हैं। इस काल में कांग्रेस ने धीरे-धीरे सुधार लागू करने और सरकार तथा प्रशासन में भारतीयों को अधिकाधिक स्थान देने की मांग उठाई। इसने विधान सभाओं को ज़्यादा अधिकार देने और इन सभाओं के सदस्यों को निर्वाचित करके विधान सभाओं को प्रतिनिधि संस्थाएं बनाने की मांग उठाई। कांग्रेस ने यह मांग भी उठाई कि जिन प्रांतों में विधान सभाएं नहीं हैं वहां इनकी स्थापना की जाए। इसने मांग की कि भारतीयों को उच्च सरकारी पदों पर भरती किया जाए और सिविल सर्विस की परीक्षाएं भारत में भी हों ताकि योग्य भारतीय इन सेवाओं के लिए आयोजित प्रतियोगिताओं में भाग ले सकें। इसने यह मांग भी उठाई कि भू-राजस्व में कमी की जाए और भारतीय उद्योगों के विकास के लिए सरकार की आर्थिक नीतियों में परिवर्तन किया जाए। इसने प्रशासन तथा सेना पर होने वाले भारी खर्च तथा

हिन्दू समाचार पत्र के संस्थापक, तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता जी. सुब्रह्मणिय अय्यर

चित्र में दिनशा वाचा (बाएँ), दादाभाई नौरोजी (बैठे हुए) और गोपाल कृष्ण गोखले (दाएँ) खड़े हैं।

भारतीय धन के विदेश में जाने का विरोध किया। अन्य प्रमुख मांगें थीं—भाषण तथा बोलने की आज़ादी, लोक-कल्याण की योजनाओं का विस्तार और शिक्षा का प्रसार। कांग्रेस ने मांग की कि सरकार को भारतीयों के कल्याण का काम करना चाहिए और ब्रिटेन के हितों के लिए भारत के शोषण को बंद करना चाहिए।

ये सभी नरम मांगें थीं। इस दौर के कांग्रेस के नेता भारतीय समाज के उच्च वर्गों के थे। वे अंग्रेज़ी-शिक्षित थे और सोचते थे कि उनकी जायज़ मांगें सरकार स्वीकार कर लेगी। उनका दृष्टिकोण ब्रिटिश विरोधी नहीं था। उनका विश्वास था कि उनकी न्यायोचित मांगों पर सोचने और उन्हें स्वीकार करने के लिए सरकार विवश होगी। इसके लिए उन्होंने प्रस्ताव पास किए और प्रतिवेदन तैयार करके विचारार्थ सरकार के पास भेजे। इन मांगों को इंग्लैंड में प्रचारित किया गया। भारतीय नेताओं ने इंग्लैंड के उन समाजसेवियों का सहयोग प्राप्त करने के प्रयास किए जो भारत से सहानुभूति रखते थे। उन्हें आशा थी कि अनुनय के इन तरीकों से भारतीय जनता धीरे-धीरे वे अधिकार प्राप्त कर लेगी जो ब्रिटिश जनता को प्राप्त हैं और अंततः भारत स्वतंत्र हो जाएगा।

कांग्रेस के प्रति ब्रिटिश रवैया

ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस की मांगों पर कोई ध्यान नहीं दिया। आरंभ में ब्रिटिश शासकों ने कांग्रेस के प्रति कुछ सहानुभूति दर्शायी थी और कुछ ब्रिटिश अधिकारी कांग्रेस के अधिवेशनों में भाग भी लेते थे। मगर जल्दी ही उन्होंने विरोधी रवैया अपनाया। अफ़सरों के कांग्रेस अधिवेशनों में भाग लेने पर रोक लगा दी गई और कांग्रेस को एक राजद्रोही संगठन समझा जाने लगा। कांग्रेस का प्रभाव बढ़ता गया तो ब्रिटिश प्रशासन, वायसराय भी, कांग्रेस को अल्पसंख्यकों का एक संगठन कहकर प्रचारित करने लगा। वे कहने लगे कि भारत एक राष्ट्र नहीं, बल्कि अनेक राष्ट्रों का समूह है और इनके कोई समान हित नहीं हैं। उन्होंने भारतीय जनता को धर्म के आधार पर बांटना शुरू किया। उदाहरण के लिए, वे कहने लगे कि हिन्दू और मुसलमानों के हित अलग-अलग हैं। वे कुछ उच्चवर्गीय मुसलमानों को कांग्रेस की गतिविधियों में भाग लेने से रोकने लगे, यह कहकर कि कांग्रेस की मांगों को स्वीकार करने से उनके हितों का नुकसान होगा। इंग्लैंड में, जहां कांग्रेस अनेक समर्थक प्राप्त करने में सफल हुई थी, सरकार का विरोधी रवैया

कायम रहा। ब्रिटिश पार्लियामेंट के कुछ सदस्यों ने भारत में सुधार लागू करने का समर्थन किया, मगर सामूहिक रूप से पार्लियामेंट ने भारत में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई।

कांग्रेस में नई प्रवृत्तियों का उदय

तुमने 1892 ई. के कौंसिल एक्ट के बारे में पढ़ा है। इसने भारतीय नेताओं की आशाओं पर पानी फेर दिया। वे धीरे-धीरे ब्रिटिश सरकार से निराश होते गए। उन्हें विश्वास होने लगा कि सरकार से किसी प्रकार के न्याय की उम्मीद रखना व्यर्थ है। यदि भारतीय जनता को अधिकार प्राप्त करने हैं तो इनके लिए उन्हें संघर्ष करना होगा। केवल योजनाओं से काम नहीं चलेगा। आरंभिक वर्षों में कांग्रेस द्वारा चलाया आंदोलन उद्योगपतियों, व्यापारियों, वकीलों और समाज के मध्य तथा उच्च वर्गों के शिक्षित लोगों तक सीमित रहा। मगर धीरे-धीरे अन्य समुदाय--आरंभ में निम्न मध्य वर्ग और बाद में आम जनता--इसमें शामिल हुए। इससे कांग्रेस का स्वरूप बदल गया और अंततः यह एक जन-आंदोलन बन गया।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में भारतीय जनता को बड़े कष्ट झेलने पड़े। भारत के कई भागों में अकाल पड़ा और उसमें लाखों लोगों की मौत हुई। ग़रीबी सबसे प्रमुख सवाल बन गया। भारतीय नेताओं ने जनता की गरीबी के लिए सरकार की नीतियों को दोषी ठहराया। वे ब्रिटिश शासन की पहले की अपेक्षा स्पष्टता से निंदा करने लगे।

उन्नीसवीं सदी के अंत समय से सरकार की दमन की कार्रवाइयों में वृद्धि हुई। कर्ज़न ने, जो 1898 ई. में गवर्नर-जनरल बना, खुली घोषणा की कि भारतीय लोग महत्त्वपूर्ण पदों को संभालने के लिए योग्य नहीं हैं। उसने कांग्रेस को नष्ट करने के अपने लक्ष्य की घोषणा की। इसके लिए उसने पुरानी 'फूट डालो और शासन करो' की नीति अपनाई। इस दिशा में उठाया गया सबसे महत्त्वपूर्ण कदम था--बंगाल का विभाजन। कर्ज़न जिस समय भारत से वापस गया उस समय कांग्रेस का आंदोलन पहले से कहीं अधिक बलशाली बन गया था।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में राष्ट्रीय आंदोलन मे नई प्रवृत्तियों को उभारने वाले नेता थे--बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय और विपिनचंद्र पाल। इन नए नेताओं ने कांग्रेस की नीतियों को "नरम" कहकर उनकी आलोचना की।

1904 ई. में कुछ राष्ट्रीय नेताओं के चित्र। चित्र में बाएँ से दाएँ बैठे हुए हैं : लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक, बिपिनचंद्रपाल और एन.सी. केलकर। तिलक के पीछे सी.आर.दास खड़े हुए हैं।

उन्होंने कहा कि सरकार से भलाई की उम्मीद रखने की बजाय जनता को अपने बल पर भरोसा करना होगा। उन्होंने कहा कि प्रशासन में सुधारों की मांग करना पर्याप्त नहीं है। भारतीय जनता का उद्देश्य होना चाहिए स्वाराज प्राप्त करना। तिलक ने प्रसिद्ध नारा दिया : "स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे प्राप्त करके रहूंगा।" इसके लिए जनता में काम करना और राजनीतिक आंदोलनों में जनता को सहभागी बनाना ज़रूरी था। इन नेताओं ने जनता की देशभक्ति को जगाया और उन्हें देशहित के लिए बलिदान देने को कहा। तिलक का 'केसरी' पत्र राष्ट्रवादियों के इस नए समूह का प्रवक्ता बना। इन राष्ट्रवादियों ने जनता को राजनीतिक दृष्टि से जागृत करने के लिए लोकप्रिय उत्सवों का भी उपयोग किया। उन्होंने हड़तालों और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार जैसे राजनीतिक आंदोलन के नए तरीके भी अपनाए।

ये प्रवृत्तियां अधिकाधिक लोकप्रिय होती गईं और जल्दी ही राष्ट्रीय आंदोलन

पर छा गईं। जिस कांग्रेस का आरंभ प्रार्थना-पत्रों और प्रतिवेदनों के ज़रिए सरकार में धीरे-धीरे सुधार लाने के लिए हुआ था उस पर नए नेताओं का भी वर्चस्व स्थापित हो गया। 1905 ई. में राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में एक नए दौर की शुरुआत हुई।

कांग्रेस ने आरंभ के अपने 20 वर्षों में एक व्यापक राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए लोगों को एकजुट करने का काम किया। बाद के वर्षों में यह एकता अधिक मजबूत हुई और उद्देश्य अधिक स्पष्ट हो गए। आरंभ में जिस आंदोलन में समाज के केवल छोटे वर्ग सक्रिय थे वह लाखों लोगों का एक ऐसा आंदोलन बन गया जिसका लक्ष्य था स्वतंत्रता प्राप्त करना।

अभ्यास

1. **निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो:**

    1. वहाबी और कूका आंदोलनों के बारे में क्या जानते हो? उनके क्या लक्ष्य थे?
    2. आर्थिक जीवन में वे कौन से परिवर्तन हुए जिनसे भारतीय जनता में एकता आई? उन परिवर्तनों ने कैसे एकता स्थापित की?
    3. भारत मे राष्ट्रीयता के उदय पर शिक्षा और सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों का क्या प्रभाव पड़ा?
    4. ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में स्थापित प्रशासन-व्यवस्था ने राष्ट्रीयता के उदय में क्या योगदान दिया?
    5. किस तरह भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हुए पुराने विद्रोहों से भिन्न था?
    6. भारतीय जनता के प्रति ब्रिटिश शासकों का क्या रुख था? भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों के प्रति उनके रुख में क्या भिन्नता थी?
    7. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना कब हुई? शुरू के बीस वर्षों में उसकी मुख्य मांगे क्या थीं?
    8. सन् 1885 से सन् 1905 ई. तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की माँगों के प्रति ब्रिटिश सरकार के रूख के बारे में लिखो।

9. "फूट डालो और शासन करो" की नीति का क्या मतलब है? "फूट डालो और शासन करो" की ब्रिटिश नीति की मुख्य बातों के बारे में लिखो।
10. उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दिनों में राष्ट्रीय आंदोलन में किन नई प्रवृत्तियों का उदय हुआ? उनकी लोकप्रियता के क्या कारण थे?

2. कालम "क" में कुछ कथन और कालम "ख" में कुछ व्यक्तियों के नाम दिए गए हैं। कालम "ख" को इस प्रकार व्यवस्थित करो कि दोनों में सही संबंध स्थापित हो जाए।

"क"	"ख"
1. वे इंडियन एसोसिएशन के संस्थापक थे।	1. ए.ओ. ह्यूम
2. वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष थे।	2. बाल गंगाधर तिलक
3. वे कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन के अध्यक्ष थे।	3. दादा भाई नौरोजी
4. वे एक अवकाश प्राप्त ब्रिटिश अफ़सर थे जिन्होंने कांग्रेस की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।	4. उमेश चंद्र बोनर्जी
5. उन्होंने कहा कि स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूँगा।	5. सुरेंद्र नाथ बनर्जी

3. करने को कार्य:

1. सन् 1885 से सन् 1905 ई. तक कांग्रेस के जो महत्त्वपूर्ण नेता हुए उनकी सूची बनाओ। उनके चित्रों को प्राप्त करने की कोशिश करो।
2. शुरू के बीस वर्षों में कांग्रेस की जो मांगे थीं उनकी सूची बनाओ, और उन्हें तालिका के रूप में कक्षा-भवन में प्रदर्शित करो।
3. एक चार्ट बनाओ जिसमें 1885 से 1905 तक हुए कांग्रेस अधिवेशनों के वर्ष, स्थान और कांग्रेस के अध्यक्षों के नाम लिखो।

अध्याय 10

स्वराज के लिए संघर्ष

गरम दल और नरम दल

तुम पहले पढ़ चुके हो कि कांग्रेस के आरंभ के 20 वर्षों में इसके नेताओं की आशाओं पर ब्रिटिश सरकार ने पानी फेर दिया। कांग्रेस के प्रति ब्रिटिश सरकार का रवैया अधिकाधिक शत्रुतापूर्ण हो गया। उन्नीसवीं सदी के अंतिम सालों में राष्ट्रीय आंदोलन में नई प्रवृत्तियों का उदय हुआ। इन प्रवृत्तियों को लेकर नए नेता सामने आए। वे बलपूर्वक कहने लगे कि सरकार से केवल अनुनय-विनय करके भारतीय अपने अधिकार नहीं प्राप्त कर सकते। ब्रिटिश सरकार की सद्भावना में उनकी कोई आस्था नहीं थी। उन्होंने जनता को आत्मबल का पाठ पढ़ाया। उन्होंने जनता में देशप्रेम की भावना भर दी। उन्होंने जनता को देश के लिए कोई भी कुर्बानी देने के लिए तैयार रहने को कहा। "वंदे मातरम्" सारे देश में राष्ट्रगीत के रूप में लोकप्रिय हो गया। तुम पहले ही पढ़ चुके हो कि यह गीत बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने लिखा था। इसने मातृभूमि के प्रति जनता की भक्ति को व्यक्त किया।

नए नेताओं में सबसे प्रमुख थे- बाल गंगाधर तिलक, विपिन चंद्र पाल, लाला लाजपत राय और अरविंद घोष। वे "गरम दल" के नेता के रूप में प्रसिद्ध हुए। कांग्रेस के सुरेंद्रनाथ बनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले, फीरोज़शाह मेहता और अन्य पुराने नेता "नरम दल" के कहलाए। नरम दल वालों को अभी भी विश्वास था कि भारतीयों की मांगों पर न्यायोचित विचार करने के लिए ब्रिटिश शासकों को मनाया
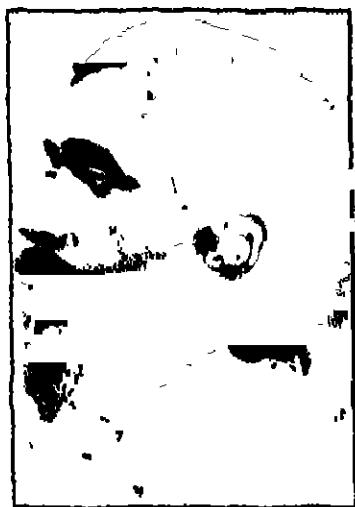
अरविंद घोष

जा सकता है। प्रस्तावों, प्रतिवेदनों तथा सभाओं के ज़रिए ब्रिटिश सरकार को भारतीय जनता के हित में सुधार करने के लिए मजबूर किया जा सकता है।

दुनिया की घटनाओं का प्रभाव

ब्रिटिश सरकार के प्रति जैसे-जैसे निराशा बढ़ती गई, वैसे-वैसे गरम दल के नेताओं का प्रभाव बढ़ता गया। भारत के बाहर की घटनाओं ने भी जनता के ब्रिटिश-विरोध और देशप्रेम को बढ़ाने में योगदान दिया। 1896 ई. में इटली ने इथियोपिया पर हमला किया, तो इथियोपिया के लोगों ने इतालवी सैनिकों को हरा दिया। इथियोपियाई जनता के हाथों एक यूरोपीय देश की हार से भारतीयों को खुशी हुई।

इटली की हार के करीब दस साल बाद 1905 ई. के एक युद्ध में जापान ने रूस को हराया। साम्राज्यवादियों द्वारा एशिया को जीतने का सिलसिला शुरू होने के बाद यह पहला मौका था जब एक एशियाई देश ने एक यूरोपीय देश को युद्ध में हराया था। इसलिए जापान की विजय का भारतीय जनता पर बड़ा असर हुआ और ब्रिटिश शासन के प्रति भारतीय जनता की घृणा बढ़ती गई। जैसा कि तुम आगे देखोगे, जापान स्वयं एक साम्राज्यवादी देश बन गया और उसने एशिया के अनेक भागों पर कब्ज़ा करने की कोशिश की। परंतु 1905 ई. में जापान की विजय इस माने में महत्त्वपूर्ण थी कि उसने दिखा दिया कि एक यूरोपीय देश को हराया जा सकता है। इससे भारतीय जनता को ब्रिटिश शासन के विरुद्ध अपने संघर्ष को चलाने के लिए बल मिला।

सन् 1905 ई. में रूस में एक क्रांति हुई। उन दिनों रूस पर एक निरंकुश बादशाह का शासन था और जनता अधिकारों से वंचित थी। रूस का बादशाह ज़ार कहलाता था। रूसी जनता ज़ार के ख़िलाफ उठ खड़ी हुई। क्रांति को हालांकि कुचल दिया गया, मगर इसने विदेशी शासन में कष्ट झेल रही भारतीय जनता को प्रेरणा दी। उत्पीड़न के विरुद्ध कई अन्य देशों की जनता के संघर्ष ने भी भारतीय जनता को प्रभावित किया। उदाहरण के लिए, आयरलैंड की जनता ब्रिटिश आधिपत्य से मुक्त होने के लिए संघर्ष कर रही थी। इन सब घटनाओं से भारतीय जनता और उसके नेता प्रभावित हुए। इन घटनाओं ने नए नेताओं की स्थिति को भी मज़बूत बनाया।

बंगाल का विभाजन

परंतु राष्ट्रीय आंदोलन के लक्ष्यों और तरीकों को प्रभावित करने और बदलने में

बंगाल के विभाजन ने सबसे प्रभावकारी भूमिका अदा की। उस समय बंगाल भारत का सबसे बड़ा प्रांत था। उसमें संपूर्ण बिहार और उड़ीसा के हिस्से शामिल थे। उस समय बंगाल की आबादी 7 करोड़ 80 लाख थी। कई सालों से बंगाल के पुनर्गठन की बात चल रही थी। कहा जा रहा था कि इतने बड़े प्रांत के प्रशासन को संभालना कठिन है, इसलिए इसका विभाजन आवश्यक है। मगर बंगाल से गैर-बंगाली क्षेत्रों (बिहार और उड़ीसा) को अलग करने की बजाय विभाजन के प्रस्ताव में उस प्रांत से पूर्व बंगाल को पृथक करने का सुझाव दिया गया। इसके पीछे मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय आंदोलन को कमज़ोर बनाना था। बंगाल में राष्ट्रीय आंदोलन बड़ा मज़बूत था। ब्रिटिश शासकों ने सोचा कि प्रांत का विभाजन करके वे इस आंदोलन को कमज़ोर बनाने में सफल हो जाएंगे। उनका दूसरा उद्देश्य था हिंदुओं और मुसलमानों में फूट पैदा करना। वे कहने लगे कि नए प्रांत में मुसलमानों का बहुमत होगा, इसलिए यह उनके हित में होगा। अंग्रेज़ों का ख्याल था कि इस तरह वे मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन से अलग करने में सफल होंगे। मगर जनता ने और राष्ट्रीय नेताओं ने सरकार की असली चालों को समझ लिया। विभाजन के प्रस्ताव के विरोध में सारे बंगाल में सैकड़ों सभाएं हुईं।

परंतु सरकार ने जनता की भावनाओं की कोई परवाह नहीं की। जुलाई 1905 ई. में विभाजन की घोषणा कर दी गई। बंगाल के पूर्वी हिस्सों को अलग करके असम के साथ मिला दिया गया। इस तरह पूर्वी बंगाल और असम का नया प्रांत बना। 16 अक्तूबर, 1905 ई. को विभाजन को कार्यरूप दिया गया।

विभाजन के कारण सारे बंगाल में रोष की लहर दौड़ गई। विभिन्न शहरों में बड़ी सभाएं और ज़बरदस्त प्रदर्शन हुए। विभाजन के विरुद्ध आंदोलन शुरू हुआ। गरम दल और नरम दल के नेताओं ने मिलकर इस आंदोलन का नेतृत्व किया। इस आंदोलन के कुछ प्रमुख नेता थे—सुरेंद्रनाथ बनर्जी, विपिनचंद्र पाल और अब्दुल रसूल। विभाजन का दिन सारे बंगाल में शोक-दिवस के रूप में मनाया गया। सारा कारोबार ठप्प हो गया। महाकवि रवींद्रनाथ ठाकुर के सुझाव पर वह दिन जन-एकता और मैत्री-दिवस के रूप में भी मनाया गया। सारे बंगाल के लोगों ने, चाहे वे हिंदू हो या मुसलमान हो या ईसाई हो, एक-दूसरे को राखी बांधी। इस तरह उन्होंने अपनी एकता और भाईबंदी ज़ाहिर की।

बंगाल के विभाजन को खत्म करने के लिए शुरू किए गए आंदोलन के दौरान संघर्ष के नए तरीके अपनाए गए। उन तरीकों के कारण, जिनमें "स्वदेशी" और "बहिष्कार" प्रमुख थे, ब्रिटिश-विरोधी राजनीतिक गतिविधियों में आम जनता अधिकाधिक संख्या में शामिल हुई। राष्ट्रीय आंदोलन के लक्ष्य भी पहले की अपेक्षा अधिक क्रांतिकारी हो गए। इस प्रकार, बंगाल के विभाजन के परिणाम सरकार की आशा के विपरीत हुए।

स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन

बंगाल के विभाजन को समाप्त करने के लिए जिस स्वदेशी और बहिष्कार के आंदोलन की शुरुआत हुई, वह जल्दी ही आज़ादी की लड़ाई का प्रमुख हथियार बन गया। "स्वदेशी" का अर्थ है-"अपने देश का"। आज़ादी के संघर्ष के दौरान इसका अर्थ था कि हमें देश में उत्पादित वस्तुओं का इस्तेमाल करना चाहिए। इससे भारतीय उद्योगों को बढ़ावा मिलेगा और राष्ट्र मज़बूत बनेगा। देशभक्ति बढ़ाने का यह एक प्रभावकारी तरीका था।

स्वदेशी वस्तुओं को बढ़ावा देने के साथ-साथ विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने का भी नारा दिया गया। इससे जनता की राष्ट्रीय भावनाओं को उभारने में मदद मिली। इस बात पर ज़ोर दिया गया कि विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने से-अधिकांश विदेशी वस्तुएं इंग्लैंड से आती थीं-इंग्लैंड के आर्थिक हितों को क्षति पहुंचेगी और तब ब्रिटिश सरकार को भारतीय मांगें स्वीकार करने के लिए मजबूर किया जा सकेगा।

कांग्रेस ने 1905 ई. के वाराणसी अधिवेशन में और 1906 ई. के कलकत्ता अधिवेशन में स्वदेशी और बहिष्कार के आंदोलनों का समर्थन किया। इससे कांग्रेस द्वारा अपनाए गए तरीकों में भारी परिवर्तन हुआ। अब ये तरीके प्रतिवेदनों और अपीलों के ज़रिए ब्रिटिश शासकों से न्याय की मांग करने तक सीमित नहीं रह गए थे।

स्वदेशी और बहिष्कार का आंदोलन केवल बंगाल तक सीमित न रहकर देश के अनेक भागों में फैल गया। इससे सारे देश में राजनीतिक गतिविधियां तीव्र हो गईं। ब्रिटिश कपड़ों, चीनी तथा अन्य वस्तुओं का बहिष्कार किया गया। लोग झुंड बनाकर दुकानों पर जाते और दुकानदारों से विदेशी सामान न बेचने का अनुरोध करते। वे दुकानों के बाहर खड़े रहकर ग्राहकों से विदेशी सामान न खरीदने का आग्रह करते। विदेशी सामान बेचने या इस्तेमाल करने वालों से लोगों ने बोलना-चालना छोड़ दिया। कई जगहों में नाइयों और धोबियों ने विदेशी वस्तुओं का

उपयोग करने वाले लोगों का काम करना बंद कर दिया।

इस आंदोलन में स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थियों ने बड़े महत्त्व की भूमिका अदा की। उन्होंने केवल स्वदेशी वस्तुओं का इस्तेमाल करना शुरू किया और लोगों को प्रेरित किया कि वे विदेशी वस्तुओं का इस्तेमाल न करें। सरकार ने दमन के कई तरीके आज़माए। अनेक विद्यार्थियों को स्कूल-कालेजों से निकाल दिया गया। कइयों को पीटा गया और जेल में डाल दिया गया।

स्वदेशी और बहिष्कार का आंदोलन केवल सामान तक सीमित नहीं रह गया। स्वदेशी का अर्थ हो गया वह सब जो भारतीय है। इसी प्रकार, बहिष्कार का अर्थ हो गया वह सब जिसका संबंध ब्रिटिश शासन से है। बंगाल के विभाजन को रोकने के लिए शुरू हुआ यह आंदोलन अंततः विदेशी शासन से आज़दी हासिल करने का साधन बन गया।

कांग्रेस और स्वराज का लक्ष्य

बंगाल के विभाजन के ख़िलाफ़ शुरू हुए आंदोलन ने और स्वदेशी तथा बहिष्कार के आंदोलन के फैलाव ने कांग्रेस की नीतियों को प्रभावित किया। गरम दल तथा नरम दल सहित कांग्रेस के भीतर के सभी दल बंगाल के विभाजन के ख़िलाफ़ एकजुट हुए। वाराणसी में 1905 ई. में आयोजित कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष गोपाल कृष्ण गोखले थे। उस अधिवेशन ने स्वदेशी और बहिष्कार के आंदोलन को समर्थन दिया।

मगर नरम दल और गरम दल में मतभेद कायम रहे। नरम दल वालों का मत था कि बहिष्कार-जैसे तरीकों का इस्तेमाल विशेष उद्देश्यों के लिए विशेष परिस्थिति में ही होना चाहिए। उनका मत था कि बंगाल के विभाजन के विरुद्ध इन तरीकों का इस्तेमाल करना सही था। मगर वे नहीं चाहते थे कि ब्रिटिश शासन के ख़िलाफ़ इन तरीकों का इस्तेमाल हमेशा किया जाए। वे अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ व्यापक संघर्ष छेड़ने के पक्ष में नहीं थे। ब्रिटेन में उदार दल की सरकार बनी थी। मार्ले भारत-मंत्री था। नरम दल के नेताओं का मत था कि अपीलों और प्रतिवेदनों से प्रशासन में सुधार करने के लिए उदार दल की सरकार को मनाया जा सकता है।

परंतु गरम दल वालों का विश्वास था कि बहिष्कार को व्यापक बनाना आवश्यक है। उन्होंने सरकारी स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों का बहिष्कार करने और देशभक्ति को उभारने के लिए शिक्षा-संस्थाएं शुरू करने पर ज़ोर दिया। संक्षेप में, गरम दल वाले ब्रिटिश शासन के विरुद्ध व्यापक आंदोलन

चलाना चाहते थे। स्वदेशी और बहिष्कार के आंदोलन ने लोगों में आत्म-निर्भरता का विकास किया। इसने भारतीय उद्योग को बढ़ावा देने और स्वदेशी उद्योग की स्थापना में मदद दी। स्वदेशी वस्तुएं बेचने वाली दुकानें स्थापित करना देशभक्ति का प्रतीक और ब्रिटेन के विरुद्ध संघर्ष का हिस्सा बन गया। उसी दौरान तमिलनाडु के राष्ट्रवादी नेता वी. ओ. चिंदबरम् पिल्लाई ने स्वदेशी स्टीम नेविगेशन कंपनी की स्थापना की।

कलकत्ता में 1906 ई. में आयोजित कांग्रेस के अधिवेशन के समय भी गरम दल और नरम दल के बीच मतभेद बढ़ते जा रहे थे। भारतीय जनता के उस समय के परमप्रिय नेता दादाभाई नौरोजी कलकत्ता अधिवेशन के अध्यक्ष थे। उन्होंने विभिन्न मतों वाले नेताओं को समझाया कि वे कुछ व्यापक नीतियों को एकमत से स्वीकार कर लें। एक प्रस्ताव के ज़रिए कांग्रेस ने स्वदेशी और बहिष्कार को अपना समर्थन प्रदान किया। देश की आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा-प्रणाली का आयोजन करने पर भी ज़ोर दिया गया। यह भी कहा गया कि इस प्रणाली का आयोजन स्वयं भारतीयों को करना चाहिए। परंतु इस अधिवेशन की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि स्वराज-प्राप्ति को कांग्रेस का लक्ष्य घोषित किया गया। इस लक्ष्य को दादाभाई नौरोजी के भाषण में शामिल किया गया था। स्वराज का मतलब था ब्रिटेन के कनाडा और आस्ट्रेलिया जैसे स्वाशासित उपनिवेशों के तरह की सरकार स्थापित करना। ये दो देश ब्रिटिश साम्राज्य के अंग थे, मगर इन देशों की सरकारें जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों से बनी थीं। कांग्रेस के घोषित लक्ष्यों में यह एक महत्त्वपूर्ण प्रगति थी। तब तक कांग्रेस ने प्रमुख रूप से तत्कालीन सरकारी ढांचे में ही सुधार के लिए प्रयास किए थे। कांग्रेस का विश्वास था कि सुधारों के ज़रिए भारत धीरे-धीरे स्वशासन हासिल कर लेगा, परंतु पहले उसने इसकी कभी स्पष्ट घोषणा नहीं की थी। इस दृष्टि से हमारे स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में कलकत्ता अधिवेशन का बड़ा महत्त्व है।

मगर गरम दल और नरम दल एकजुट नहीं रह सके। सूरत में 1907 ई. में आयोजित कांग्रेस अधिवेशन में दोनों दलों में संघर्ष हुआ। कांग्रेस पर नरम दल वालों का पूरा कब्ज़ा हो गया। गरम दल वाले कांग्रेस से अलग होकर काम करने लगे। नौ साल बाद, 1916 ई. में, ही दोनों दलों का पुनः एकीकरण हुआ।

कांग्रेस पर नरम दल वालों का कब्ज़ा हो जाने के बावजूद गरम दल के विचार तथा
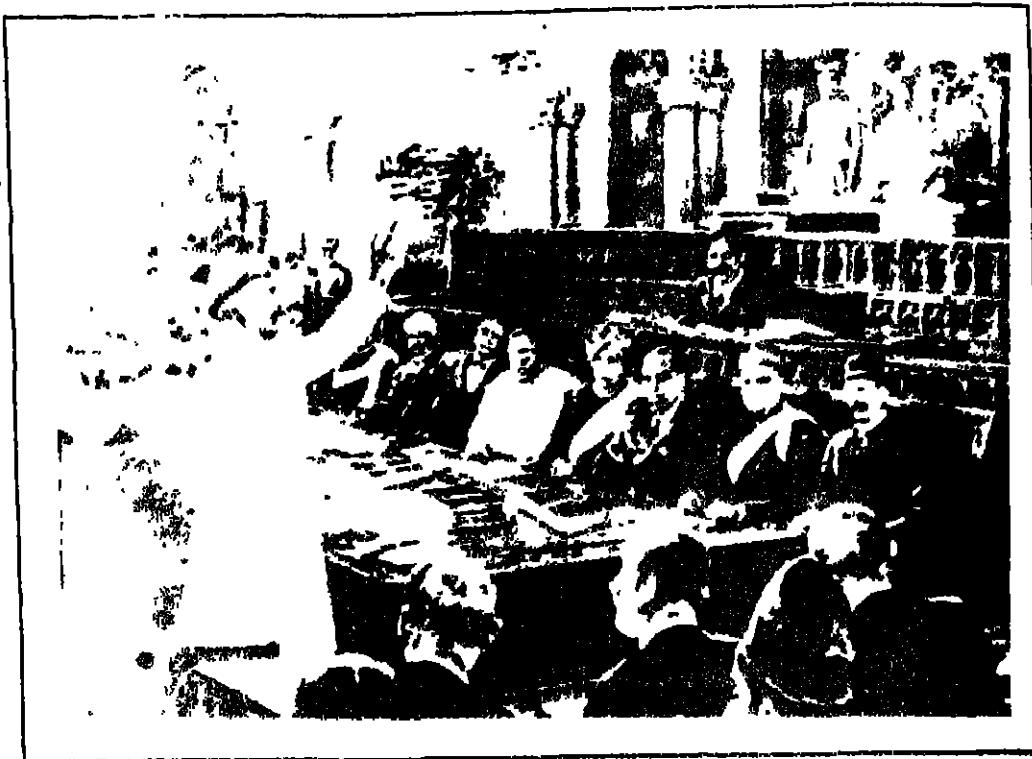
1906 ई. का एक चित्र जिसमें तिलक को अपने मुकदमे दौरान न्यायालय को संबोधित करते हुए दिखाया गया है।

तरीके देशभर में फैलते गए। इससे अंग्रेज सतर्क हो गए। ब्रिटिश अधिकारियों में इसलिए भी आतंक फैला कि 1907 ई. में 1857 ई. के महान विद्रोह का पचासवां वार्षिकोत्सव पड़ता था। उन्हें डर था कि कहीं दूसरा विद्रोह न भड़क उठे। गरम दल वालों का अधिक दमन होने लगा। लाजपत राय को गिरफ्तार करके 1907 ई. के शुरू में बर्मा में निर्वासित कर दिया। उन्हें उस साल के अंत में रिहा किया गया।

वि ओ सी पिल्ले

बिपिनचंद्र पाल को 6 महीने के लिए जेल में बंद कर दिया गया। 1908 ई. में तिलक को गिरफ़्तार करके छह साल के लिए बर्मा में निर्वासित कर दिया गया। कई अख़बारों पर प्रतिबंध लगा दिए गए और उनके संपादकों को जेल में डाल दिया गया। वी.ओ. चिदंबरम पिल्लाई पर अत्याचार किए गए और उन्हें जेल में डाल दिया गया। मगर इन दमनकारी कार्रवाइयों के बावजूद गरम दल के नेताओं द्वारा अंग्रेज़ों के ख़िलाफ अपनाई गई नीतियों तथा तरीकों का जनता में प्रचार बढ़ता गया। सरकारी दमन का जनता ने कड़ा मुकाबला किया। तिलक को सज़ा देने पर बम्बई के मज़दूरों ने हड़ताल की। तिम्नेवेल्ली (तमिलनाडु) में लोगों ने एक सभा पर लगाए गए प्रतिबंध को तोड़ा, तो चार प्रदर्शनकारियों को गोली मारकर मौत के घाट उतार दिया गया। देश के कुछ भागों में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ हिंसा की भी घटनाएं हुईं।

मार्ले – मिंटो सुधार

सरकार ने एक ओर दमन की नीति को तीव्र बनाया, तो दूसरी ओर नरम दल वालों को संतुष्ट करने की कोशिश की। 1909 ई. में 'इंडियन कौंसिल एक्ट' की घोषणा की गई। इसे मार्ले–मिंटो सुधार के नाम से जाना जाता है। उस समय मार्ले भारत–मंत्री था और मिंटो वायसराय। इस एक्ट के अनुसार केंद्रीय तथा प्रांतीय विधान परिषदों (सभाओं) में सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। मगर इन परिषदों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या कुल सदस्यों की संख्या से कम थी। ये निर्वाचित सदस्य भी जनता द्वारा नहीं बल्कि ज़मींदारों, व्यापारियों तथा उद्योगपतियों के संगठनों; विश्व-विद्यालयों और स्थानीय संस्थाओं द्वारा चुने गए थे। अंग्रेज़ों ने इन सुधारों के अंतर्गत सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की भी प्रथा चलाई। इसका मकसद था कि हिंदुओं और मुसलमानों में फूट पैदा करना। परिषदों में कुछ सीटें मुसलमान मतदाताओं द्वारा चुने जाने वाले मुस्लिम प्रतिनिधियों के लिए सुरक्षित रखी गईं। अंग्रेज़ सोचते थे कि ऐसा करके वे राष्ट्रीय आंदोलन से मुसलमानों को अलग करने में सफ़ल होंगे। उन्होंने मुसलमानों को बताया कि उनके हित अन्य भारतीयों के हितों से भिन्न हैं। राष्ट्रीय आंदोलन को कमज़ोर बनाने के लिए अंग्रेज़ों ने भारत में सांप्रदायिकता को लगातार बढ़ावा देने की नीति अपनाई। सांप्रदायिकता की वृद्धि के भारतीय जनता की एकता और आज़ादी के संघर्ष के लिए बड़े घातक परिणाम निकले। कांग्रेस

ने ,09 ई. के अपने अधिवेशन में इन सुधारों का स्वागत किया, मगर धर्म पर आधारित पृथक प्रतिनिधित्व का विरोध किया।

मार्ले-मिंटो सुधारो को लागू करने से परिषदों के अधिकारों में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। स्वराज की बात कौन कहे, इन सुधारों से प्रतिनिधि सरकार की स्थापना की दिशा में भी कोई प्रगति नहीं हुई। भारत-मंत्री ने तो खुले आम कहा कि भारत में संसदीय सरकार की स्थापना करने का उनका कोई इरादा नहीं ' संसदीय सरकार में संसद सर्वोच्च होती है और वही सारे कानून और नीतियां बनाती है। संसद-सदस्य एक निश्चित अवधि के लिए चुने जाते हैं और उसके बाद पुन: चुनाव होते हैं। भारत में आज संसदीय सरकार है। 1857 ई. के विद्रोह के बाद जो निरकुंश सरकार स्थापित हुई थी वह मार्ले-मिंटो सुधारों के बाद भी ज्यों की त्यों कायम रही। केवल इतना ही परिवर्तन हुआ कि सरकार ने अपनी पसंद के कुछ भारतीयों को उच्च पदों पर नियुक्त करना शुरू किया। सत्येंद्र प्रसन्न सिन्हा गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् के पहले भारतीय सदस्य बने। बाद में वे 'लॉर्ड' बने। .. ।।।।। और उड़ीसा का गवर्नर बनाया गया। समूचे ब्रिटिश शासन के दौरान इतने ऊंचे पद पर पहुंचने वाल वे एकमात्र भारतीय थे।

सन् 1911 ई. में दिल्ली में दरबार लगा। उसमें ब्रिटेन का राजा जॉर्ज पंचम और उसकी रानी ने भाग लिया। दरबार में भारत के राजे-रजवाड़ों ने भी भाग लिया और ब्रिटिश सत्ता के प्रति अपनी वफादारी व्यक्त की। इस अवसर पर दो महत्वपूर्ण घोषणाएं की गईं। एक तो 1905 ई. में किए गए बंगाल के विभाजन का रद्द किया गया, दूसरे, ब्रिटिश भारत की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली स्थानांतरित कर दी गई।

क्रांतिकारी

अपीलों या जन-आंदोलनों के ज़रिए सुधारों तथा स्वराज के लिए काम करने वाले गरम दल और नरम दल के अलावा भी देश के कुछ भागों में क्रांतिकारियों के कुछ ऐसे समूह थे जो ब्रिटिश शासन को बल के ज़रिए उखाड़ फेंकने में विश्वास रखते थे। उनके गुप्त संगठन थे और वे अपने सदस्यों को गोला-बारूद बनाने और हथियार चलाने का प्रशिक्षण देते थे। इन संगठनों के अधिकांश सदस्य ऐसे नौजवान थे जिनका रोष अंग्रेज़ों की दमनकारी कार्रवाइयों से अधिक भड़क

उठा था। ये संगठन महाराष्ट्र और बंगाल में ज़्यादा सक्रिय थे। क्रांतिकारियों के दो महत्त्वपूर्ण संगठन थे—महाराष्ट्र में 'अभिनव भारत सोसायटी' और बंगाल में 'अनुशीलन समिति'। इनके सदस्यों ने बदनाम ब्रिटिश अफ़सरों, पुलिस अफ़सरों, मजिस्ट्रेटों, मुखबिरों, गवर्नरों तथा वायसरायों के खिलाफ हिंसात्मक कार्रवाइयां कीं।

खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी ने 1908 ई. में मुज़फ़्फ़रपुर में एक घोड़ागाड़ी पर बम फेंके। उनका ख्याल था कि उसमें एक ब्रिटिश जज सवारी कर रहा है। वह जज स्वदेशी आंदोलन के कार्यकर्ताओं को कड़ी सजाएं देने के लिए बदनाम था। दरअसल, उस गाड़ी में दो अंग्रेज़ महिलाएं यात्रा कर रही थीं। हमले में दोनों की ही मृत्यु हुई। चाकी ने आत्महत्या कर ली और खुदीराम बोस को फांसी दे दी गई। इस घटना के बाद कलकत्ता के मणिकतल्ला गार्डन हाउस पर, जिसका क्रांतिकारी बम बनाने और हथियार चलाने का अभ्यास करने के लिए उपयोग करते थे, पुलिस ने छापा मारा। अरविंद घोष और उनके भाई बरिंद्र कुमार बोस सहित अनेक क्रांतिकारी पकड़े गए और उनमें से कुछ को आजीवन कारावास की सज़ा दी गई। अरविंद घोष को रिहा कर दिया गया। उसके बाद ही उन्होंने सभी राजनीतिक गतिविधियां त्याग दीं। व पांडिचेरी चले गए। उस समय पांडिचेरी एक फ्रांसीसी उपनिवेश था। वहां अरविंद ने एक आश्रम की स्थापना की। अंग्रेजों के विरुद्ध हिंसा की और भी कुछ घटनाएं हुईं। ढाका के मजिस्ट्रेट और नासिक तथा तिन्नेवेल्ली के कलेक्टरों की गोली मारकर हत्या कर दी गई। 1912 ई. में वायसराय हार्डिंग की हत्या का प्रयास हुआ। ब्रिटिश भारत की नई राजधानी दिल्ली में हार्डिंग के पहुंचने पर चांदनी चौक से उसका जलूस निकला तो उस पर बम फेंका गया, पर वह बच गया।

भारतीय क्रांतिकारी संसार के अन्य भागों में भी सक्रिय थे। उन्होंने लंदन, पैरिस तथा बर्लिन और उत्तरी अमरीका तथा एशिया में अपने केंद्र स्थापित किए। उन्होंने पत्र-पत्रिकाएं निकालीं और क्रांतिकारी विचारों का प्रचार किया। कुछ क्रांतिकारियों ने यूरोप के क्रांतिकारी संगठनों से संबंध स्थापित किए। भारत के बाहर काम करने वाले कुछ प्रमुख क्रांतिकारी थे—श्यामजी कृष्णवर्मा, मदाम भिकाजी कामा, एम. बरकतुल्ला, वी.वी.एस. अय्यर, लाला हरदयाल, रासबिहारी बोस, सोहन सिंह भकना, विनायक दामोदर

सावरकर, उबैयदुल्ला सिंधी और मानवेंद्रनाथ राय। उत्तरी अमरीका के भारतीय क्रांतिकारियों ने विभिन्न भारतीय भाषाओं में ग़दर नामक अखबार निकाला और उसी नाम की एक पार्टी स्थापित की।

वी. डी. सावरकर

प्रथम महायुद्ध (1914-1918) के दौरान इन दलों ने सशस्त्र विद्रोह के ज़रिए ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिए भारत में चोरी-छिपे हथियार लाने की कोशिशें कीं। बाघा जतिन जर्मनी से लाए हथियारों से विद्रोह की तैयारी कर रहे थे, मगर उन्हें मार दिया गया। भारत में विद्रोह की तैयारी करने के लिए ग़दर

श्यामजी कृष्ण वर्मा

मैडम कामा

एम. बरकतुल्ला

लाला हरदयाल

ऊर्दू पत्रिका गदर का आवरण पृष्ठ

वी. वी. एस. अय्यर
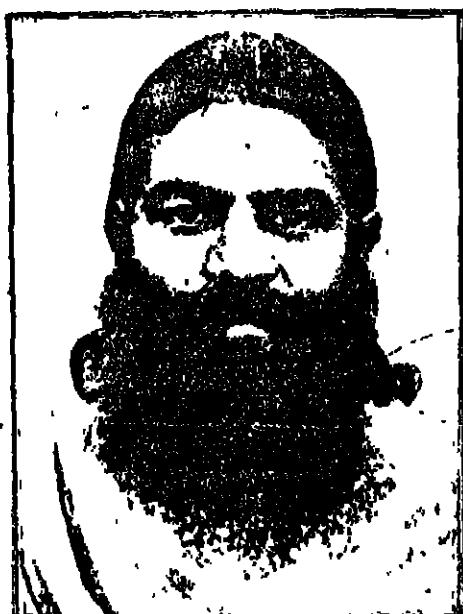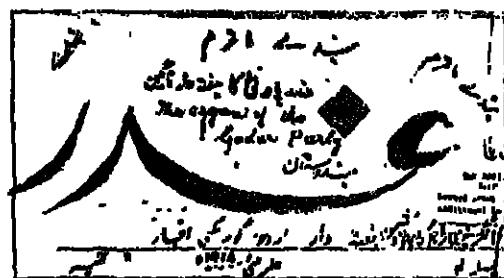
पार्टी ने भी अपने लोग भेजे। मगर उनमें से अधिकांश को पकड लिया गया और कुछ को फ़ांसी दी गई। जिन्हे फ़ासी दी गई उनमें 19 साल के करतार सिंह सराभा भी थे। काबुल में एक क्रांतिकारी दल ने स्वतंत्र भारत की अंतरिम सरकार स्थापित की। राजा महेंद्र प्रताप उसके राष्ट्रपति और बरकतुल्ला प्रधानमंत्री थे।

यद्यपि ये क्रांतिकारी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुए, परंतु इनका देशप्रेम, निश्चय और आत्म-बलिदान भारतीय जनता के लिए प्रेरणा-स्रोत बना। मगर इनकी गतिविधियों में कुछ कमज़ोरियां थीं। उदाहरण के लिए, वे सोचते थे कि कुछ खास लोगों की हत्या करके वे देश को आज़ाद करने में सफल होंगे। वे समझ नहीं पाए कि हिंसा की कुछ घटनाओं से वे एक शक्तिशाली साम्राज्य को हरा नहीं सकेंगे। प्रथम महायुद्ध के दौरान उन्होंने अपनी गतिविधियां तेज़ कर दीं और भारतीय सिपाहियों तथा आम जनता के सहयोग से देश के कुछ भागों में विद्रोह आयोजित करने की कोशिश की। मगर उनके सारे प्रयास निष्फल रहे। अनेक क्रांतिकारी पकड़े गए। उनमें से कइयों को फ़ांसी दी गई और दूसरों को लंबे कारावास की सज़ाएं सुनाई गईं। समूचे राष्ट्र के एकजुट संघर्ष से ही ब्रिटिश सत्ता को हराया जा सकता था। मगर क्रांतिकारियों की निर्भयता ने भारतीय जनता को बल प्रदान किया।

करतार सिंह सराभा

मुस्लिम लीग की स्थापना

अंग्रेज़ों की "फूट डालो और राज करो" की नीति के बारे में तुम पहले पढ़ चुके हो। इस नीति की एक मुख्य विशेषता थी हिंदुओं और मुसलमानों में फूट डालना। अंग्रेज़ उन्हें कहने लगे कि उनके हित एक-दूसरे से एकदम अलग हैं। शुरू में उन्होंने मुसलमानों को अपना प्रमुख शत्रु समझकर उनके प्रति भेदभाव का व्यवहार किया। बाद में जब राष्ट्रीय आंदोलन मज़बूत होने लगा तो उन्होंने उच्च वर्गीय मुसलमानों का पक्ष लेकर उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन से अलग करने के प्रयास किए। मगर उनके इन प्रयासों के बावजूद बड़ी संख्या में मुसलमान कांग्रेस में शामिल हुए। परंतु उच्च वर्गीय मुसलमानों के केवल एक हिस्से को अंग्रेज़ अपने पक्ष में करने में सफ़ल हुए। उन्होंने उन्हें अपने अलग

संगठन स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने मुसलमानों को उपने पक्ष में करने के लिए यह बताना शुरू किया कि सरकार के प्रति वफ़ादार बने रहने में ही उनका हित है। उन्होंने यह भी कहा कि भारत की प्रतिनिधि सरकार में हिंदुओं का बहुमत रहेगा, क्योंकि वे संख्या में अधिक हैं। गरम दल के कुछ हिंदू नेताओं ने राष्ट्रीयता के प्रचार के लिए धार्मिक विश्वासों और उत्सवों का इस्तेमाल किया। इससे अंग्रेज़-हिमायती मुसलमानों को यह कहने का मौका मिला कि राष्ट्रीय आंदोलन केवल हिंदुओं का आंदोलन है और मुसलमानों को उससे कोई सरोकार नहीं रखना चाहिए।

तुम जानते हो कि बंगाल के विभाजन का एक उद्देश्य हिंदू और मुसलमानों में फूट डालना था। 1906 ई. में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। इसकी स्थापना में प्रमुख भूमिका मुसलमानों के एक संप्रदाय के प्रमुख आग़ा खान और ढाका के नवाब सलीमुल्ला ने अदा की। आग़ा खान के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मंडल वायसराय मिंटो से मिला था। तब वायसराय ने उनकी पीठ ठोकी। सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को लागू करने के जिस प्रस्ताव के बारे में तुमने पहले पढ़ा है उसे इसी प्रतिनिधि मंडल ने वायसराय के सामने पेश किया था। मुस्लिम लीग ने घोषणा की कि उसका लक्ष्य सरकार के प्रति वफ़ादारी कायम रखना, मुसलमानों के हितों की रक्षा तथा वृद्धि करना और भारत के अन्य समुदायों के प्रति मुसलमानों में शत्रुता की भावना नहीं पनपने देना है।

धर्म के आधार पर राजनीतिक संगठनों की स्थापना जनता के राजनीतिक जीवन के लिए हानिकारक होती है। ऐसे संगठन इसलिए हानिकारक होते हैं कि वे लोगों में यह विश्वास पैदा करते हैं कि अलग-अलग संप्रदायों के अलग-अलग हित हैं। इससे लोग महसूस नहीं कर पाते कि समूचे राष्ट्र के हित-साधन के बिना किसी एक समुदाय का हित-साधन संभव नहीं है। ऐसे विश्वासों को बढ़ावा देने वाले संगठनों को सांप्रदायिक संगठन कहते हैं। वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दूसरे समुदायों के प्रति घृणा फैलाते हैं और इस प्रकार राष्ट्रीय एकता में बाधक बनते हैं। किसी भी एक राष्ट्र के लोगों को विभिन्न धर्मों के अनुयायी होने पर भी, समान अधिकार प्राप्त होते हैं। किसी भी नागरिक का धर्म उसका अपना निजी विश्वास होता है। धार्मिक विश्वास को राजनीतिक गतिविधियों के साथ नहीं

जोड़ना चाहिए, क्योंकि किसी भी राष्ट्र के नागरिकों की राजनीतिक गतिविधियां उस राष्ट्र के सभी लोगों की सामूहिक समस्याओं से संबंधित होती हैं।

मगर ब्रिटिश सरकार के प्रयासों के बावजूद आम मुसलमान राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल हुए। इस काल में अबुल कलाम आज़ाद, मुहम्मद अली, हकीम अजमल खाँ और मज़रूल हक़ जैसे कई मुस्लिम नेता प्रसिद्ध हुए। इनके अलावा देवबंद विद्याकेंद्र के उलमा ने भी शुरू से ही ब्रिटिश शासन का विरोध किया। इन सभी नेताओं ने राष्ट्रीयता का प्रचार किया और जनता को आज़ादी के आंदोलन में लाने के प्रयास किए। स्वयं मुस्लिम लीग भी साम्राज्यवाद-विरोधी विचारों के प्रसार से प्रभावित हुई थी। इसकी स्थापना के समय इसने मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति वफ़ादारी की भावना का प्रचार करना अपना एक उद्देश्य घोषित किया था। मगर 1913 ई. में इसने स्वाराज हासिल करना अपना लक्ष्य घोषित किया। कांग्रेस ने इस लक्ष्य की घोषणा सात साल पहले की थी।

अबुल कलाम आज़ाद द्वारा प्रकाशित साप्ताहिक पत्रिका अल-हिलाल का आवरण पृष्ठ

मज़हरूल हक

प्रथम महायुद्ध के दौरान राष्ट्रीय आंदोलन

यूरोप के साम्राज्यवादी देशों के दो विरोधी गुटों के बीच की शत्रुता के कारण 1914 में एक युद्ध शुरू हुआ जो 1918 ई. तक चला। यह तब तक का दुनिया का सबसे बड़ा युद्ध था। इसलिए इसे प्रथम महायुद्ध कहते हैं। ब्रिटेन ने, अपने पहले के युद्धों की तरह, प्रथम महायुद्ध में भी भारतीय साधनों और सिपाहियों का इस्तेमाल किया, यद्यपि अंग्रेज़ों के हितों का भारतीय जनता के हितों से कोई संबंध नहीं था।

तुम पढ़ चुके हो कि युद्ध के दौरान क्रांतिकारियों की गतिविधियां क्या रहीं। अन्य भारतीय नेताओं ने भी राष्ट्रीय प्रचार की अपनी गतिविधियां तेज़ कर दीं। भारत में स्वशासन की स्थापना की मांग होने लगी। यह "होम रूल" के आंदोलन के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीमती ऐनी बेसेंट और तिलक के नेतृत्व में होम रूल लीगों की स्थापना हुई। ऐनी बेसेंट 1893 ई. में भारत आई थी और थियोसोफिकल सोसायटी की नेता बनी थी। तिलक 1914 ई. में बर्मा के निर्वासित जीवन से छूट कर

1916 ई. में होम रूल लीग की एक बैठक में और नेताओं के साथ श्रीमती एनी बेसेंट

आए थे और पुनः कांग्रेस में शामिल हो गए थे। होम रूल के आंदोलन में शामिल होने वाले अन्य प्रमुख नेता चित्तरंजन दास और मोतीलाल नेहरू थे। सरकार ने दमन का सहारा लिया। श्रीमती ऐनी बेसेंट को उनके दो सहयोगियों सहित नज़रबंदी में रखा गया। तिलक और विपिनचंद्र पाल के पंजाब जाने पर रोक लगा दी गई। मुहम्मद अली तथा उनके भाई शौकत अली, अबुल कलाम आज़ाद और हसरत मोहानी को पहले ही नज़रबंद कर दिया था। इन्हें महायुद्ध समाप्त होने के बाद ही रिहा किया गया। पंजाब और बंगाल में दमन की कार्रवाइयां ज़्यादा तीव्र थीं।

इस दौरान की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी 1916 ई. का लखनऊ समझौता। इस समझौते पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग, दोनों ने हस्ताक्षर किए। जल्दी से स्वराज मिले, यह मांग उठाने के लिए दोनों संगठन एकजुट हुए। इस समझौते में कांग्रेस ने विधान परिषदों में मुसलमानों के पृथक प्रतिनिधित्व को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार मुस्लिम लीग का यह भय खत्म हुआ कि चुनावों से बनने वाली परिषदों में हिंदुओं का प्रभुत्व रहेगा और मुसलमानों के हितों की उपेक्षा होगी। एक सामूहिक उद्देश्य के लिए कांग्रेस और मुस्लिम लीग का एकजुट होना एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। कांग्रेस के सूरत अधिवेशन के नौ साल बाद अब कांग्रेस के गरम दल और नरम दल भी पुनः एकजुट हुए।

भारत-मंत्री एडविन मान्टेग्यू ने अगस्त 1917 ई. में ब्रिटिश पार्लियामेंट में घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार भारत में "उत्तरदायी सरकार" स्थापित करने के उद्देश्य से धीरे-धीरे "स्वशासित संस्थाओं" की स्थापना करना चाहती है। इस घोषणा से कई भारतीय नेताओं की उम्मीदें बढ़ गईं। भारतीय नेताओं ने ब्रिटेन के युद्ध-प्रयासों में भी मदद की। दिसंबर 1917 ई. में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। ऐनी बेसेंट को अध्यक्ष चुना गया। कांग्रेस की अध्यक्ष बनने वाली यह पहली महिला थी। इस अधिवेशन में 4000 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इनमें करीब 400 महिलाएं थीं। कांग्रेस ने मान्टेग्यू की घोषणा का स्वागत किया और सरकार से अपील की कि वह भारत में एक उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिए तुरंत एक कानून बनाए।

मान्टेग्यू की घोषणा ने जो आशाएं जगाई थीं वे जल्दी ही तिरोहित हो गईं। जुलाई 1918 ई. में मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट प्रकाशित हुई। मान्टेग्यू भारत-मंत्री और

चेम्सफोर्ड वायसराय था। इस रिपोर्ट में उन सुधारों का ज़िक्र था जिन्हें ब्रिटिश सरकार भारत में लागू करना चाहती थी। सैयद हसन इमाम की अध्यक्षता में बम्बई में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया। इसमें प्रस्तावित सुधारों को निराशाजनक और असंतोषप्रद बताया गया और दावा किया गया कि भारतीय जनता उत्तरदायी सरकार को चलाने में समर्थ है। कांग्रेस ने यह भी मांग की कि जिस कानून के ज़रिए सुधारों को लागू किया जाएगा उसमें ब्रिटिश नागरिकों की तरह भारतीय जनता के अधिकारों की घोषणा का भी समावेश होना चाहिए।

मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के प्रकाशन के बाद एक और रिपोर्ट प्रकाशित हुई। यह युद्ध के दौरान भारतीयों की सरकार विरोधी गतिविधियों की जांच करने के लिए स्थापित रौलट कमिशन की रिपोर्ट थी। इस रिपोर्ट ने दमन के नए तरीके सुझाए। इस रिपोर्ट पर आधारित कानून ने देश के राजनीतिक माहौल को एकदम बदल दिया। भारत की आज़ादी के संघर्ष के इतिहास में एक नए अध्याय का आरंभ हुआ।

गांधी का उदय

भारतीय जनता के आज़ादी के संघर्ष के इस नए दौर के महानतम नेता थे मोहनदास करमचंद गांधी। भारतीय राजनीति में उनका पदार्पण प्रथम महायुद्ध के दौरान हुआ। आधुनिक भारत के इस महानतम नेता ने भारतीय जनता के आज़ादी के संघर्ष का करीब 30 साल तक नेतृत्व किया। वे भारतीय जनता में महात्मा गांधी के नाम से लोकप्रिय हुए।

महात्मा गांधी का जन्म 1869 ई. में हुआ था। इंग्लैंड में अपना अध्ययन पूरा करने के बाद वे एक वकील के रूप में दक्षिण अफ्रीका गए। दक्षिण अफ्रीका में रहते हुए उन्होंने वहां के भारतीयों पर होने वाले गोरे शासकों के अत्याचारों के खिलाफ संघर्ष किया। उसी दौरान उन्होंने अत्याचारों के खिलाफ लड़ने का अपना तरीका विकसित किया। बाद में इस तरीके को भारतीय जनता ने आज़ादी के अपने संघर्ष के लिए अपनाया। इसे "सत्याग्रह" कहा जाता है। सत्याग्रह करने वाला व्यक्ति हर प्रकार के कष्ट तथा दंड भोगने और जेल जाने के लिए तैयार रहता है। अत्याचार के विरुद्ध यह बुनियादी तौर पर एक अहिंसात्मक तरीका था।

गांधीजी 1915 ई. में भारत लौटे और दमन के खिलाफ संघर्ष करने में जुट गए। उन्होंने अपने एक आरंभिक संघर्ष की शुरुआत चंपारण (बिहार) में की। वे वहां गरीब किसानों को निलहों के अत्याचारों

1915 ई. में भारत आगमन पर गाँधी जी की शोभायात्रा

से मुक्त करने के लिए लड़े। वे 1917 ई. में चंपारण गए। वहां उन्हें चंपारण छोड़े जाने का आदेश दिया गया, मगर गांधीजी ने उसको नहीं माना। उन्होंने निलहों के अत्याचारों की जांच के लिए और उनका अंत करने के लिए सरकार को मजबूर कर दिया। बाद में 1918 ई. में उन्होंने अहमदाबाद के कपड़ा मिल मज़दूरों का और गुजरात के खेड़ा स्थान के किसानों का नेतृत्व किया। अहमदाबाद के मिल-मज़दूर वेतन में वृद्धि की मांग कर रहे थे और खेड़ा के किसान, फ़सल बरबाद हो जाने के कारण, राजस्व वसूली रोक देने की मांग कर रहे थे।

चित्र में राजेन्द्र प्रसाद (बाँए बैठे हुए) और अनुग्रह नारा सिन्हा (दाँए बैठे हुए)। वे गाँधीजी द्वारा चलाए गए चंपा संघर्ष में सम्मिलित हुए थे।

महायुद्ध की समाप्ति के बाद गांधीजी भारतीय जनता के सर्वमान्य नेता हो गए। महायुद्ध के बाद का काल, जैसा कि तुम आगे पढ़ोगे, अभूतपूर्व जन-आंदोलन का काल था। लाखों लोग आज़ादी की लड़ाई में कूद पड़े। गांधीजी ने जनता में निर्भयता की भावना पैदा की और जेल, लाठी तथा गोली सहित हर प्रकार के दमन को सहने की इच्छा-शक्ति उसमें भरी। उनके नेतृत्व में लोगों ने कानूनों की खुलेआम अवहेलना की, कचहरियों तथा दफ्तरों का बहिष्कार किया, करों की अदायगी नहीं की, शांतिपूर्ण प्रदर्शन किए, कारोबार ठप्प कर दिया और विदेशी माल बेचने वाली दुकानों के सामने धरना दिया। तुम्हें याद होगा कि इनमें से कुछ तरीके बंगाल के विभाजन के विरुद्ध अपनाए गए थे। परंतु गांधीजी के नेतृत्व में ये तरीके बड़े पैमाने पर अपनाए गए और इस नए संघर्ष में समाज के विभिन्न समुदायों के लाखों लोग शामिल हुए। राष्ट्रीय आंदोलन में किसानों तथा अन्य ग़रीब लोगों के शामिल हो जाने से यह सही अर्थ में एक जन-आंदोलन बन गया।

नंदलाल बोस द्वारा बनाया हुआ गाँधीजी का रेखाचित्र

गांधीजी द्वारा शुरू किए गए समाज सुधार के कार्यों और अन्य रचनात्मक गतिविधियों ने भी राष्ट्रीय आंदोलन को जन-आंदोलन का स्वरूप प्रदान करने में योगदान दिया। उन्होंने अस्पृश्यता की अमानवीय प्रथा के खिलाफ लड़ाई शुरू कर दी। तुम जानते हो कि उन दिनों लाखों भारतीय अपमान का निकृष्ट जीवन जी रहे थे, क्योंकि उच्च जातियों के लोग उन्हें "अछूत" समझते थे। यह गांधी जी का एक महान योगदान है कि उन्होंने इस बुराई को मिटाने कि लिए संघर्ष किया। उनके लिए तथाकथित अछूत "हरिजन" थे। उनके आश्रमों में वे तथा उनके अनुयायी पाखाना साफ करने जैसे कई ऐसे काम करते थे जिन्हें उच्च जाति के हिंदू अछूतों का काम समझते थे।

गांधीजी ने गांवों के लोगों की हालत सुधारने के भी प्रयत्न किए। उनका मत था कि जब तक गांवों में रहने वाली करीब 80 प्रतिशत जनता की हालत नहीं सुधरती, तब तक भारत प्रगति नहीं कर सकता। उन्होंने गांवों में छोटे उद्योग स्थापित करने के प्रयास किए। उन्होंने खादी का प्रचार किया। हर कांग्रेसी के लिए खादी पहनना अनिवार्य हो गया। चरखा ग्रामोद्योग के महत्त्व का प्रतीक बन गया और बाद में यह कांग्रेस के झंडे का भी अंग बन गया।

गांधीजी उन सभी चीज़ों के खिलाफ थे जो आदमी को आदमी से अलग करती है। उन्होंने विश्वबंधुत्व का प्रचार किया। वे हिंदू-मुसलमान एकता के कट्टर समर्थक थे और तुम जानते हो कि अंत में वे इसी के लिए शहीद भी हो गए।

युद्ध के बाद ब्रिटिश नीति

युद्ध के दौरान ब्रिटेन और उसके मित्रदेशों ने कहा था कि वे राष्ट्रों की आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं। अनेक भारतीय नेताओं का विश्वास था कि लड़ाई खत्म होने पर भारत को स्वराज्य मिल जाएगा। मगर भारतीय जनता की मांगें मानने का ब्रिटिश सरकार का कोई इरादा नहीं था।

मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के अंतर्गत 1919 ई. में भारत सरकार ने एक कानून बनाकर शासन-पद्धति में कुछ परिवर्तन किए। इन परिवर्तनों के अनुसार केंद्रीय विधान मंडल के दो सदन बनाए गए—विधान परिषद् और राज्य सभा। इन दोनों सदनों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत था। मगर इन दोनों केंद्रीय सदनों के अधिकारों में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य, जो मंत्रियों की तरह थे, विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। अर्थात्, विधान मंडल के सदस्य बहुमत से उनका समर्थन करें या न करें, वे अधिकार में बने रहते थे। प्रांतीय विधान मंडलों का भी विस्तार किया गया और अब उनमें निर्वाचित सदस्यों का बहुमत था। प्रांतों में चलाई गई दोहरी सरकार की व्यवस्था के अंतर्गत उन्हें व्यापक अधिकार दिए गए।

इस व्यवस्था के अंतर्गत शिक्षा और जनस्वास्थ्य जैसे कुछ विभाग ऐसे मंत्रियों को सौंपे गए जो विधान परिषदों के प्रति उत्तरदायी थे। वित्त और पुलिस जैसे ज़्यादा महत्त्व के विभाग सीधे गवर्नर के नियंत्रण में रहे। गवर्नर मंत्री के किसी भी निर्णय को अस्वीकार कर सकता था। इस प्रकार, मंत्री और विधान परिषदों के अधिकार सीमित थे। उदाहरण के लिए, शिक्षा-मंत्रि यदि शिक्षा के विस्तार से संबंधित कोई योजना लागू करना चाहता, तो

उसके लिए धन गवर्नर की स्वीकृति से ही मिलता था। गर्वनर उस पूरी योजना को ही अस्वीकृत कर सकता था। इसके अलावा, गवर्नर-जनरल प्रांत के किसी भी निर्णय को अस्वीकार कर सकता था। जो मतदाता केंद्रीय विधान मंडल के दोनों सदनों तथा प्रांतीय परिषदों के सदस्यों का चुनाव करते थे उनकी संख्या बहुत सीमित थी। उदाहरणार्थ, केंद्रीय विधान परिषद् के सदस्यों को चुनने के लिए जिन कुल लोगों को मतदान का अधिकार दिया गया था। उनकी संख्या ब्रिटिश शासन के अंतर्गत आने वाली देश की वयस्क जनसंख्या का करीब एक प्रतिशत ही थी। सभी महत्त्वपूण अधिकार गवर्नर-जनरल और उसकी कार्यकारिणी परिषद् के हाथों में थे और वे अपने को ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी मानते थे, न कि भारतीय जनता के प्रति। प्रांतों में, जैसा कि तुम जानते हो, गवर्नरों को व्यापक अधिकार प्राप्त थे।

युद्ध की समाप्ति के बाद लोगों ने स्वराज प्राप्ति की जो उम्मीद की थी वह उपर्युक्त परिवर्तनों से निराशा में बदल गई। सारे देश में व्यापक असंतोष फैल गया। इस असंतोष के दौरान ही सरकार ने दमन के नए तरीके अपनाए। 1919 ई. में रौलेट एक्ट बना। यह रौलेट कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर

मुहम्मद अली जिन्ना

बना था। परिषद् ने इसका विरोध किया था। कई नेताओं ने, जो परिषद् के सदस्य थे, इसके विरोध में इस्तीफ़े दे दिए। मुहम्मद अली जिन्ना ने अपने इस्तीफ़े में कहा था: "जो सरकार शांतिकाल में ऐसे कानून को स्वीकार करती है वह अपने को एक सभ्य सरकार कहलाने का अधिकार खो बैठती है।" इस कानून के जरिए सरकार को किसी भी व्यक्ति को बिना मुकद्दमा [illegible] जेल में डाल देने का अधिकार मिल गया। इस

MASS UPHEAVAL AGAINST BLACK ACTS

OF CITIZENS OF DELHI.

NATIONAL HUMILIATION DA

AUTHORITIES STILL PANICKY

AHMEDABAD CROWDS FIRED ON.

SEVEN PERSONS SERIOUSLY INJURED.

DELHI AGAIN IN MOURNING.

BLACK SUNDAY

UNPARALLELED DEMONSTRATIONS.

BOMBAY IN MOURNING

BUSINESS EVERYWHERE AT STANDSTILL.

UNIQUE HINDU-MOSLEM FRATERNISATION.

MR. GANDHI ARRESTED!

ORDER NOT TO ENTER THE PUNJAB OR DELHI

TAKEN TO UNKNOWN DESTINATION!

HIS MESSAGE TO HIS COUNTRYMEN.

अप्रैल 1919 ई. के शुरू में काला कानून के विरोध के बारे में समाचारपत्रों के शीर्षक

एक्ट के बनने के कारण लोगों का रोष बढ़ गया। दमन के नए तरीकों को काले कानूनों का नाम दिया गया। गांधीजी पहले ही सत्याग्रह सभा की स्थापना कर चुके थे। अब उन्होंने देशव्यापी विरोध करने को कहा। सारे देश में 6 अप्रैल, 1919 का दिन 'राष्ट्रीय अपमान दिवस' के रूप में मनाया गया। देशभर में प्रदर्शन और हड़तालें हुईं। सारे देश में व्यापार ठप्प पड़ गया। भारत की जनता ने एकजुट होकर ऐसा व्यापक

6अप्रैल 1919 को बंबई में एक मस्जिद में भाषण करने के बाद नीचे उतरते हुए गाँधीजी। साथ में हैं उमर सुभानी।

विरोध पहले कभी नहीं किया था। सरकार ने बर्बरतापूर्वक दमन शुरू किया। कई जगहों पर लाठी-गोली का सहारा लिया गया।

जलियाँवाला बाग हत्याकांड

दमन के इसी दौर में अमृतसर में सामूहिक हत्या की एक नृशंस घटना हुई। 10 अप्रैल, 1919 को दो राष्ट्रवादी नेता- सत्यपाल और डा. सैफुद्दीन किचलू- गिरफ्तार कर लिए गए। अमृतसर में जलियाँवाला बाग नाम का एक छोटा-सा पार्क है। यह पार्क तीन ओर ऊंची दीवारों से घिरा है। एक छोटी गली से पार्क में जाने का रास्ता है। वहां 13 अप्रैल को उन दो नेताओं की गिरफ्तारी पर विरोध प्रकट करने के लिए जनता इकट्ठी हुई। सभा शांतिपूर्ण थी। सभा में काफ़ी संख्या में वृद्ध पुरुष, स्त्रियां और बच्चे भी थे। तभी अचानक ब्रिटिश अफ़सर जनरल डायर अपने सैनिकों को लेकर पार्क में पहुंचा। जनता को तितर-बितर होने की चेतावनी दिए बिना ही उसने अपने सैनिकों को गोली चलाने का आदेश दिया। सैनिकों ने 10 मिनट तक निहत्थे लोगों पर गोलियां चलाईं और जब गोलियां खत्म हो गईं तो वे वहां से चले गए।

डा. सैफुद्दीन किचलू

डा. सत्यपाल
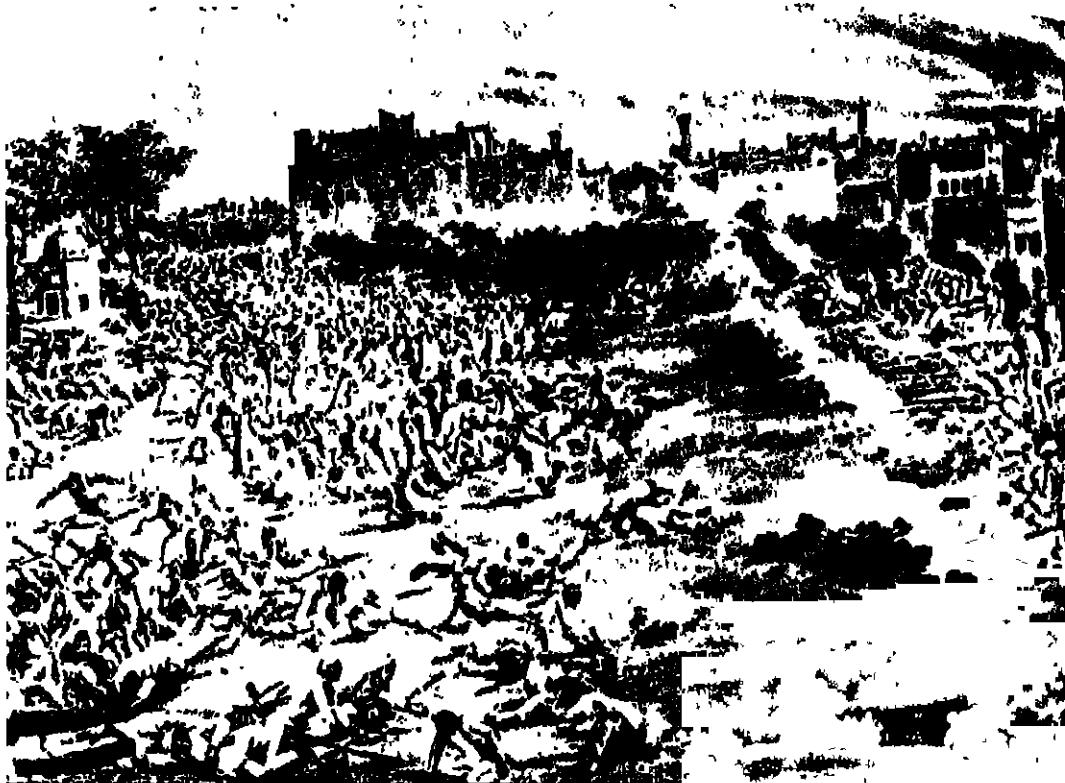
जलियाँवाला बाग हत्याकांड का एक चित्र

कांग्रेस के अनुमान के अनुसार उन दस मिनटों में करीब एक हज़ार आदमी मर गए और करीब 2000 जखमी हुए। जलियाँवाला बाग की दीवारों पर गोलियों के निशान आज भी देखे जा सकते हैं। जलियांवाला बाग अब एक राष्ट्रीय स्मारक है।

यह हत्याकांड जानबूझ कर किया गया था। डायर ने शान के साथ कहा था कि लोगों को सबक सिखाने के लिए यह सब किया था और उसने निश्चय कर लिया था कि यदि सभा चालू रहती है तो वह सब की हत्या कर डालेगा। उसे कोई पश्चाताप नहीं हुआ। वह इंग्लैंड चला गया। वहां कुछ अंग्रेज़ों ने उसका सम्मान करने के लिए पैसे इकट्ठे किए। मगर अन्य अंग्रेज़ों को इस नृशंस हत्याकांड से बड़ा धक्का लगा। उन्होंने जांच की मांग की। एक ब्रिटिश अखबार ने इसे 'आधुनिक इतिहास का एक नृशंस हत्याकांड' कहा। करीब 21 साल बाद, 13 मार्च, 1940 को एक भारतीय क्रांतिकारी उधम सिंह ने गोली मारकर माइकेल ओडायर की हत्या कर दी। जलियाँवाला हत्याकांड

के समय माइकेल ओडायर पंजाब का लेफ्टिनेंट-गवर्नर था।

जलियाँवाला बाग हत्याकांड से भारतीय जनता का गुस्सा बढ़ गया। सरकार के दमन में भी वृद्धि हुई। पंजाब में लोगों को सड़कों पर रेंगने के लिए मजबूर किया गया। उन्हें खुले पिंजरों में रखा गया और कोड़े लगाए गए। अख़बार बंद कर दिए गए और उनके संपादकों को जेल में डाल दिया या निर्वासित कर दिया। दमन का ऐसा भयंकर दौर चला जैसा कि 1857 ई. के विद्रोह को कुचल देने के बाद चला था। अंग्रेज़ों ने रवींद्रनाथ ठाकुर को 'सर' की पदवी दी थी। वह उन्होंने लौटा दी। वायसराय को भेज अपने पत्र में उन्होंने लिखा : "समय आ गया है जब सम्मान की पदवियां हमारी शर्म को अपमान के बेतुके संदर्भ में और अधिक उभारती हैं। अपनी सभी विशेषताओं को त्यागकर मैं अपने उन देशवासियों के साथ खड़ा रहना चाहता हूं जो अपनी तथाकथित महत्त्वहीनता के कारण ऐसी अप्रतिष्ठा झेल रहे हैं जिसे मानवीय नहीं कहा जा सकता।" इस हत्याकांड के बाद आज़ादी के संघर्ष के इतिहास में एक नया मोड़ आया। अगस्त 1919 में अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इसमें लोग, किसान भी, बड़ी संख्या में शामिल हुए। स्पष्ट था कि ब्रिटिश सरकार के अत्याचारों ने आग में घी डालने का काम किया था। आज़ादी के लिए और दमन के ख़िलाफ लड़ने के लिए लोगों के कमर कस ली।

ख़िलाफत और असहयोग आंदोलन

ब्रिटिश शासन के ख़िलाफ बढ़ता हुआ रोष ख़िलाफत और असहयोग आंदोलन के रूप में व्यक्त हुआ। प्रथम महायुद्ध में तुर्की ने ब्रिटेन के विरुद्ध लड़ाई लड़ी थी। युद्ध के बाद पराजित तुर्की को ब्रिटेन के अत्याचारों का शिकार होना पडा। इन अन्यायों के विरुद्ध 1919 ई. में मुहम्मद

हसरत मोहानी

अली तथा शौकत अली (जो अली बंधुओं के नाम से प्रसिद्ध थे), अबुल कलाम आज़ाद, हसरत मोहानी और दूसरों के नेतृत्व में आंदोलन चलाया गया। युद्ध के दौरान इन सभी नेताओं को बंदी बनाया गया था और युद्ध के बाद छोड़ दिया गया था। इस आंदोलन को चलाने के लिए जो खिलाफत कमेटी बनी थी उनमें गांधीजी भी शामिल हो गए। तुर्की के सुलतान को खलीफा (मुसलमानों का धार्मिक नेता) भी माना जाता था। इसलिए तुर्की के प्रति हो रहे अन्याय के खिलाफ जो आंदोलन चलाया गया, उसे 'खिलाफत आंदोलन' का नाम दिया गया। इस आंदोलन ने असहयोग का नारा दिया। खिलाफत का यह आंदोलन जल्दी ही पंजाब में दमन के विरोध में और स्वराज के लिए चल रहे अंदोलन में मिल गया।

सन् 1920 ई. में कांग्रेस ने प्रथम कलकत्ता के अपने विशिष्ट अधिवेशन में और फिर नागपुर में 1920 ई. के अंत में आयोजित अपने नियमित अधिवेशन में, गांधीजी के नेतृत्व में, सरकार के खिलाफ संघर्ष की एक नई योजना स्वीकार की। नागपुर अधिवेशन में करीब 15,000 प्रतिनिधि शामिल हुए। इस अधिवेशन में कांग्रेस के संविधान में संशोधन किया गया। "सभी न्यायोचित और शांतिमय साधनों से भारतीय जनता द्वारा स्वराज प्राप्त करना" कांग्रेस के संविधान की प्रथम धारा बन गई। इन साधनों को

मुहम्मद-अली (बाएँ), भारतीय कृष्ण तीर्थजी, शारदा पीठ के शंकराचार्य (मध्य), शौकत अली (दाएँ) और सैफ़ुद्दीन किचलू (जमीन पर बैठे हुए) जिन पर 1921 ई. में कराची में मुकदमा चलाया गया।

ब्रिटिश अत्याचार की निन्दा करने वाले अपने लेखों के लिए बाम्बे क्रानिकल समाचारपत्र के संपादक बी. जी. हार्नीमैन को भारत छोड़ने का आदेश दिया गया।

'असहयोग आंदोलन' का नाम दिया गया। इस आंदोलन का लक्ष्य था पंजाब तथा तुर्की के साथ हो रहे अन्याय को खत्म करना और स्वराज प्राप्त करना। इस आंदोलन में अपनाए गए तरीकों के कारण ही इसे असहयोग आंदोलन का नाम दिया गया। इसे स्तरों में चलाया गया। इसकी शुरुआत ब्रिटिश सरकार द्वारा दी गई "सर" जैसी पदवियों को त्यागने के साथ हुई। सुब्रह्मण्यम अय्यर और रवींद्रनाथ ठाकुर इस दिशा में पहले ही पहल कर चुके थे। गांधीजी ने 1920 ई. में अपना 'कैसर-ए-हिंद' पदक लौटा दिया। कईयों ने उनका अनुकरण किया। भारतीय लोग अब ब्रिटिश सरकार से पदवियां प्राप्त करना सम्मान की बात नहीं समझते थे। इसके बाद विधान परिषदों का बहिष्कार शुरू हुआ। जब परिषदों के लिए चुनाव हुए तो अधिकांश लोगों ने वोट डालने से इन्कार कर दिया। हजारों विद्यार्थियों और अध्यापकों ने स्कूल-कालेज छोड़ दिए। राष्ट्रवादियों ने दिल्ली में जामिया मिलिया और वाराणसी में काशी विद्यापीठ जैसी नई शिक्षण संस्थाएं स्थापित कीं। लोगों ने अपनी सरकारी नौकरियां छोड़ दीं। वकीलों ने अदालतों का बहिष्कार किया। सारे देश में हड़तालें हुईं।

असहयोग आंदोलन काफी सफल रहा। गोली-बारी और गिरफ़्तारियां उसकी लहर को नहीं रोक सकीं। 1921 ई. का साल खत्म होने के पहले ही 30,000 लोग जेलों में बंद हो गए। उनमें अधिकांश प्रमुख नेता शामिल थे। मगर गांधीजी जेल से बाहर थे। केरल के कुछ भागों में विद्रोह भड़क उठा। अधिकांश विद्रोही मोपला किसान थे। इसलिए इसे 'मोपला विद्रोह' कहते हैं। विद्रोह को बर्बरतापूर्वक कुचल दिया गया। 2000 से अधिक मोपला मारे गए और करीब 45,000 को बंदी बनाया गया। बर्बरतापूर्ण अत्याचारों का एक उदाहरण यह है कि जब मोपला कैदियों को रेल-वेगनों से ठूंसकर एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाया जा रहा था तो दम घुटने से 67 मोपलाओं की मृत्यु हुई।

सन् 1921 ई. में कांग्रेस का अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ। हकीम अजमल खाँ इसके अध्यक्ष थे। अधिवेशन ने आंदोलन को जारी रखने का निर्णय लिया और तब असहयोग आंदोलन का अंतिम दौर आरंभ हुआ। इसमें लोगों से कहा गया कि वे कर अदा न करें। गांधीजी ने गुजरात के बारदोली स्थान पर यह आंदोलन शुरू किया। आंदोलन का यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण

दौर था, क्योंकि जब जनता खुलेआम घोषणा करती है कि वह कर अदा नहीं करेगी तो वह कर अदा करने वाली सरकार को भी वैध नहीं मानती। उत्पीड़क सरकार के ख़िलाफ़ लड़ने का यह एक अत्यंत शक्तिशाली तरीका है। गांधीजी ने सदैव इस बात पर जोर दिया कि समूचा आंदोलन शांतिपूर्ण होना चाहिए। मगर लोग कभी-कभी अपने को काबू में नहीं रख पाते थे। फरवरी 1922 ई. में उत्तर प्रदेश के चौरी चौरा स्थान में लोग एक प्रदर्शन में भाग ले रहे थे तो, छेड़खानी की कोई बात न होने पर भी, पुलिस ने गोलियां चला दीं। गुस्से में आकर लोगों ने पुलिस स्टेशन को घेर लिया और उसे आग लगा दी। स्टेशन के भीतर के 22 पुलिस-कर्मियों की मृत्यु हो गई। गांधीजी की यह शर्त थी कि आंदोलन पूर्णतः शांतिमय होना चाहिए। चौरी-चौरा की घटना का समाचार सुनने पर गांधीजी ने आंदोलन वापस ले लिया। 10 मार्च, 1922 ई. को उन्हें गिरफ़्तार किया गया और छह साल की कैद की सज़ा सुनाई गई।

आंदोलन को वापस लेने के साथ राष्ट्रीय आंदोलन का एक और दौर ख़त्म हुआ। इस आंदोलन में देशभर के लोगों ने बड़े पैमाने पर भाग लिया। राष्ट्रीय आंदोलन अब केवल शिक्षित लोगों तक या नगरवासियों तक सीमित नहीं रह गया था। यह गांवों में भी फैल गया। स्वराज की मांग के लिए लोग सरकार के ख़िलाफ़ खुले मैदान में उतरे। इस आंदोलन ने हिंदू और मुसलमानों की एकता को भी मज़बूत बनाया। इस आंदोलन के दौरान का एक सर्वाधिक लोकप्रिय नारा था : 'हिंदू मुसलमान की जय'।

अभ्यास

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो:
   1. नरम दल और गरम दल में किन बातों को लेकर मतभेद थे।
   2. बंगाल के विभाजन के बारे में तुम क्या जानते हो? बंगाल का विभाजन कब और क्यों हुआ? भारत में राष्ट्रीयता के विकास पर उसका क्या प्रभाव पड़ा?

3. स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलनों का क्या मतलब है? इन आंदोलनों ने भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना कैसे जगाई?
4. मॉर्ले–मिंटो सुधार की क्या मुख्य विशेषताएँ थीं? राष्ट्रीय नेताओं ने क्यों उसकी निंदा की?
5. प्रथम महायुद्ध के दौरान राष्ट्रीय आंदोलन के विकास पर प्रकाश डालो।
6. स्वतंत्रता आंदोलनों के दौरान गांधी जी ने किन तरीकों को अपनाने के लिए कहा?
7. प्रथम महायुद्ध के तुरंत बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत में कौन–सी नीति अपनाई?
8. खिलाफत और असहयोग आंदोलनों के क्या लक्ष्य थे? उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कौन–से तरीके अपनाए गए?
9. क्रांतिकारियों के बारे में तुम क्या जानते हो? ब्रिटिश शासन के विरुद्ध उन्होंने कौन–से तरीके अपनाए?
10. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखो:
    क. लखनऊ समझौता
    ख. जालियाँवाला बाग हत्याकांड

2. नीचे कतिपय कथन दिए गए हैं। जो सही हों उनके आगे (√) और जो गलत हों उनके आगे (×) निशान लगाओ।

1. सन् 1905 ई. में बंगाल का विभाजन हिंदुओं और मुसलमानों के बीच फूट डालने के लिए किया गया।
2. स्वदेशी आंदोलन की शुरुआत गांधीजी ने सन् 1905 ई. में की।
3. सन् 1909 ई. के ऐक्ट से भारतीयों की आशाएँ पूरी हुई।
4. मुस्लिम लीग की स्थापना सन् 1906 ई. में हुई।
5. होम रूल लीगों की स्थापना प्रथम महायुद्ध के दौरान हुई।
6. पहली बार सन् 1910 ई. में कांग्रेस ने स्वराज को अपना लक्ष्य बनाया।

3. नीचे कालम "क" में कुछ घटनाएँ और आंदोलन तथा "ख" में उनसे संबद्ध व्यक्तियों के नाम दिए गए हैं। "ख" में व्यक्तियों के नामों को उस तरह रखो कि "क" में उल्लिखित घटनाओं और आंदोलनों से उनका सही संबंध स्थापित हो जाए।

"क"	"ख"
1. मुस्लिम लीग की स्थापना	1. महात्मा गांधी
2. खिलाफत आंदोलन	2. कर्जन
3. जलियाँवाला बाग हत्याकांड	3. दादा भाई नौरोजी
4. असहयोग आंदोलन	4. जनरल डायर
5. बंगाल का विभाजन	5. आगा खाँ
6. सन् 1906 ई. का कांग्रेस अधिवेशन	6. अली बंधु

4. करने को कार्य

1. भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन से संबद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण नेताओं के चित्र एकत्र कर अपने एल्बल में रखो।
2. एक काल-रेखा खींचकर सन् 1905 से 1922 ई. के बीच की स्वतंत्रता-आंदोलन की मुख्य घटनाएँ दिखाओ।
3. सन् 1905 से 1922 ई. तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्षों की सूची तैयार करो।
4. अपने शिक्षक की सहायता से गांधी जी के जीवन के संबंध में सूचनाएँ प्राप्त करो। उनके आधार पर एक लेख तैयार कर अपने सहपाठियों को सुनाओ।

अध्याय 11

राष्ट्रीय आंदोलन (1923 – 1939 ई.)

असहयोग आंदोलन को वापस लेने के बाद कुछ साल तक कोई देशव्यापी जन-आंदोलन नहीं हुआ। कुछ समय तक देश में व्यापक निराशा छायी रही। सांप्रदायिक दंगे हुए। असहयोग आंदोलन के पहले और इसके दौरान जो हिंदू-मुस्लिम एकता बनी थी वह टूटती नजर आने लगी। आज़ादी के आंदोलन को स्पष्टतः क्षति पहुंची थी। 1923 ई. में स्थापित स्वराज पार्टी ने और कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम ने आज़ादी के आंदोलन की भावना को जीवित रखा और इसके संदेश को सारे देश में फैलाया। इस बीच राष्ट्रीय आंदोलन के संघर्ष के उद्देश्यों को पहले की अपेक्षा अधिक प्रखर और स्पष्ट बनाया। जल्दी ही पहले से अधिक व्यापक स्तर पर देशव्यापी जन-आंदोलन पुनः शुरू हुआ।

स्वराज पार्टी और रचनात्मक कार्यक्रम

असहयोग आंदोलन को वापस लेने के बाद कांग्रेस दो दलों में बट गई। जब असहयोग आंदोलन शुरू हुआ था, तब विधान परिषदों का बहिष्कार करने का निर्णय लिया गया था। एक दल, जिसका नेतृत्व चित्तरंजन दास, मोतीलाल नेहरू और विठ्ठलभाई पटेल कर रहे थे, चाहता था कि कांग्रेस को चुनावों में भाग लेना चाहिए और परिषदों को उनके भीतर पहुंचकर तोड़ना चाहिए। दूसरा दल, जिसका नेतृत्व बल्लभभाई पटेल, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य और राजेंद्र प्रसाद कर रहे थे, इस प्रस्ताव का विरोधी था। वे चाहते थे कांग्रेस रचनात्मक कार्य में लगी रहे।

सन् 1922 ई. में कांग्रेस का अधिवेशन गया में हुआ। इसके अध्यक्ष चित्तरंजन दास थे। इस अधिवेशन ने परिषदों में न जाने के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इस प्रस्ताव के समर्थकों ने 1923 ई. में 'कांग्रेस खिलाफत स्वराज पार्टी' की स्थापना की। यह 'स्वराज पार्टी' के नाम से प्रसिद्ध हुई। अबुल कलाम आज़ाद की अध्यक्षता में दिल्ली में आयोजित विशेष अधिवेशन में कांग्रेस ने स्वराजियों को चुनाव लड़ने की अनुमति दे
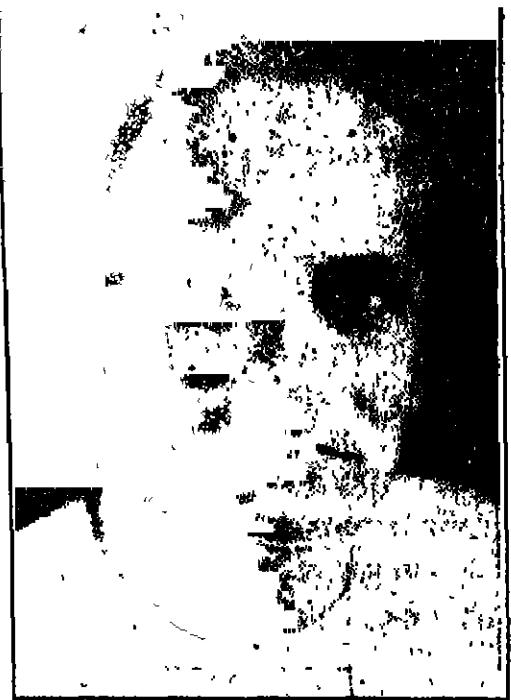
मोतीलाल नेहरू

दी। स्वराजियों ने केंद्रीय और प्रांतीय परिषदों में काफी संख्या में सीटें प्राप्त कीं। इस काल में व्यापक राजनीतिक गतिविधियां नहीं हुईं, मगर ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं को जीवित रखने में स्वराजियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन्होंने ब्रिटिश शासकों द्वारा प्रस्तुत उनकी नीतियों तथा प्रस्तावों के लिए परिषदों की सम्मति प्राप्त करना लगभग असंभव बना दिया।

उदाहरण के लिए, सरकार ने 1928 ई. में विधान परिषद् में एक ऐसा बिल पेश किया जिसके तहत वह भारत के आज़ादी के संघर्ष को समर्थन देने वाले किसी भी गैर-भारतीय को देश से निकाल सकती थी।

विठ्ठलभाई पटेल। बाईं ओर सुभाष चन्द्र बोस बैठे हैं।

वल्लभभाई पटेल

वह बिल पास नहीं हुआ। सरकार ने पुनः उस बिल को पेश करने की कोशिश की तो परिषद् के अध्यक्ष विठ्ठलभाई पटेल ने उसे पेश करने की अनुमति नहीं दी। परिषदों में होने वाली बहसों में भारतीय सदस्य अक्सर सरकार को पछाड़ देते थे और उसकी निंदा करते थे। इन बहसों के समाचार सारे देश में बड़े चाव से पढ़े जाते थे।

सन् 1930 ई. में पुनः राजनीतिक जन-संघर्ष शुरू हुआ, तो फिर से विधान परिषदों का बहिष्कार किया गया।

फरवरी 1924 ई. में गांधीजी जेल से छूटे और रचनात्मक कार्यक्रम, जिसे कांग्रेस के दोनों गुटों ने स्वीकार किया था, कांग्रेस की प्रमुख गतिविधि बन गया। रचनात्मक कार्यक्रम के सबसे प्रमुख घटक थे–खादी का प्रचार, हिंदू-मुस्लिम एकता को मज़बूत बनाना और अस्पृश्यता को दूर करना। किसी भी कांग्रेस कमेटी के सदस्य के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वह हाथों से काते तथा बुने गए खद्दर का ही इस्तेमाल करे और प्रति माह 2000 गज़ सूत काते। अखिल भारतीय खादी संगठन की स्थापना हुई। देश भर में खादी भंडार खोले गए। गांधीजी खादी को ग़रीबों को दरिद्रता से मुक्ति देने वाला और देश के आर्थिक उत्थान का साधन मानते थे। इसने लाखों लोगों को जीविका के साधन प्रदान किए। इससे आज़ादी के संघर्ष के संदेश को देश के हर हिस्से में, विशेषकर देहाती क्षेत्रों में, पहुंचाने में योग दिया। इसने देश की आम जनता को कांग्रेस के नजदीक पहुंचाया और आम आदमी का उद्धार करना कांग्रेस के कार्य का अनिवार्य अंग बना दिया। चरखा आज़ादी के आंदोलन का प्रतीक बन गया।

असहयोग आंदोलन को वापस लेने के बाद देश के कुछ भागों में सांप्रदायिक दंगे शुरू हुए थे। जनता की एकता को मज़बूत बनाने के लिए और आज़ादी के संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए सांप्रदायिकता के दानव के खिलाफ लड़ना आवश्यक था। गांधीजी का अस्पृश्यता-निवारण का कार्य भारतीय समाज की सबसे बड़ी बुराई को खत्म करने और भारतीय समाज के दलित व उत्पीड़ित वर्गों को आज़ादी के संघर्ष में खींचने के लिए आवश्यक था।

किसानों और मज़दूरों का आंदोलन

तुमने पहले पढ़ा है कि भारत में ब्रिटिश शासन स्थापित होने के बाद से देश के विभिन्न भगों के किसानों ने कई बार विद्रोह किए। आज़ादी के प्रथम वास्तविक

जन-आंदोलन-असहयोग आंदोलन-में किसानों ने बड़ी संख्या में भाग लिया। देश के विभिन्न भागों में किसान सभाएं बनीं और उन्होंने ज़मींदारों तथा ब्रिटिश अधिकारियों के दमन के खिलाफ लड़ाइयां लड़ीं। कई स्थानों में किसानों ने कर तथा लगान देने से इन्कार कर दिया। किसानों को संगठित करने वाले कुछ नेता थे-बाबा रामचंद्र, विजय सिंह पथिक, सहजानंद सरस्वती, और एन. जी. रंगा। अल्लूरि सीतारामराजू ने आंध्र के किसानों तथा आदिवासियों के विद्रोह का नेतृत्व किया। उन्हें पकड़ लिया गया और 1924 ई में मार दिया गया। असहयोग आंदोलन के दौरान के मोपला विद्रोह के बारे में तुम पहले ही पढ़ चुके हो। भारत में गांधीजी की कुछ आरंभिक गतिविधियां किसानों के संघर्ष से संबंधित थीं।

किसान आंदोलन के दो पहलू थे। दोनों का ही आज़ादी के राष्ट्रीय संघर्ष से संबंध था। एक पहलू था किसानों का आज़ादी के संघर्ष में शामिल होना। इसने संघर्ष को व्यापक जन-आधार प्रदान किया और इसे एक वास्तविक जन-आंदोलन बना दिया। दूसरा पहलू किसानों की शिकायतों से संबंधित था। जैसे, ज़मींदारों, सरकार तथा महाजनों द्वारा किसानों का शोषण, ऊंचें कर तथा लगान और उनका भूमिहीन होना। किसानों की इन कठिनाइयों को दूर करना आज़ादी के संघर्ष का एक प्रमुख अंग बन गया। किसानों की विशिष्ट मांगों के लिए किए गए संघर्षों में अनेक राष्ट्रीय नेताओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। 1928 ई. में बल्लभभाई पटेल ने भू-राजस्व में वृद्धि के खिलाफ बारदोली के किसानों के संघर्ष का नेतृत्व किया। यद्यपि देश के अनेक भागों में किसानों के संगठन स्थापित हुए थे, मगर किसानों का पहला अखिल भारतीय संगठन 1936 ई. में स्थापित 'ऑल इंडिया किसान सभा' था। इस संगठन ने किसानों की मांगों और आज़ादी के संघर्ष के बीच गहरे संबंध स्थापित किए।

औद्योगिक मज़दूर भारतीय समाज में एक नए वर्ग के रूप में उभरे थे। बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों से उन्होंने भी अपने को संगठित करना शुरू कर दिया था। आरंभिक दौर का एक प्रमुख मज़दूर संगठन था-1918 ई. में स्थापित 'मद्रास लेबर यूनियन'। बी. पी. वाडिया, थिरू वी. कल्याणसुंदरम् चक्कराई चेट्टियार इसके प्रमुख नेता थे। मज़दूरों के इस तरह के संगठन देश के अन्य प्रमुख नगरों में भी स्थापित हुए। भारत में ट्रेड यूनियन आंदोलन के एक अग्रणी नेता नारायण मल्हार जोशी थे। उन्होंने मज़दूरों के पहले अखिल भारतीय संगठन 'ऑल-इंडिया ट्रेड

यूनियन कांग्रेस' की स्थापना में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस संगठन की स्थापना बम्बई में 1920 ई. में हुई थी। इसके प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष लाला लाजपत राय थे। किसानों के आंदोलन की तरह मज़दूरों का यह आंदोलन भी राष्ट्रीय आंदोलन के साथ गहराई से जुड़ा था। मज़दूरों के आंदोलन का प्रमुख लक्ष्य मज़दूरों के जीवन-स्तर को सुधारना था। चित्तरंजन दास, जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस-जैसे चोटी के अनेक नेता ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अध्यक्ष बने।

मज़दूरों और किसानों के आंदोलनों पर समाजवादी विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा था। भारत के समाजवादी आंदोलन के नेताओं ने मज़दूरों और किसानों को संगठित करने में अधिकाधिक महत्त्व की भूमिका अदा की है। आज़ादी के संघर्ष में शामिल होकर उन्होंने इसके सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों को बड़ी गहराई से प्रभावित किया।

समाजवादी विचारों का फैलाव

तुमनें प्रथम अध्याय में उन्नीसवीं सदी में यूरोप में समाजवादी विचारों तथा आंदोलन के उदय के बारे में और 1917 ई. की रूसी क्रांति के बारे में पढ़ा है। समाजवादी विचारों तथा उन पर आधारित आंदोलनों का लक्ष्य था पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा निर्मित असमानताओं को खत्म करना। समाजवादी आंदोलन अपने दृष्टिकोण में अंतर्राष्ट्रीयवादी थे, यानी वे सभी देशों के आम लोगों और मज़दूरों को भाई-भाई मानते थे और एक देश द्वारा दूसरे पर शासन करने के विरोधी थे। उन्होंने दुनिया के सभी भागों में सामाजिक व आर्थिक समानता स्थापित करने में प्रयत्नशील आंदोलनों को और साम्राज्यवादी शासन से मुक्ति पाने के लिए किए जा रहे संघर्षों को समर्थन दिया।

भारत की आज़ादी के कुछ नेता, विशेषकर भारत के बाहर सक्रिय क्रांतिकारी, यूरोप के समाजवादी आंदोलन के नेताओं के सम्पर्क में आए थे और समाजवादी विचारों से प्रभावित हुए थे। रूसी क्रांति ने रूस के सम्राट (ज़ार) के निरंकुश शासन को खत्म करके सोवियत संघ में समाज़वाद के निर्माण का कार्य शुरू कर दिया था। सोवियत संघ में रूस के अलावा रूसी सम्राटों द्वारा विजित कई अन्य प्रदेश शामिल हुए थे। रूसी क्रांति ने घोषणा की कि प्रत्येक देश को अपना लक्ष्य निर्धारित करने का अधिकार है। रूसी क्रांति ने आज़ादी के लिए संघर्ष कर रहे सभी लोगों को अपना समर्थन दिया। भारत के बाहर रह रहे क्रांतिकारी मानवेंद्रनाथ राय ने कई देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों द्वारा स्थापित कम्युनिस्ट इंटरनेशनल में कई साल तक सक्रिय काम

किया। समाजवादी विचारों तथा रूसी क्रांति से प्रभावित होकर भारत में समाजवादी विचारों का प्रचार करने के उद्देश्य से कई समाजवादी तथा कम्युनिस्ट समूहों की स्थापना हुई। इन समूहों के अधिकांश नेताओं ने असहयोग आंदोलन में भाग लिया था। इन समूहों के कुछ नेता थे-श्रीपाद अमृत डांगे, एम. सिंगारवेलू, शौकत उस्मानी और मुज़फ़्फ़र अहमद। इनमें से कुछ समूह एक-दूसरे के नजदीक आए और उन्होंने 1925 ई. में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की। मज़दूरों और किसानों को संगठित करने में कम्युनिस्टों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

समाजवादी विचारों और रूसी क्रांति का देश के तरुणों तथा राष्ट्रीय आंदोलन के तरुण नेताओं पर गहरा प्रभाव पड़ा। भारत में समाजवादी विचारों को लोकप्रिय बनाने वाले राष्ट्रीय आंदोलन के सबसे प्रमुख नेता जवाहरलाल नेहरू थे। उन्होंने बेहतर जीवन के लिए आज़ादी के आंदोलन को मेहनतकश जनता के संघर्ष के साथ जोड़ने की आवश्यकता पर बल दिया। जवाहरलाल के प्रभाव में 1934 ई. में 'कांग्रेस समाजवादी पार्टी' की स्थापना हुई। इस पार्टी ने कांग्रेस के साथ जुड़कर काम किया। इसने किसानों तथा मज़दूरों को संगठित करने में और आज़ादी के संघर्ष के सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यों से संबंधित कांग्रेस की नीतियों को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

किसानों तथा मज़दूरों के आंदोलन के उदय का और देश में समाजवादी विचारों की बढ़ती लोकप्रियता का आज़ादी के संघर्ष पर गहरा प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव आज़ादी के संघर्ष के अगले दौर में अधिकाधिक स्पष्ट होता गया।

क्रांतिकारी आंदोलन

बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में क्रांतिकारी दलों की जो गतिविधियां रहीं उनके बारे में तुम पढ़ चुके हो। प्रथम महायुद्ध के बाद कुछ साल तक क्रांतिकारियों की गतिविधियां शिथिल रहीं। असहयोग आंदोलन के दौरान लाखों लोगों ने, हिंसा को अपनाए बिना, सरकार का खुलेआम विरोध किया था। इसलिए हर एक को यह स्पष्ट हो गया था कि व्यक्ति-विशेष के खिलाफ हिंसा की कार्रवाइयां करना निरर्थक है। असहयोग आंदोलन को वापस लेने से जो निराशा फैली थी उससे 1920 ई. के दशक में क्रांतिकारी गतिविधियां पुनः शुरू हुईं। सचिन सान्याल, जोगेश चटर्जी तथा दूसरों ने मिलकर 'हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' नामक एक संगठन स्थापित किया। इसका उद्देश्य था ब्रिटिश

शासन को उखाड़ फेकने के लिए एक सशस्त्र विद्रोह का संगठन करना। 1925 ई. में क्रांतिकारियों के एक दल ने हरदोई से लखनऊ जा रही एक रेल को काकोरी स्थान पर रोका और एक बक्से में बंद सरकारी खजाने को लूट लिया। क्रांतिकारी गतिविधियों के लिए पैसा जुटाने के उद्देश्य से यह काम किया गया था। इस घटना के बाद कई क्रांतिकारियों को पकड़ा गया और काकोरी षड्यंत्र केस के अंतर्गत उन पर मुकद्दमा चलाया गया। उनमें से चार-रामप्रसाद बिस्मिल, अशफ़ाकउल्ला खाँ, रोशन सिंह और राजेंद्र लाहिरी-को मृत्युदंड सुनाकर फांसी दी गई। दूसरों को लंबे कारावास की सजाएं दी गईं। चंद्रशेखर आज़ाद भी हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन के सदस्य थे, मगर वे पकड़े नहीं गए। उन्होंने दूसरे क्रांतिकारियों के साथ मिलकर 1928 ई. में 'हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी' की स्थापना में योग दिया। इस संगठन के प्रमुख नेता भगत सिंह थे। दिसंबर, 1928 ई. में पुलिस अफसर सौंडर्स की हत्या कर दी गई। पुलिस द्वारा पीटे जाने के कारण लाला लाजपत राय की मृत्यु हुई थी। सौंडर्स को उस घटना के लिए जिम्मेदार समझा गया था। सबसे नाटकीय घटना 8 अप्रैल 1929 ई. को केंद्रीय विधान सभा में घटित हुई। भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने केंद्रीय विधान सभा में दो बम फेंके। नए दमनकारी कानूनों का और कुछ समय पहले मार्च में की गई 31 मज़दूर नेताओं की गिरफ्तारी का विरोध प्रकट करने के लिए उन्होंने यह कार्य किया था। स्पष्ट था कि केवल विरोध प्रकट करने के लिए ही बम फेंके गए थे, न कि किसी की हत्या करने के लिए। भगत सिंह और दत्त ने भागने की कोशिश नहीं की। वे वहीं पर खड़े रहे और 'इन्कलाब जिंदाबाद' का नारा लगाते रहे। वे गिरफ्तार कर लिए गए। बाद में इस दल के अधिकांश क्रांतिकारियों को भी पकड़ लिया गया। जेल में उनके साथ बुरा सलूक किया गया, तो विरोध में उन्होंने भूख-हड़ताल शुरू की।

भगत सिंह जेल में

भूख-हड़ताल के 64वें दिन एक क्रांतिकारी, जतीन दास, की मृत्यु हो गई तो सारे देश को बड़ा सदमा पहुंचा। मुकद्दमे के दौरान क्रांतिकारियों ने बड़े साहस का परिचय दिया और वे आख्यान-पुरुष बन गए। भगत सिंह के साहस का सारे देश में विशेष गौरव हुआ। तीन क्रांतिकारियों-भगतसिंह, राजगुरू और सुखदेव-को फांसी की सजा दी गई। शेष क्रांतिकारियों में से सात को आजीवन कारावास की सजा दी गई। देशभर के लोगों के विरोध के बावजूद भगत सिंह, राजगुरू और सुखदेव को 23 मार्च, 1931 ई. को फांसी दे दी गई। फांसी के समाचार से जनता को बड़ा धक्का लगा। सारे देश में हड़तालें हुई, जुलूस निकाले गए और शोक-सभाएं हुईं। चंद्रशेखर आज़ाद पुनः भाग निकलने में सफल हुए। मगर इलाहाबाद में पुलिस के साथ हुई एक भिडंत में उनकी मृत्यु हो गई।

क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास की एक सबसे महत्त्वपूर्ण घटना 1930 ई. में बंगाल में घटित हुई। 18 अप्रैल 1930 ई. को इंडियन रिपब्लिकन आर्मी के क्रांतिकारियों ने सूर्य सेन के नेतृत्व में चटगांव के पुलिस शस्त्रागार पर हमला किया। कुछ समय तक चटगांव में ब्रिटिश शासन नहीं चला। उसके तुरंत बाद दूसरे स्थानों पर भी क्रांतिकारी हिंसा की घटनाएं घटीं। पंजाब में हरिकिशन ने पंजाब के गवर्नर की हत्या की कोशिश की। दिसंबर 1930 ई. में तीन जवानों-बिनय बोस, बादल गुप्ता और दिनेश गुप्ता-ने कलकत्ता की राइटर्स बिल्डिंग में प्रवेश करके जेलों के पुलिस अधीक्षक की हत्या कर दी। इंडियन रिपब्लिकन आर्मी के जो अधिकांश नेता ब्रिटिश फ़ौज से लड़ने के बाद भाग निकले थे उन्हें बाद में गिरफ्तार कर लिया गया। उनमें से दो-सूर्य सेन और तारकेश्वर दस्तीदार-को मृत्युदंड दिया गया। इंडियन रिपब्लिकन आर्मी की गतिविधियों में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाली दो तरुण लड़कियां थीं-प्रीतिलता वाडेदार और कल्पना दत्त' अंग्रेज़ों के हाथों में न पड़े, इसलिए प्रीतिलता ने ज़हर खा लिया। कल्पना दत्त को आजीवन कारावास की सज़ा दी गई।

सन् 1920 ई. के दशक के आरंभ में जो क्रांतिकारी गतिविधियां फिर से शुरू हुई थीं वे देश के विभिन्न भागों में कुछ सालों तक जारी रहीं। इस बीच क्रांतिकारी महसूस करने लगे कि हिंसात्मक घटनाओं से कोई लाभ नहीं होगा। उनमें से अधिकांश समाजवादी विचारधारा की ओर आकर्षित हुए। भगत सिंह और उनके साथियों ने देश में समाजवादी क्रांति लाने के लिए

किसानों और मज़दूरों को संगठित करने पर जोर दिया। विभिन्न जेलों में, अंदमान के सेलुलर जेल में भी, बंद क्रांतिकारियों को जब रिहा कर दिया गया, तो उनमें से अधिकांश ने किसानों और मज़दूरों के संगठन बनाए। उनमें से अनेक कांग्रेस तथा कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हुए और उन्होंने देश के आज़ादी के जन-संघर्ष में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करना शुरू कर दिया।

यद्यपि राष्ट्रीय आंदोलन के अधिकांश नेता क्रांतिकारियों के तरीकों के विरोधी थे और अधिकांश लोगों ने संघर्ष का अहिंसात्मक तरीका अपनाया था, परंतु लोगों के लिए क्रांतिकारी प्रेरणा के सतत स्रोत बने रहे।

जब जन-संघर्ष शिथिल पड़ गया था, तब क्रांतिकारियों की गतिविधियों ने देश में लड़ाकू वातावरण पैदा करने में मदद दी। उन्होंने देश को संघर्ष के अगले दौर के लिए तैयार करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

नए नेताओं का उदय

वर्तमान सदी के तीसरे दशक में तरुण नेताओं के एक नए समूह का उदय हुआ जिसने राष्ट्रीय आंदोलन में

जवाहर लाल नेहरू और सुभाष चंद्र बोस कलकत्ते की एक सभा में भाग लेने के लिए जाते हुए

अधिकाधिक महत्त्व की भूमिका अदा की। इन तरुण नेताओं ने जनता को संगठित करने पर ज़ोर दिया। उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के उद्देश्यों को स्पष्ट करने में योग दिया। जैसा कि तुमने देखा है, आरंभिक वर्षों में राष्ट्रीय आंदोलन मुख्यतः शिक्षित लोगों और मध्य वर्गों तक ही सीमित रहा। इसके उद्देश्य, जैसे कि भारतीयों के लिए उच्च सेवाओं में और सरकार में पद प्राप्त करना, वस्तुतः मध्य वर्ग के उद्देश्य थे। मगर नए नेताओं ने इस बात पर बल दिया कि केवल जनता ही सर्वोच्च सत्ता है और राष्ट्रीय आंदोलन को आम जनता की आकांक्षाओं के साथ जोड़ने पर ही यह सफल हो सकता है। उन्होंने ज़ोर देकर कहा कि भारत के दारिद्र्य और पिछड़ेपन को दूर करने के लिए आज़ादी

हासिल करना आवश्यक है। उनके अनुसार राष्ट्रीय आंदोलन का उद्देश्य था भारतीय समाज की पुनर्रचना करना—दारिद्र्य और पिछड़ेपन को खत्म करना और समानता तथा न्याय पर आधारित समाज की स्थापना करना। इसके लिए सबसे पहले आज़ादी प्राप्त करना आवश्यक है। और केवल जनता के अपने संघर्ष से ही आज़ादी मिल सकती है। इन नए नेताओं ने देश के जवानों को बड़ा प्रभावित किया।

समाजवादी विचारों के प्रभाव की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। राष्ट्रीय आंदोलन के तरुण नेताओं पर समाजवादी विचारों तथा रूसी क्रांति का गहरा प्रभाव पड़ा था। सोवियत संघ की साम्राज्यवाद-विरोधी विदेश नीति ने और रूसी क्रांति के बाद सोवियत संघ के एशियाई भागों ने की प्रगति ने उन्हें बड़ा प्रभावित किया था। नए नेताओं ने समाजवादी विचारों को लोकप्रिय बनाने में मदद की और समानता पर आधारित समाज की स्थापना को राष्ट्रीय आंदोलन का लक्ष्य बनाकर इसे मज़बूती प्रदान की।

नए नेताओं में सबसे प्रमुख थे जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस। जवाहरलाल नेहरू मोतीलाल नेहरू के बेटे थे। मोतीलाल नेहरू कांग्रेस के एक प्रमुख नेता थे। जवाहरलाल का जन्म 1889 ई. में हुआ था और उन्होंने इंग्लैंड में शिक्षा प्राप्त की थी। भारत लौटने पर वे गांधीजी के सम्पर्क में आए, उनसे प्रभावित हुए और आज़ादी के संघर्ष में शामिल हो गए। असहयोग आंदोलन के दौरान उन्हें जेल की सज़ा हुई। उत्तर प्रदेश के देहातों की अपनी यात्राओं के दौरान वे किसानों के सम्पर्क में आए और उन्होंने उनके कष्टों को देखा। बेहतर जीवन के लिए आम लोगों की आकांक्षाओं के वे हिमायती बन गए। उनकी दृष्टि में जनता की स्थिति में सुधार के लिए किया जाने वाला संघर्ष आज़ादी के लिए किए जाने वाले संघर्ष से पृथक नहीं था। वे एक ऐसे पहले राष्ट्रीय नेता थे जिन्होंने भारतीय राजाओं द्वारा शासित राज्यों की जनता के कष्टों को महसूस किया। इनमें से अधिकांश राज्यों में हालात शेष देश के हालात से बदतर थे। नाभा राज्य में अकाली सिक्खों द्वारा भ्रष्ट महंतों के खिलाफ शुरू किए गए संघर्ष को जब जवाहरलाल नेहरू देखने गए तो वहां उन्हें जेल में डाल दिया गया। राष्ट्रीय आंदोलन अंग्रेज़ों द्वारा सीधे शासित प्रदेशों तक सीमित था। जवाहरलाल नेहरू ने राजाओं द्वारा शासित राज्यों में शुरू हुए जनता के संघर्ष को आज़ादी के राष्ट्रीय

आंदोलन का अंग बनाने में मदद दी। गांधीजी के बाद जवाहरलाल नेहरू भारतीय जनता के आज़ादी के संघर्ष के सबसे बड़े नेता बन गए।

सुभाषचंद्र बोस का जन्म कटक में 1897 ई. में हुआ था। उनके पिता वकील थे और उन्हें 'राय बहादुर' की पदवी दी गई थी जो उन्होंने बाद में लौटा दी थी। कटक और कलकत्ता में पढ़ाई पूरी करने के बाद माता-पिता के आग्रह पर सुभाष आगे की पढ़ाई के लिए इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा की तैयारी करने के लिए इंग्लैंड गए। 1920 ई. में वे इंडियन सिविल सर्विस में चुने गए। सफल विद्यार्थियों में उन्होंने चौथा स्थान प्राप्त किया था। जलियाँवाला बाग हत्याकांड ने उन्हें बड़ा सदमा पहुंचाया था। अप्रैल 1921 ई. में उन्होंने इंडियन सिविल सर्विस से इस्तीफा दे दिया और वे भारत लौट आए। लौटने के तुरंत बाद वे राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पड़े। उन्होंने असहयोग आदोलन में भाग लिया और वे चित्तरंजन दास के निकट सम्पर्क में आए। 1924 ई. में उन पर क्रांतिकारियों की मदद करने का आरोप लगाया गया और तीन साल जेल में रखा गया। देश के विद्यार्थियों और जवानों को संगठित करने में और उन्हें आज़ादी के संघर्ष में लाने में सुभाषचंद्र बोस ने बड़े महत्त्व की भूमिका अदा की। वे राष्ट्रीय आंदोलन के एक बहुत बड़े नेता थे और नेताजी के नाम से लोकप्रिय हुए।

जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस राष्ट्रीय आंदोलन के एक नए समूह के नेता थे। वे ब्रिटिश शासन के खिलाफ संघर्ष को अधिक तीव्र बनाना चाहते थे। वे स्वराज के नारे से संतुष्ट नहीं थे। स्वराज का मतलब था साम्राज्य के अंतर्गत स्वशासन प्राप्त करना। अत: यह पूर्ण आज़ादी नहीं थी। उन्होंने ज़ोर देकर कहा कि राष्ट्रीय आंदोलन का उद्देश्य पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना होना चाहिए और आम जनता के सक्रिय सहयोग से ही इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। उनके प्रभाव के अंतर्गत राष्ट्रीय आंदोलन अधिकाधिक लड़ाकू बनता गया।

साइमन कमीशन

सन् 1922 ई. के बाद राष्ट्रीय आंदोलन में जो एक प्रकार की नीरवता आ गई थी वह सन् 1927 ई. में टूट गई। उस साल ब्रिटिश सरकार ने 1919 ई. के इंडिया एक्ट के कामकाज की जांच करने के लिए एक कमीशन (आयोग) की नियुक्ति की। उस कमीशन के अध्यक्ष

सर जोन साइमन थे, इसलिए वह 'साइमन कमीशन' के नाम से जाना जाता है। इस कमीशन की नियुक्ति से भारतीय जनता को बड़ा गहरा धक्का लगा। कमीशन के सभी सदस्य अंग्रेज़ थे। उसमें एक भी भारतीय को शामिल नहीं किया गया था। सरकार ने स्वराज की मांग स्वीकार करने के बारे में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। कमीशन के गठन के भारतीय जनता की आशंका की पुष्टि कर दी थी।

कमीशन की नियुक्ति से सारे देश में विरोध की लहर फैल गई। 1927 ई. में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन मद्रास में हुआ। अधिवेशन ने कमीशन का बहिस्कार करने का निर्णय लिया। मुस्लिम लीग ने भी कमीशन का बहिष्कार करने का फैसला किया।

कमीशन 3 फरवरी 1928 ई. को भारत पहुंचा। उस दिन सारे देश में हड़ताल हुई। उस दिन दोपहर को कमीशन की निंदा करने और कमीशन के बहिष्कार की घोषणा करने के लिए सारे देश में सभाएं हुईं। मद्रास में प्रदर्शनकारियों पर गोलियां चलायी गईं और अन्य अनेक स्थानों पर लाठी-चार्ज हुआ। कमीशन जहां भी गया, वहां उसके ख़िलाफ जबरदस्त प्रदर्शन हुए और हड़तालें हुईं। केन्द्रीय

मद्रास में साइमन कमीशन के विरोध में एक प्रदर्शन

विधान सभा ने बहुमत से फैसला किया कि वह कमीशन को कोई सहयोग नहीं देगी। सारे देश में "साइमन वापस जाओ" का नारा गूँज उठा। पुलिस ने दमन शुरू कर दिया। हज़ारों लोग पीटे गए। प्रदर्शनों के उसी दौर में पंजाब-केसरी लाला लाजपत राय की पुलिस ने बेरहमी से पिटाई की। पुलिस की मार से ज़ख्मी होने के बाद उनकी मृत्यु हो गई। लखनऊ में, अन्य प्रदर्शनकारियों के साथ, जवाहरलाल नेहरू और गोविंद वल्लभ पंत को भी पुलिस की लाठियां खानी पड़ीं। लाठियों की मार से गोविंद वल्लभ पंत अपंग हो गए।

साइमन कमीशन के ख़िलाफ किए गए आंदोलन ने पुन: एक बार भारतीय जनता की एकता को और आज़ादी हासिल करने के उसके संकल्प को व्यक्त किया। भारतीय जनता ने अब एक बड़े संघर्ष के लिए अपने को तैयार किया।

चित्र में साइमन कमीशन के विरोध में प्रदर्शन के दौरान लाला लाजपत राय पर पुलिस द्वारा लाठी बरसाते हुए दिखाया गया है।

डा. एम. ए. अंसारी की अध्यक्षता में मद्रास में आयोजित कांग्रेस के अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास करके घोषणा की गई थी कि भारतीय जनता का लक्ष्य पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना है। यह प्रस्ताव जवाहरलाल नेहरू ने पेश किया था और एस. सत्यमूर्ति ने इसका अनमोदन किया था। इस बीच पूर्ण स्वराज की मांग को तेज करने के लिए 'इंडियन इंडिपेंडेंस लीग' नामक एक संगठन की स्थापना की गई थी। ज़वाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस, श्रीनिवास अय्यगार, सत्यमूर्ति और शरतचंद्र बोस जैसे कई नेता इस लीग का नेतृत्व कर रहे थे। दिसंबर 1928 ई. में मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। इस अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस और दूसरे कई नेताओं ने पूर्ण स्वाधीनता की मांग करने के लिए कांग्रेस पर जोर डाला। मगर कांग्रेस ने स्वतंत्र उपनिवेश (डोमिनियन) के स्वरूप की सरकार की मांग का प्रस्ताव पास किया। इसका मतलब था पूर्ण स्वाधीनता से कम की मांग। परंतु कांग्रेस ने यह घोषणा भी की कि यदि एक साल के अंदर स्वतंत्र

उपनिवेश का शासन नहीं दिया जाएगा तो वह पूर्ण स्वाधीनता की मांग करेगी और इसे प्राप्त करने के लिए जन-आंदोलन शुरू कर देगी। इंडियन इंडिपेंडेंस लीग 1929 ई. में पूरे साल भर पूर्ण स्वाधीनता के लिए जनमत बनाने में जुटी रही। कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होने तक देश भर की जनता का रुख बदल गया था।

पूर्ण स्वाधीनता की मांग

जब 1929 ई. में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन लाहौर में हुआ, तो देश में नया वातावरण था। जवाहरलाल नेहरू अधिवेशन के अध्यक्ष थे। यह कांग्रेस के ऊपर उन नए नेताओं के प्रभाव का सबूत था जो ब्रिटिश शासन के खिलाफ अधिक जोरदार संघर्ष की मांग कर रहे थे।

कांग्रेस के पूर्ण स्वराज के प्रस्ताव के बारे में एक समाचार पत्र का शीर्षक

VOL. I. NO. 2 LAHORE, THURSDAY, JANUARY 2, 193

CONGRESS VOTES FOR COMPLETE INDEPENDENCE.

COUNCILS WILL BE BOYCOTTED.

Gandhiji's Resolution Carried.

AMENDMENTS DEFEATED.

L. LAJPAT RAI'S STATUE.

LIBERAL FEDERATION.

NEW YEAR AT LAJPAT RAI NAGAR.

Independence Flag Unfurled.

ROUND TABLE CONFERENCE.

Dominion Status For India.

स्वतंत्र उपनिवेश के स्वरूप की सरकार देने के लिए दिया गया एक साल का समय समाप्त हो गया, तो गांधीजी द्वारा 31 दिसंबर, 1929 ई. को पेश किया गया एक प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। उस प्रस्ताव में घोषणा की गई कि कांग्रेस के संविधान की धारा 1 के 'स्वराज' शब्द का अर्थ होगा 'पूर्ण स्वाधीनता'। प्रस्ताव में कहा गया कि कोई भी कांग्रेसी और राष्ट्रवादी विधान सभाओं के चुनावों में भाग न लें और सभी विधान सभाओं की सदस्यता से इस्तीफा दे दें। पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए सविनय अवज्ञा आंदोलन चलाने का निर्णय किया गया। कांग्रेस ने हर साल 26 जनवरी का दिन सारे देश में 'स्वतंत्रता-दिवस' के रूप में मनाने का भी निर्णय लिया। 26 जनवरी, 1930 ई. का दिन सारे देश में स्वतंत्रता-दिवस के रूप में मनाया गया। उस दिन देश भर में आयोजित हज़ारों सभाओं में लोगों ने शपथ ली: "हमारी मान्यता है कि अन्य देशों की जनता की तरह ही भारतीय जनता का भी यह अहरणीय अधिकार है कि वह आज़ादी हासिल करे, अपने श्रम का सुख भोगे और जीवन की ज़रूरतों को प्राप्त करें, ताकि उसे विकास के पूरे अवसर उपलब्ध हो जाए। हमारी यह भी मान्यता है कि यदि कोई सरकार जनता के इन अधिकारों का हरण करती है और जनता का दमन करती है तो जनता को यह अधिकार है कि वह ऐसी सरकार को बदल दे या उसे समाप्त कर दे। भारत की ब्रिटिश सरकार ने, न केवल भारतीय जनता की आज़ादी छीन ली है, बल्कि उसने जनता का शोषण किया है और भारत को आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी कंगाल बना दिया है। इसलिए हमारी मान्यता है कि भारत को ब्रिटेन से संबंध तोड़कर पूर्ण आज़ादी हासिल करनी चाहिए।" घोषणा की गई कि ब्रिटिश शासन की गुलामी करते रहना 'मानवता और ईश्वर के प्रति अपराध' करना है। 26 जनवरी का दिन भारतीय जनता के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण दिन बन गया। जब तक भारत पर ब्रिटिश शासन कायम रहा, तब तक हर साल 26 जनवरी का दिन स्वाधीनता दिवस के रूप में मनाया जाता रहा। स्वाधीनता मिलने पर भारतीय जनता के प्रतिनिधियों ने देश का संविधान बनाया। 26 जनवरी के स्मरणीय दिन को 1950 ई. में भारत के गणतंत्र दिवस के रूप में चुन लिया गया और उसी दिन से भारत का नया संविधान भी लागू हो गया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन

सन् 1930 ई. में स्वाधीनता दिवस मनाने के बाद गांधीजी के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू हुआ। यह आंदोलन गांधीजी की प्रसिद्ध दांडी-यात्रा से शुरू हुआ। 12 मार्च, 1930 ई. को गांधीजी ने अहमदाबाद के अपने साबरमती आश्रम से, आश्रम के अन्य 78 सदस्यों के साथ, डांडी की ओर पैदल यात्रा शुरू की। डांडी अहमदाबाद से करीब 385 किलोमीटर दूर भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर है। गांधीजी और उनके साथी 6 अप्रैल, 1930 ई. को डांडी पहुँचे। गाँधीजी ने नमक कानून तोड़ा। चूंकि नमक के उत्पादन पर सरकार का एकाधिकार था, इसलिए किसी के लिए भी नमक बनाना ग़ैर-कानूनी था। समुद्र के पानी के वाष्पीकरण के बाद बने नमक को उठाकर गांधीजी ने सरकारी कानून को तोड़ा।

नमक कानून को तोड़ने के बाद सारे देश में सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू हुआ। सविनय अवज्ञा आंदोलन के पहले दौर में सारे देश में नमक कानून तोड़ने की घटनाएं

प्रसिद्ध डांडी मार्च के दौरान गाँधी जी अपने स्वयंसेवकों के साथ

INSURANCE

The Bombay Chronicle

INSURANCE

MAHATMA BREAKS SALT LAW.

His Son And Lieutenants Arrested.

MAHARASHTRA VOLUNTEERS BEGIN CAMPAIGN AT JUHU.

GANDHIJI'S APPEAL FOR NATION-WIDE MASS CIVIL DISOBEDIENCE

Rigorous Social Boycott Of Officials In Dandi

MAHATMA'S MESSAGE TO AMERICAN PEOPLE

Mere Sympathy Not Enough

SUPPORT INDIAN INDEPENDENCE

Non-Violence India's Message To The World

गाँधी जी द्वारा नमक कानून तोड़ने पर एक समाचार पत्र का शीर्षक

सी. राजगोपालाचारी वेदारण्यम् सत्याग्रह का नेतृत्व करते हुए

सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान पुणे में छोटे बच्चे जुलूस में जाने की तैयारी करते हुए

हुईं। नमक कानून तोड़ना सरकार के विरोध का प्रतीक बन गया। तमिलनाडु में च. राजगोपालाचार्य ने, डांडी-यात्रा की तरह, त्रिचनापल्ली से वेदराण्यम् तक की यात्रा की। धरसाणा (गुजरात) में सरोजिनी नायडू ने, जो एक प्रसिद्ध कवयित्री थी, कांग्रेस की एक प्रमुख नेता थी और कांग्रेस की अध्यक्ष बनीं थीं, नमक के सरकारी डिपो तक

26 जनवरी 1931 में कलकत्ता में स्वतंत्रता दिवस मनाते हुए प्रदर्शनकारियों पर पुलिस का हमला

अहिंसात्मक सत्याग्रहियों की यात्रा का नेतृत्व किया। पुलिस द्वारा किए गए बर्बर लाठी–चार्ज में 300 से ऊपर सत्याग्रही जख्मी हुए और दो की मृत्यु हुई। देश भर में प्रदर्शन हुए, हड़तालें हुईं, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार हुआ और बाद में लोगों ने कर देने से इन्कार कर दिया। लाखों लोगों ने, बड़ी तादाद में महिलाओं ने भी, आंदोलन में हिस्सा लिया।

सभी प्रमुख नेताओं को गिरफ़्तार किया गया और कांग्रेस पर प्रतिबंध लगाया गया। गोलीबारी और लाठी–चार्ज में सैंकड़ों लोग मारे गए। आंदोलन शुरू होने के एक साल के भीतर करीब 90,000 लोगों को जेल में बंद कर दिया गया। आंदोलन देश के सारे हिस्सों में फैल गया था। पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में आंदोलन का नेतृत्व खान अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ाँ ने किया। वे 'सरहदी गांधी' के नाम से मशहूर हुए। आंदोलन के दौरान उस प्रदेश में एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई। गढ़वाली सिपाहियों की दो पलटनों को पेशावर के प्रदर्शनकारियों पर गोलियां चलाने का हुकुम दिया गया, मगर उन्होंने उसे मानने से इंकार कर दिया। कुछ दिनों तक पेशावर शहर पर ब्रिटिश सत्ता नहीं रही। सोलापुर में गांधीजी की गिरफ़्तारी के खिलाफ विद्रोह हुआ और लोगों ने शहर में अपना शासन स्थापित किया। सूर्य सेन के नेतृत्व में चटगांव में और अन्य स्थानों में क्रांतिकारियों की जो गतिविधियां रहीं उनकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं।

नंदलाल बोस द्वारा अंकित खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ का रेखाचित्र

साइमन कमीशन द्वारा सुझाए गए सुधारों पर विचार करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने नवंबर 1930 ई. में लंदन में पहला गोलमेज़ सम्मेलन आयोजित किया। देश की आज़ादी के लिए लड़ रही कांग्रेस ने उस सम्मेलन का बहिष्कार किया, मगर भारतीय राजाओं, मुस्लिम लीग, हिंदू महासभा तथा कुछ अन्य संगठनों के प्रतिनिधि उसमें शामिल हुए। ब्रिटिश सरकार जानती थी कि कांग्रेस की सहमति के बिना भारत में संविधानात्मक फेर–बदल के बारे में फैसले किए जाते हैं तो वे भारत की जनता को स्वीकार नहीं

जनवरी 1931 मे इलाहाबाद में कांग्रेस की कार्यकारिणी सभा के सदस्य: आगे खड़े हैं, बाएँ से दाएँ, महादेव देसाई, डा. राजेन्द्र प्रसाद, शर्दूल सिंह कविशर, वल्लभभाई पटेल, डा. एम. ए. अन्सारी, जवाहरलाल नेहरू, मदन मोहन मालवीय, अबुल कलाम आज़ाद, जे. एम. सेनगुप्ता, पेरिन बेन कैप्टन और मनीबेन पटेल।

होंगे। वायसराय इरविन ने 1931 ई. के आरंभ में दूसरे गोलमेज़ सम्मेलन में शामिल होने के लिए कांग्रेस को राजी करने के प्रयास किए। गांधीजी और इरविन के बीच एक समझौता हुआ। सरकार ने उन सभी राजनीतिक कैदियों को रिहा करना स्वीकार कर लिया जिनके खिलाफ हिंसा के आरोप नहीं थे। कांग्रेस ने भी सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस लेना स्वीकार कर लिया। अनेक राष्ट्रीय नेता इस समझौते से संतुष्ट नहीं थे। मगर बल्लभभाई पटेल की अध्यक्षता में मार्च 1931 ई. में कराची में आयोजित कांग्रेस के अधिवेशन में समझौते को मान लेने और दूसरे गोलमेज़ सम्मेलन में सम्मिलित होने का निर्णय लिया गया। सम्मेलन के लिए गांधीजी को कांग्रेस का प्रतिनिधि चुना गया। सम्मेलन सितंबर 1931 ई. में हुआ।

कांग्रेस के कराची अधिवेशन में मौलिक अधिकारों और आर्थिक नीति के बारे में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकार किया गया। उसने देश की सामाजिक और आर्थिक

द्वितीय गोल मेज़ सम्मेलन के दौरान गांधीजी और अन्य प्रतिनिधिगण

समस्याओं के बारे में राष्ट्रीय आंदोलन की नीति निर्धारित की। प्रस्ताव में उन मौलिक अधिकारों का ज़िक्र था जिन्हें, जाति तथा धर्म के भेदभाव के बिना, जनता को प्रदान करने का वादा किया गया था। प्रस्ताव में कुछ उद्योगों के राष्ट्रीयकरण, भारतीय उद्योगों के विकास और मज़दूरों तथा किसानों के लिए कल्याणकारी योजनाओं को भी स्वीकार किया गया था। यह प्रस्ताव राष्ट्रीय आंदोलन पर समाजवादी विचारों के बढ़ते प्रभाव का परिचायक था।

गोलमेज़ सम्मेलन में भाग लेने वाले कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि गांधीजी थे। गांधीजी के अलावा अन्य भारतीयों ने भी सम्मेलन में भाग लिया। उनमें भारतीय राजे और हिंदू, मुस्लिम तथा सिक्ख संप्रदायों के नेता थे। राजाओं को प्रमुख रूप से अपना शासन टिकाए रखने में ही दिलचस्पी थी। सम्मेलन के लिए सांप्रदायिक नेताओं का चुनाव ब्रिटिश सरकार ने किया था। वे देश का नहीं, बल्कि अपने-अपने समुदायों का प्रतिनिधि होने का दावा करते थे, हालांकि

उनके अपने समुदायों में भी उनका प्रभाव सीमित था। कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में केवल गांधीजी ही सारे देश का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। भारत की आज़ादी में न तो राजाओं को दिलचस्पी थी, न ही सांप्रदायिक नेताओं की। इसलिए कोई समझौता नहीं हो सका, और दूसरा गोलमेज़ सम्मेलन असफल रहा। गांधीजी भारत लौटे और सविनय अवज्ञा आंदोलन पुन: शुरू कर दिया गया। सरकार का दमन-चक्र सम्मेलन के दौरान भी जारी था। अब उसमें अधिक वृद्धि हुई। गांधीजी और दूसरे नेता गिरफ़्तार हुए। आंदोलन को कुचलने के लिए सरकार द्वारा किए गए प्रयासों का अंदाजा इसी से लग जाता है कि करीब एक साल के भीतर 1,20,000 लोगों को जेल में बंद कर दिया गया। आंदोलन को 1934 ई. में वापस ले लिया गया। 1934 ई. में कांग्रेस ने एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया। मांग की गई कि वयस्क मताधिकार से जनता द्वारा चुनी गई विधान सभा को बुलाया जाए। इस प्रकार, इस बात पर बल दिया गया कि केवल जनता को ही अपनी पसंद की सरकार चुनने का अधिकार है।

कांग्रेस यद्यपि अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रही, मगर देश के इस दूसरे महान जन-आदोलन में बड़े पैमाने पर लोगों को खींचने में उसे सफ़लता मिली। उसने भारतीय समाज में बदलाव लाने के लिए पुरोगामी उद्देश्यों को भी स्वीकार किया।

देशी रियासतों के विरुद्ध आंदोलन

तुमने पहले पढ़ा है कि भारत में अंग्रेज़ों द्वारा शासित प्रदेशों (ब्रिटिश भारत) के अलावा भारतीय नवाबों-राजाओं द्वारा शासित रियासतें भी थीं। ये रियासतें पूर्णत: स्वतंत्र नहीं थीं। अंग्रेज़ों ने अपने शासन को मजबूत करने के लिए इन रियासतों को बनाए रखा था। इन रियासतों की संख्या करीब 562 थी और इनमें भारत की करीब पंचमांश आबादी बसी हुई थी। इनमें जम्मू व कश्मीर, मैसूर और हैदराबाद जैसे कुछ राज्य तत्कालीन यूरोप के कुछ राज्यों से भी बड़े थे, मगर कुछ अन्य राज्य चंद देहातों से अधिक बड़े नहीं थे। इनमें से अधिकांश राज्यों में जनता की दशा शेष देश की जनता की दशा से भी बदतर थी। ज़्यादातर राजा अपनी रियासतों को अपनी निजी सम्पत्ति समझते थे। ये राजा विलास का जीवन भोग रहे थे। शिक्षा के प्रसार या गरीबी दूर करने का या जनता का जीवन-स्तर सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। रियासतों की जनता को नहीं के बराबर नागरिक अधिकार मिले हुए थे। एक प्रकार से शासकों का मनमौजी व्यवहार

ही कानून था। इनमें से कई रियासतों में अभी भी कई अमानवीय प्रथाएं जारी थीं; जैसे, बेगारी की प्रथा, यानी बिना मज़दूरी दिए लोगों से काम करवाना। ब्रिटिश भारत में राष्ट्रीय आंदोलन का उदय हुआ, तो रियासतों के लोगों में भी जागृति आने लगी। वे जनतांत्रिक अधिकारों और जनतांत्रिक सरकार की मांग करने लगे। वे राज्यों के शासकों के भोग-विलास के जीवन की निंदा करने लगे।

बीसवीं सदी के तीसरे दशक के आरंभ से रियासतों के लोगों ने प्रशासन में सुधारों की मांग करने और शासकों के उत्पीड़न को ख़त्म करने के लिए अपने को संगठित करना शुरू किया। उन्होंने जनता के प्रति उत्तरदायी प्रतिनिधि सरकार की स्थापना करने की और निरंकुश शासन के स्थान पर कानूनी शासन कायम करने की मांग उठाई। लोगों के अधिकारों की लड़ाई लड़ने के लिए इन राज्यों में प्रजा मंडल जैसे संगठन स्थापित किए गए। आरंभिक प्रजा मंडल विजय सिंह पथिक, माणिक्यलाल वर्मा आदि के नेतृत्व में राजस्थान के रियासतों में स्थापित हुए। रियासतों की जनता के ये सभी संगठन 1927 ई. में एक अखिल भारतीय संगठन- आल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कांफ्रेंस-में एकीकृत हुए। बलवंत राय मेहता, जिन्होंने भावनगर (गुजरात) में प्रजा मंडल की स्थापना की थी, इस नए संगठन के सचिव बने। इस संगठन ने मांग की कि भारतीय रियासतों को भारतीय राष्ट्र का अंग माना जाना चाहिए। इस संगठन ने सारे देश की जनता को रियासतों की उत्पीड़क दशा का परिचय कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

एनि मेस्करेने

बीसवीं सदी के चौथे दशक में भारतीय रियासतों की जनता का आंदोलन काफी शक्तिशाली बना। इन आंदोलनों के कुछ प्रमुख नेता थे-राजस्थान में जयनारायण व्यास तथा जमनालाल बजाज, उडीसा में सारगधर दास, त्रावणकोर में एन्नी मस्करेने म'॥ पद्ममथानु पिल्लाई और जम्मू तथा कशमीर में शेख़ मुहम्मद अब्दुल्ला। हैदराबाद ें आंदोलन का नेतृत्व स्वामी रामानंद तीर्थ ने किया।

जम्मू कश्मीर के राष्ट्रीय सम्मेलन के नेतागण। शेख अब्दुल्ला बीच में बैठे हुए हैं।

राजाओं ने दहशत फैलाकर आंदोलनों को कुचलने के प्रयास किए। उदाहरण के लिए, पंजाब के प्रजा मंडल के एक प्रमुख नेता सेवा सिंह ठिक्रीवाला को पटियाला की जेल में डालकर यातनाएं दी गईं, जिससे उनकी मृत्यु हुई। राजा-महाराजाओं ने सविनय अवज्ञा आंदोलन को कुचलने में भी अंग्रेज़ों की मदद की। रियासतों के आंदोलनों को कुचलने के लिए अंग्रेज़ों ने राजा-महाराजाओं को मदद दी और कभी-कभी ब्रिटिश सेना भी भेजी। ब्रिटिश सरकार ने आज़ादी के आंदोलन

स्वामी रामानंद तीर्थ

को कमज़ोर करने के लिए भारतीय रियासतों का इस्तेमाल किया। गोलमेज़ सम्मेलनों के दौरान और ब्रिटिश सरकार के साथ किए जा रहे अन्य समझौतों के दौरान राजा - महाराजाओं ने उन कदमों का विरोध किया जो देश को आज़ादी दिलाने के मार्ग पर आगे बढ़ रहे थे। बाद में, जब देश आज़ादी प्राप्त करने की स्थिति में पहुँचा तो कई राजा - महाराजाओं ने दावा किया कि उनकी रियासतें स्वतंत्र हैं और उन्हें स्वतंत्र रहने का अधिकार है। वे यह सोचने में असमर्थ थे कि भारत एक देश है और भारत की जनता एक राष्ट्र की जनता है। ब्रिटिश शासकों की तरह राजाओं - नवाबों ने भी धर्म के आधार पर लोगों में फूट डालने के प्रयास किए। कभी - कभी उन्होंने उन आंदोलनों को सांप्रदायिक घोषित कर दिया जो उनके उत्पीड़न के खिलाफ थे, क्योंकि कुछ राज्यों में बहुसंख्यक लोगों का धर्म शासक के धर्म से भिन्न था।

कांग्रेस ने कई सालों तक रियासतों के मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाई, यद्यपि कई कांग्रेसियों ने रियासतों के आंदोलनों में भी भाग लिया था और कांग्रेस ने रियासतों की जनता की मांगों का समर्थन किया था। कांग्रेस ने रियासतों में अपनी शाखाएं खोलने की अनुमति भी नहीं दी थी। सुभाषचंद्र बोस की अध्यक्षता में 1938 ई. में आयोजित कांग्रेस के अधिवेशन में घोषणा की गई कि

1938 ई. में हरिपुरा में कांग्रेस अधिवेशन के पंडाल का एक दृश्य। सुभाषचंद्र बोस इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे।

1939 में लुधियाना में जवाहरलाल नेहरू एक जुलूस में ले जाए जाते हुए। वे लुधियाना में अखिल भारतीय प्रजा मंडल अधिवेशन की अध्यक्षता करने आए थे।

पूर्ण स्वराज का लक्ष्य रियासतों सहित समूचे देश के लिए है।

कांग्रेस ने घोषणा की कि वह रियासतों को भारतीय राष्ट्र के हिस्से मानती है और रियासतों की जनता को वही राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकार मिलेंगे जो कि शेष भारत की जनता को मिलेंगे। धीरे-धीरे राजाओं-नवाबों के खिलाफ शुरू हुआ संघर्ष राष्ट्रीय स्वाधीनता के बड़े संघर्ष का हिस्सा बन गया। 1930 के दशक के आते-आते रियासतों में राजाओं-नवाबों के कुशासन तथा उत्पीड़न के खिलाफ शुरू हुए आंदोलनों से आज़ादी के संघर्ष के नेताओं के संबंध बढ़ते गए। जवाहरलाल नेहरू को, जो कई सालों से रियासतों की जनता के संघर्ष को सहयोग दे रहे थे, 1939 में आल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कांफ्रेंस का अध्यक्ष चुना गया।

सांप्रदायिक दल और उनकी भूमिका

तुमने पहले पढ़ा है कि ब्रिटिश सरकार ने अपना शासन कायम रखने के लिए और राष्ट्रीय आंदोलन को कमज़ोर करने के लिए किस प्रकार भारतीय जनता में फूट डालने के प्रयास किए। जैसा कि तुमने देखा है, उनकी एक चाल थी सांप्रदायिकता का प्रोत्साहन देना। मुस्लिम लीग की स्थापना इसी तरह हुई थी। 1915 ई. में हिंदू महासभा की स्थापना हुई। सांप्रदायिकता का ज़हर 1920 ई. के बाद तेज़ी से फैलने लगा। हिंदुओं और मुसलमानों में धर्म-परिवर्तन के आंदोलन शुरू हुए। इन्होंने विभिन्न बिरादरियों में अक्सर तनाव पैदा किया। 1920 ई. के दशक में धर्म के नाम पर दंगे हुए और अनेक बेकसूर लोग मारे गए। सांप्रदायिक तनाव के फैलाव को रोकने के प्रयास हुए और एकता स्थापित करने के लिए कई सम्मेलन हुए। 1924 ई. में गांधीजी ने 21 दिन का अनशन करके शांति स्थापित करने

का प्रयास किया। मगर ये सभी प्रयास थोड़े समय के लिए ही सफल रहे। 1931 ई. में कानपुर में सांप्रदायिक दंगे हुए। राष्ट्रीय आंदोलन के एक प्रमुख नेता गणेश शंकर विद्यार्थी शांति स्थापित करने के लिए दंगाग्रस्त क्षेत्रों में गए। मगर उन दंगों के दौरान हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए वे शहीद हो गए। दोनों समुदायों के हमलावरों से हिंदुओं और मुसलमानों को बचाने के प्रयास में वे मारे गए।

सन् 1916 ई. से, कुछ साल तक मुस्लिम लीग और कांग्रेस ने मिलकर काम किया था। मुस्लिम लीग ने अपने अधिवेशन उसी स्थान और उसी समय करने शुरू किए जहां कांग्रेस के अधिवेशन होते थे। 1924 ई. में यह प्रथा बंद हो गई। उसी समय हिंदू महासभा भी सक्रिय हो गई। भ्रष्ट महंतों के ख़िलाफ चलाए गए अकालियों के आंदोलन के बारे में तुम पहले पढ़ चुके हो। सिक्खों के बीच में सांप्रदायिक नेताओं ने भी सांप्रदायिक मांगें उठानी शुरू कर दीं। मुसलमानों के लिए सांप्रदायिक निर्वाचन की जो प्रथा पहले शुरू की गई थी उसे 1932 ई. में सिक्खों पर भी लागू कर दिया गया।

धर्म पर आधारित संगठनों ने आज़ादी के संघर्ष में बड़ी हानिकारक भूमिका अदा की। इन संगठनों का दावा तो यह था कि वे अपने समुदायों का हित-साधन कर रहे हैं, मगर असल में उन्होंने ब्रिटिश शासकों को लाभ पहुँचाया। जिन दौरों में आजादी के संघर्ष में भाग लेने वाले हजारों लोग जेल में पहुँच गए थे, उस समय सांप्रदायिक संगठन अलग रहे। कभी-कभी उन्होंने ब्रिटिश सरकार से हाथ मिलाए और उसके साथ सहयोग किया। उदाहरण के लिए, साइमन कमीशन के ख़िलाफ आंदोलन के समय सांप्रदायिक दलों के कुछ नेताओं ने साइमन कमीशन का स्वागत किया। गोलमेज़ सम्मेलनों में ये निरर्थक बातों पर एक-दूसरे से झगड़ते रहे और ब्रिटिश सरकार से सौदेबाजी में उलझे रहे। भारत की आज़ादी के सवाल पर कोई समझौता न हो, इसके लिए ब्रिटिश सरकार ने इन दलों का इस्तेमाल किया। कांग्रेस की मान्यता थी कि भारत का संविधान इंग्लैंड में नहीं, बल्कि स्वयं भारतीय जनता द्वारा भारत में बनाया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय आंदोलन ने सभी भारतीयों की समानता के आधार पर भारतीय समाज के पुनर्निर्माण पर ज़ोर दिया मगर सांप्रदायिक दल सामाजिक सुधारों के भी ख़िलाफ थे। उनके मतानुसार सभी भरतीयों के हित समान नहीं थे। इसलिए आज़ादी के लिए लड़ने की बजाय उन्होंने अपने-अपने समुदायों के लिए ब्रिटिश सरकार से सुविधाएं प्राप्त करने में

अपनी ताकत लगाई। वे अपने समुदायों के उच्च वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करते थे, न कि आम जनता का। आम जनता की महत्त्वपूर्ण समस्याओं में जैसे, गरीबी को दूर करने में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी।

सांप्रदायिक दलों की गतिविधियों ने उस समय एक खतरनाक मोड़ लिया जब वे कहने लगे कि भारतीय जनता एक राष्ट्र नहीं है। उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया कि भारत में दो राष्ट्र हैं–एक हिंदुओं का और दूसरा मुसलमानों का। जबकि राष्ट्रीय आंदोलन ने देश को प्रगति के रास्ते पर आगे ले जाने के लिए जनता की समान आकांक्षाओं के आधार पर उसे एकजुट करने के प्रयास किए, सांप्रदायिक दलों ने भारतीय राष्ट्रीयता के सवाल पर ही प्रश्नचिन्ह लगा दिया। तुमने अपनी प्राचीन भारत और मध्यकालीन भारत की पुस्तकों में पढ़ा है कि भारतीय जनता ने सदियों के अपने इतिहास के दौर में एक समुन्नत मिली-जुली संस्कृति को जन्म दिया था। अपनी विविधता के कारण ही यह संस्कृति सम्पन्न थी। भारतीय राष्ट्र ऐसे लोगों से बना था जिनके अपने *अलग-अलग धर्म, अलग-अलग भाषाएं* और अलग-अलग रीति-रिवाज थे। सांस्कृतिक विविधता की यह सम्पन्नता भारतीय जनता के लिए गौरव का स्रोत रही है और इसे टिकाए रखना जरूरी था। राष्ट्रीय आंदोलन ने जनता को आपस में जोड़ने वाले बन्धनों को मज़बूत किया। मगर सांप्रदायिक दलों ने जनता में फूट डालने के प्रयास किए।

भारतीय जनता दो राष्ट्रों की होने का सिद्धांत पेश करने का मतलब था भारतीय जनता के समूचे इतिहास को नकारना। भारतीय जनता के लिए इसके घातक नतीजे निकले। मुस्लिम लीग धीरे-धीरे दो राष्ट्रों के सिद्धांत से जुड़ती गई। वह कहने लगी कि भारतीय आबादी में मुसलमान अल्पमत में हैं, इसलिए उनके हित सुरक्षित नहीं रहेंगे। मुहम्मद अली जिन्ना, जो बीसवीं सदी के आरंभिक सालों में एक राष्ट्रवादी नेता थे, बाद में मुस्लिम लीग के सबसे प्रमुख नेता बन गए। मुस्लिम लीग ने दावा किया कि वह मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि दल है। ब्रिटिश सरकार ने इस दावे को मान लिया और इस प्रकार मुस्लिम लीग को बढ़ावा दिया। जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के एक अलग राज्य के बारे में सोचना शुरू कर दिया। मार्च 1940 ई. में लाहौर में *आयोजित* अपने *अधिवेशन* में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के निर्माण की मांग उठाई। हिंदू महासभा ने घोषणा की कि भारत केवल एक हिंदू राष्ट्र है।

ज़्यादातर मुसलमानों ने पृथक राज्य की मांग का विरोध किया। आज़ादी के संघर्ष में, दूसरे समुदायों के लोगों की तरह, मुसलमानों ने भी भाग लिया था और ब्रिटिश सरकार के दमन को उन्होंने भी झेला था। वे कांग्रेस में बड़ी संख्या में थे। किसानों और मज़दूरों के संगठनों ने समान सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक लक्ष्यों के लिए सभी समुदायों के लोगों को एकजुट किया था। राष्ट्रीय आंदोलन के अनेक महान नेता मुसलमान थे। मुसलमानों के अधिकांश धार्मिक नेता भी मुस्लिम लीग और पृथक राज्य की मांग के विरोधी थे। उन्होंने पहचाना कि मुसलमानों का भविष्य अन्य भारतीयों के साथ जुड़ा हुआ है और तात्कालिक समस्या है विदेशी शासन को उखाड़ फेकना। मुसलमानों, हिंदुओं, सिक्खों, ईसाइयों तथा दूसरों के सामने एक-सी समस्याएं थीं–ग़रीबी, पिछड़ेपन तथा असमानता की समस्याएं। और, ये समस्याएं आज़ादी हासिल करके और राष्ट्र को एकजुट रखकर ही सुलझाई जा सकती थीं। 1930 ई. के दशक के अंत तक मुस्लिम लीग और हिंदुओं के सांप्रदायिक संगठनों का कोई ख़ास प्रभाव नहीं था। उदाहरण के लिए, पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में, जहां मुसलमान काफ़ी अधिक बहुमत में थे, मुस्लिम लीग अपना प्रभाव स्थापित करने में असफल रही।

मगर, बावजूद इसके कि बहुसंख्यक लोगों पर सांप्रदायिक दलों के प्रचार का प्रभाव नहीं पड़ा, सांप्रदायिक दलों को अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में सफलताएं मिलती गईं, विशेषकर 1930 ई. के दशक के अंत के बाद। सांप्रदायिक दलों द्वारा आयोजित सांप्रदायिक दंगों ने स्थिति को और अधिक बिगाड़ दिया। दो राष्ट्रों के सिद्धांत के और पृथक राज्य की मांग के बड़े घातक परिणाम निकले।

दलित वर्गों के आंदोलन

उन्नीसवीं सदी में उदित हुए सुधार आंदोलनों के बारे में तुम पढ़ चुके हो। इन सुधार आंदोलनों का एक प्रमुख उद्देश्य था हिंदुओं के बीच की तथाकथित निम्न जातियों का उद्धार करना। इन आंदोलनों ने तथाकथित निम्न जातियों के उत्पीड़न के प्रति लोगों को जागरूक करने में, विशेषकर अस्पृश्यता की शर्मनाक प्रथा के ख़िलाफ़, एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। तथाकथित अछूत जातियों के लोगों के मंदिर प्रवेश के लिए महाराष्ट्र, केरल और तमिलनाडु में कई अभियान आयोजित किए गए। इन अभियानों के कुछ नेता थे–ई.वी. रामास्वामी नायक्कर, के. केलप्पन और टी.के. माधवन। "पेरियार" के नाम से लोकप्रिय ई.वी. रामास्वामी नायक्कर

डा भीमराव अम्बेडकर

कांग्रेस के नेता जगजीवन राम जिन्होंने दलित वर्ग के लोगों को संगठित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई

ने बाद में 'आत्म-सम्मान आंदोलन' (सेल्फ़ रेस्पेक्ट मूवमेंट) शुरू किया। दलित वर्गों की जनता के भी कई संगठन स्थापित हुए। अपने अधिकारों के लिए लड़ने वाले दलित वर्गों के लोगों को संगठित करने में उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। दलित वर्गों के आंदोलनों क प्रमुख नेता डा. भीमराव अंबेडकर थे। दलित वर्गों के उद्धार और उत्थान के लिए उन्होंने कई ग्रंथ लिखे, पत्र-पत्रिकाएं निकालीं और संस्थाएं स्थापित कीं। उन्होंने गोल मेज़ सम्मेलनों म भाग लिया और दलित वर्गों के हितों की मांगें उठाईं।

तुमने पहले पढा है कि गांधीजी ने अस्पृश्यता की कुप्रथा को खत्म करने के काम को बड़ा महत्त्व दिया था। इसके लिए उन्होंने अस्पृश्यता विरोधी कई संगठन स्थापित किए थे। तथाकथित अस्पृश्यों को उन्होंने "हरिजन" नाम दिया था और इसी नाम की एक पत्रिका निकाली थी। 1932 ई. में ब्रिटिश सरकार ने तथाकथित अस्पृश्यों के लिए भी पृथक निर्वाचन की घोषणा कर दी। सरकार ने मुसलमानो और सिक्खों के लिए यह व्यवस्था पहले ही कर दी थी। राष्ट्रीय नेताओं ने सरकार की इस नई घोषणा का विरोध किया, क्योंकि उन्हें संदेह हुआ कि वह अंग्रेज़ों

की 'फूट डालो और राज करो' वाली नीति का ही एक भाग है। गांधीजी उस समय जेल में थे। उन्होंने जेल में ही इस निर्णय के विरुद्ध अनशन आरंभ कर दिया। उन्होंने कहा "मैं चाहता हूं कि अस्पृश्यता का जड़-मूल से उच्छेदन हो। इसीके लिए मेरा जीवन समर्पित है और इसके लिए जीवन त्यागने में भी मुझे प्रसन्नता होगी।" उनका मत था कि हरिजनों के लिए पृथक निर्वाचन की व्यवस्था करने से सुधारों के कार्य को हानि पहुंचेगी। अंत में एक समझौता हुआ जिसके तहत पृथक निर्वाचन के निर्णय को वापस ले लिया गया। उसी के साथ यह भी तय हुआ कि तथाकथित अस्पृश्य जातियों के लोगों के लिए पर्याप्त प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की जाएगी।

राष्ट्रीय आंदोलन और दलित वर्गों का संगठन भारतीय समाज के दलित समुदायों के उद्धार के लिए कार्य करते रहे। यह भी अधिकाधिक स्पष्ट होता गया कि दलित वर्गों का सामाजिक दमन उनकी आर्थिक ग़रीबी से जुड़ा हुआ है। अत: उन्हें सामाजिक दमन से मुक्ति दिलाने के लिए उनका आर्थिक उत्थान करना आवश्यक था। उनके कल्याण के लिए विशेष कदम उठाना भी आवश्यक समझा गया।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन और बाहरी दुनिया

तुमने पहले पढ़ा है कि राष्ट्रीय आंदोलन ने बाहर की दुनिया की घटनाओं और विचारों से प्रेरणा ग्रहण की थी। दूसरे कई देशों के, ब्रिटेन के भी, लोगों ने भारत की आज़ादी के लिए सहयोग दिया था। दूसरे देशों में भारतीयों ने स्थानीय लोगों की मदद से संगठन स्थापित किए। दादा भाई नौरोजी ने भारतीय जनता की मांगों के लिए प्रबुद्ध अंग्रेज़ों का समर्थन जुटाने के हेतु उन्नीसवीं सदी के अंतिम दौर में इंग्लैंड में एक संगठन स्थापित किया था। बाद में ब्रिटेन, संयुक्त राज्य
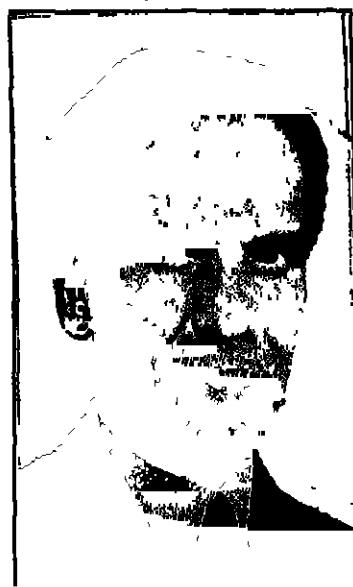
वी. के. कृष्णा मेनन

अमेरिका और अन्य देशों में 'इंडिया लीगों' की स्थापना हुई। ब्रिटेन की इंडिया लीग के साथ कई मज़दूर तथा समाजवादी नेता और विचारक संबंधित रहे। भारत की आज़ादी के लिए ब्रिटिश जनता का सहयोग प्राप्त करने में वी.के. कृष्ण मेनन ने प्रमुख भूमिका अदा की। उसी प्रकार, कई ट्रेड यूनियन और समाजवादी नेताओं ने भारत आकर मज़दूर संगठन और समाजवादी आंदोलन में मदद की।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि इसने किसी भी अन्य देश के, ब्रिटेन की जनता के भी, ख़िलाफ नफरत पैदा नहीं की। इसका महान श्रेय गांधीजी को है जिन्होंने प्रेम तथा विश्वबंधुत्व का प्रचार किया और घृणा पर आधारित कार्यों की निंदा की। भारतीय जनता यह भी जानती थी कि ब्रिटिश सरकार भारत में जो नीतियां चला रही हैं वे इंग्लैंड की आम जनता के भी हित में नहीं हैं। शासकों और जनता में फ़र्क करना उन्होंने सीख लिया था। वे शासकों के ख़िलाफ तो लड़ रहे थे, मगर ब्रिटेन की आम जनता के प्रति उनका कोई द्वेषभाव नहीं था। उलटे वे ब्रिटेन की जनता का भारत की आज़ादी के लिए सहयोग प्राप्त करने की कोशिश में लगे हुए थे। भारतीय जनता ने अपने संघर्ष को अन्य लोगों द्वारा स्वाधीनता, जनतंत्र और सामाजिक समानता के लिए किए जा रहे संघर्ष का एक हिस्सा समझा। इसलिए उन्होंने बाहरी दुनिया में घटित होने वाली घटनाओं में गहरी दिलचस्पी ली, विशेषकर अन्य देशों में स्वाधीनता के लिए किए जा रहे संघर्षों में और उत्पीड़न के ख़िलाफ तथा जनतंत्र के लिए किए जा रहे संघर्षों में। उन्होंने एक अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित किया।

भारतीय जनता में अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित करने में जवाहरलाल नेहरू ने प्रमुख भूमिका अदा की। दूसरे देशों में आज़ादी तथा जनतंत्र का मामला उन्हें उतना ही प्रिय था जितना कि भारत की आज़ादी का मामला। उन्होंने भारतीय जनता को दुनिया में हो रहे विकास से अवगत कराया और आज़ादी तथा जनतंत्र के लिए लड़ रही दूसरे देशों की जनता के साथ संबंध स्थापित किए। उन्होंने कहा था कि आज़ादी अविभाज्य है, अर्थात् किसी भी देश की आज़ादी तब तक सुरक्षित नहीं रह सकती, जब तक हरएक राष्ट्र आज़ाद न हो। उसी प्रकार, जनतंत्र और खुशहाली भी अविभाज्य है। उसी तरह शांति भी अविभाज्य है। राष्ट्रीय आंदोलन ने दूसरे लोगों के संघर्ष के साथ संबंध जोड़े। 1927 ई. में उत्पीड़ित कौमों की कांग्रेस ब्रसेल्स (बेल्जियम) में हुई। जवाहरलाल नेहरू ने उस कांग्रेस में

भाग लिया। लीग अगेंस्ट इंपीरियालिज्म (साम्राज्यवाद विरोधी संघ) नामक एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना हुई जिसने साम्राज्यवाद को सर्वत्र समाप्त करने के लिए प्रयास किए। अनेक विश्व विख्यात हस्तियां और कई देशों की आज़ादी के आंदोलनों के नेता लीग से जुड़ गए थे। इनमें अल्बर्ट आइंस्टाइन तथा ज्यूलियोक्यूरी जैसे वैज्ञानिक और मैक्सिम गोर्की तथा रोम्यां रोलां जैसे लेखक भी थे। भारतीय कांग्रेस भी इस लीग से जुड़ गई थी।

जापान अब एक साम्राज्यवादी शक्ति बन गया था। उसने 1931 ई. में चीन पर हमला किया। भारतीय राष्ट्रवादियों ने जापान के खिलाफ चीनी जनता का समर्थन किया। उन्होंने जापानी वस्तुओं का बहिष्कार करने को कहा। बाद में भारतीय चिकित्सकों का एक दल चीन गया और उसने वहां जनता के कष्ट निवारण के लिए काम किया। दल के एक सदस्य थे डा. डी. वी. कोटनिस, जिनकी चीन में ही मृत्यु हुई।

प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप के कुछ देशों में एक ऐसे हिंसात्मक आंदोलन का उदय हुआ जो खुले तौर पर जनतंत्र तथा मानव-समानता का विरोधी और युद्ध का पोषक था। इसे फ़ासिस्ट आंदोलन कहते हैं। इटली और जर्मनी में फ़ासिस्ट सरकारें बनीं। इन सरकारों ने अपनी ही जनता के खिलाफ आतंकवादी कार्रवाइयां की और जनता के मूलभूत अधिकार तक छीन लिए। उन्होंने दूसरी कौमों के खिलाफ घृणा फैलाई और कहा कि उन्हें उन पर शासन करने का अधिकार है। हिटलर जर्मनी में सत्तारूढ़ हुआ था। उसने यहूदियों का समूल विनाश शुरू कर दिया। अन्य देशों के खिलाफ युद्धों की योजना बनाने में जापान भी इटली और जर्मनी के साथ मिल गया। स्पेन के फ़ासिस्टों ने वहां की जनतांत्रिक सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इटली और जर्मनी ने स्पेन के फ़ासिस्टों को सक्रिय मदद दी। इससे सारी दुनिया की जनता में रोष फैल गया। भारत के राष्ट्रवादी नेता अन्य देशों की आज़ादी और शांति के लिए फ़ासिज़्म के ख़तरे को समझते थे। उन्होंने फ़ासिज़्म के विरुद्ध लड़ रही स्पेनवासी जनता का समर्थन किया। भारत सहित कई देशों के लोग स्पेनवासियों के साथ मिलकर उनकी आज़ादी के लिए लड़ने हेतु स्पेन गए। जवाहरलाल नेहरू वी.के. कृष्ण मेनन के साथ स्पेन गए और उन्होंने वहां की जनता को भारतीय जनता के सहयोग का आश्वासन दिया।

पश्चिम के साम्राज्यवादी देशों ने फ़ासिस्ट देशों को आक्रामक नीतियां अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्हें

आशा थी कि फ़ासिस्ट देश रूस और साम्यवाद को खत्म कर देगें। इटली ने अबीसीनिया (इथियोपिया) पर हमला शुरू कर दिया। पश्चिमी देशों के साथ साठगांठ करके हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया पर कब्जा कर लिया। जवाहरलाल नेहरू और राष्ट्रीय आंदोलन ने पश्चिमी देशों के इस रवैये की निंदा की। इटली के तानाशाह मुसोलिनी ने नेहरू से मिलने की इच्छा व्यक्त की, तो नेहरू ने उससे मिलने से इन्कार कर दिया। भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं ने फ़िलीस्तीन की जनता के आज़ादी के संघर्ष को भी समर्थन दिया। आज़ादी तथा जनतंत्र के लिए संघर्ष कर रही हर देश की जनता के प्रति भारतीय जनता की सहानुभूति थी। दूसरा महायुद्ध शुरू होने के काफी पहले ही कांग्रेस ने युद्ध के बढ़ते ख़तरे के बारे में जनता को सचेत कर दिया था। स्वतंत्र होने पर भारत ने दूसरे देशों के आजादी के आंदोलनों को भरपूर समर्थन दिया और यह चीज़ स्वाधीन भारत की विदेश नीति की बुनियादी विशेषता बन गई।

स्पेन के गृह युद्ध के दौरान जवाहरलाल नेहरू और कृष्णा मेनन स्पेनी रिपब्लिकन नेताओ से बात करते हुए

1935 ई. का कानून और राष्ट्रीय आंदोलन

तुम पहले पढ़ चुके हो कि सरकार के ढांचे में किए जाने वाले परिवर्तनों के बारे में विचार करने के लिए तीन गोलमेज़ सम्मेलन हुए थे। कांग्रेस ने केवल दूसरे सम्मेलन में भाग लिया। जैसा कि तुम जानते हो, कांग्रेस ने घोषणा की थी कि देश की सरकार का संविधान किस तरह का हो, इसका निर्णय केवल भारत की जनता ही कर सकती है। इसके लिए कांग्रेस ने मांग की थी कि वयस्क मताधिकार से निर्वाचित सदस्यों की विधान सभा बुलाई जाए।

मगर सरकार ने कांग्रेस की मांग की उपेक्षा की और अगस्त 1935 ई. में 'गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट' की घोषणा की। इस एक्ट के अनुसार, भारत एक संघराज्य बनेगा, बशर्ते कि 50 प्रतिशत रियासतें इसमें शामिल हो जाएं। तब उन्हें दोनों केंद्रीय विधान मंडलों में पर्याप्त संख्या में प्रतिनिधित्व मिलेगा। मगर संघ संबंधी धारा को लागू नहीं किया गया। एक्ट ने भारत को स्वतंत्र उपनिवेश के स्वरूप की सरकार देने का भी उल्लेख नहीं किया, स्वाधीनता देने की बात तो दूर रही।

जहां तक प्रांतीय शासन का प्रश्न है, 1935 ई. का कानून तत्कालीन स्थिति से बेहतर था। उसने "प्रांतीय स्वायत्तता" लागू की। प्रांतीय सरकारों के मंत्री विधान सभा के प्रति उत्तरदायी हो गए। विधान सभा के अधिकारों को भी बढ़ा दिया गया। मगर पुलिस जैसे कुछ मामले गवर्नरों के ही अधिकार में रहे। मताधिकार भी सीमित था। सिर्फ 14 प्रतिशत आबादी को ही मत देने का अधिकार था। गवर्नर-जनरल और गवर्नरों की नियुक्ति का अधिकार ब्रिटिश सरकार के हाथों में रहा। वे विधान सभाओं के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। यह एक्ट राष्ट्रीय आंदोलन की आशा के अनुरूप नहीं था।

जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में लखनऊ में 1936 ई. में आयोजित कांग्रेस के अधिवेशन में 1935 ई. के एक्ट को अस्वीकार कर दिया गया। उसने संविधान सभा गठित करने की मांग की। मगर उसने 1937 ई. में होने वाले प्रांतीय चुनावों में भाग लेने का निर्णय किया। उसने निर्णय लिया कि वह ऐक्ट को वापस लेने की मांग करेगी। कांग्रेस ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र में कहा कि ग़रीबी और बेरोज़गारी भारत की दो प्रमुख समस्याएं हैं। लोगों को महत्त्व के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक मसलों का परिचय कराने के लिए चुनाव ने अच्छा मौका प्रदान किया।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मुस्लिम लीग ने मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि संगठन होने का दावा किया था। कांग्रेस, बिना किसी धार्मिक भेदभाव के, सारे भारतीयों का प्रतिनिधि संगठन था। इसके कई प्रमुख नेता मुसलमान थे। तुमने पहले पढ़ा है कि मुसलमानों के लिए और बाद में सिक्खों के लिए भी, पृथक निर्वाचन की व्यवस्था की गई थी। भारतीय जनता में फूट डालने की यह ब्रिटिश सरकार की एक सोची-समझी चाल थी। राष्ट्रीय नेताओं ने इसकी निंदा की। मगर अंग्रेज़ों की इस नीति को जनता मे फूट डालने में कुछ हद तक सफ़लता मिली। परंतु ब्रिटिश शासकों द्वारा प्रोत्साहन दिए जाने के बावजूद सांप्रदायिक दल ज़्यादा ऊपर नहीं उठ सके। 1937 ई. में हुए चुनावों में यह स्पष्ट हो गया।

चुनावों में कांग्रेस की भारी विजय हुई। छह प्रांतों में उसे पूर्ण बहुमत मिला। तीन अन्य प्रांतों में वह सबसे बड़ी पार्टी के रूप में सामने आई। मुस्लिम लीग ने, जो अपने को सभी मुसलमानों का प्रतिनिधि संगठन मानती थी, उसके लिए सुरक्षित स्थानों में से एक-चौथाई से भी कम स्थान प्राप्त किए। पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में, जहां खान अब्दुल गफ्फार खाँ के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन काफ़ी मजबूत हो गया था, मुस्लिम लीग ने एक भी स्थान प्राप्त नही किया। हिंदू सांप्रदायिक दलों का भी सफ़ाया हो गया। चुनावों के परिणामों से स्पष्ट हो गया था कि धर्म पर आधारित दलों का कोई खास प्रभाव नहीं है।

कांग्रेस ने दिल्ली में एक विशेष सम्मेलन आयोजित किया। चुनाव में विजयी प्रत्येक कांग्रेसी ने शपथ ली "मैं. . . शपथ लेता हूं कि मैं भारत की सेवा करूंगा और विधान सभा में तथा उसके बाहर भारत की स्वाधीनता के लिए और जनता के दारिद्रय तथा शोषण को खत्म करने के लिए काम करूंगा।"

कांग्रेस ने 11 प्रांतों में से सात प्रांतों में मंत्रिमंडल बनाए। उसने दो अन्य प्रांतों में अन्य दलों की सहायता से सरकार बनाई। केवल दो प्रांतों में ही ग़ैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने कुछ अच्छे काम किए। शिक्षा का प्रसार हुआ और किसानों की हालत में सुधार किया गया। उन्होंने राजनीतिक बंदियों को रिहा कर दिया। समाचारपत्रों पर से प्रतिबंध हटा लिया गया। इन मंत्रिमंडलों ने भारतीय रियासतों की जनता को भी प्रभावित किया। राजाओं-नवाबों के निरंकुश शासन में कष्ट भोग रही जनता ने देखा कि भारत के कई प्रांतों की सरकार

जनता के प्रतिनिधियों द्वारा चलाई जा रही है।

जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस जैसे कई नेता कांग्रेस के मन्त्रिमंडल बनाने के विरोधी थे देश में किसानों और मज़दूरों के संगठनों का प्रभाव बढ़ गया था। आचार्य नरेंद्र देव जैसे नेताओं के मार्ग-दर्शन में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी काफ़ी मज़बूत बन गई थी । काम्युनिस्ट पार्टी का प्रभाव भी बढ़ गया था । इस प्रकार उन लोगों का प्रभाव बढ़ गया था जो ब्रिटिश सरकार के साथ समझौता करने के पक्ष में नहीं थे। वे पूर्ण स्वाधीनता के पक्ष में थे और इसके लिए आंदोलन करना चाहते थे। मगर कांग्रेस के भीतर के कुछ नरमवादी नेता तत्काल आंदोलन शुरू कर देने के पक्ष में नहीं थे। सुभाषचंद बोस ने, जो 1938 ई. में कांग्रेस के अध्यक्ष बने थे, 1939 ई. में कांग्रेस अध्यक्षपद के लिए एक नरमवादी नेता के खिलाफ पुन: चुनाव लड़ा और विजयी हुए। मगर उन्होंने जल्दी ही कांग्रेस के अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे दिया और बाद में फ़ारवर्ड ब्लाक में शामिल हो गए।

इन घटनाओं के बाद, चंद महीनो के भीतर ही, विश्व मे बड़े, महत्वपूर्ण परिवर्त हुए। इन परिवर्तनों का भारत पर तत्काल प्रभाव पड़ा और आज़ादी का संघर्ष अपने अंतिम दौर में पहुंच गया।

अभ्यास

1. **निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो:**
   1. असहयोग आंदोलन खत्म होने के तुरंत बाद कांग्रेस ने क्या काम किया? उस समय के कुछ प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं के नाम लिखो।
   2. साइमन आयोग क्या था ? भारतीय जनता ने क्यों उसका विरोध किया ?
   3. स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास में कांग्रेस के 1929 ई. के लाहौर अधिवेशन का क्या महत्त्व है?
   4. डांडी यात्रा के ऊपर एक टिप्पणी लिखो।
   5. सविनय अवज्ञा आंदोलन क्यों शुरू किया गया ?
   6. गोलमेज़ सम्मेलन क्या था? उसके प्रति कांग्रेस का क्या रूख था?

7. कांग्रेस के कराची अधिवेशन में क्या मुख्य निर्णय लिए गए?
8. राष्ट्रवादी-क्रांतिकारियों के क्या कार्य-कलाप थे? सन् 1922 ई. के बाद सक्रिय चार क्रांतिकारियों के नाम लिखो।
9. समाजवादी विचार भारत में कैसे फैले? उनका स्वतंत्रता-संग्राम पर क्या प्रभाव पड़ा?
10. स्वतंत्रता-संग्राम में सांप्रदायिक दलों की क्या भूमिका थी?
11. स्वतंत्रता और जनतंत्र के लिए अन्य जनगण के संघर्ष के प्रति भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का क्या रूख था? अपने उत्तर की पुष्टि के लिए दो उदाहरण दो।
12. ऐक्ट के प्रति कांग्रेस का रूख क्या था?
13. देशी राज्यों की जनता के आंदोलन के बारे में लिखो। कांग्रेस का उसके प्रति क्या रूख था?

2. **कालम "क" में कुछ घटनाएँ और कालम "ख" में कुछ तिथियाँ दी गई हैं। कालम "ख" को इस तरह व्यवस्थित करो कि तिथियों का घटनाओं से सही संबंध स्थापित हो जाए।**

"क"	"ख"
1. मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की माँग की।	1929 ई.
2. कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज के लिए प्रस्ताव पास किया।	1937 ई.
3. ब्रिटिश सरकार ने साइमन आयोग की नियुक्ति की।	1940 ई.
4. राष्ट्रीय आंदोलन ने इसी दिन को स्वतंत्रता-दिवस के रूप में मनाने का निर्णय किया।	1927 ई.
5. प्रांतों में कांग्रेस-मंत्रिमंडलों का निर्माण।	26 जनवरी 1930

3. **करने के लिए कार्य**
   1. स्वतंत्रता-आंदोलन के इतिहास के सन् 1923 से 1939 ई. तक की महत्त्वपूर्ण तिथियों और घटनाओं को एक काल रेखा बनाकर दिखाओ।

2. जवाहरलाल नेहरू और सुभाष चंद्र बोस के जीवन और कार्यों पर एक निबंध लिखो। निबंध लिखने के लिए जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथा एवं सुभाष चंद्र बोस की जीवनी तथा उन दोनों के भाषणों और लेखों को पढ़ो।
3. पूर्ण स्वराज के प्रस्ताव और स्वतंत्रता की शपथ के मूल पाठ का संग्रह कक्षा में, प्रदर्शन के लिए करो।

स्वतंत्र भारत

दूसरा महायुद्ध और राष्ट्रीय आंदोलन

फ़ासिस्ट देशों की आक्रामक और विस्तारवादी नीतियों के कारण दूसरा महायुद्ध हुआ। सितंबर 1939 ई. में हिटलर की सेना द्वारा पोलैंड पर हमला करने के साथ दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ। यह मानवता के इतिहास का सबसे व्यापक और नृशंस युद्ध साबित हुआ।

युद्ध की स्थिति पैदा हो जाने पर ब्रिटेन ने, भारतीय जनता से सलाह किए बगैर, भारत को युद्ध में शामिल कर लिया। जैसा कि तुमने पहले पढ़ा है, भारतीय राष्ट्रवादी नेता फ़ासिज़्म के खतरे को पहचानते थे। उन्होंने फ़ासिस्ट शक्तियों के विरुद्ध चीन, स्पेन, इथियोपिया और अन्य देशों की जनता को समर्थन दिया था। उन्होंने युद्ध के बढ़ते खतरे से जनता को सचेत किया था और घोषणा की थी कि दुनिया की शांति तथा प्रगति के लिए फ़ासिज़्म और साम्राज्यवाद, दोनों को ही खत्म करना आवश्यक है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने फासिस्ट देशों के प्रति पाश्चात्य साम्राज्यवादियों के रवैये की भी निंदा की थी। साम्राज्यवादी देशों ने फ़ासिस्ट देशों के आक्रमण को नज़र अंदाज कर दिया। कम्युनिज़्म के प्रति उनकी नफ़रत ने उन्हें अंधा बना दिया था और इसलिए वे फ़ासिज्म के खतरे को समझ नहीं पाए। युद्ध शुरू हुआ तो भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने फ़ासिस्ट देशों की निंदा की। यद्यपि फ़ासिस्ट देश भारतीय जनता पर शासन कर रहे ब्रिटेन के खिलाफ लड़ रहे थे, फिर भी भारतीय जनता जानती थी कि फ़ासिस्ट देश भी उसके दोस्त नहीं हो सकते। वह जानती थी कि यदि फ़ासिस्ट देशों की विजय होती है, तो किसी भी देश की स्वाधीनता सुरक्षित नहीं रह सकती। मगर ब्रिटेन ने भारतीय जनता को गुलाम बनाए रखा था और भारतीय जनता की सलाह लिए बिना उसे युद्ध में खींच लिया गया था। कांग्रेस ने मांग की कि तुरंत राष्ट्रीय सरकार बनाई जाए और ब्रिटेन वादा करे कि युद्ध समाप्त

होते ही भारत स्वतंत्र हो जाएगा। मगर ब्रिटिश सरकार ने यह मांग अस्वीकार कर दी। स्पष्ट था कि ब्रिटेन अपने साम्राज्यवादी लक्ष्यों के लिए युद्ध लड़ रहा था। प्रांतों में बने हुए मंत्रिमंडलों ने नवंबर 1939 ई. में इस्तीफे दे दिए। भारत को युद्ध में खींचने के खिलाफ देश के विभिन्न भागों में हड़तालें हुईं, प्रदर्शन हुए।

मार्च 1940 ई. में कांग्रेस का अधिवेशन रामगढ़ में हुआ। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद कांग्रेस के अध्यक्ष बने। कांग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता की मांग की और निर्णय लिया कि इसके लिए वह सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू कर देगी। अक्तूबर 1940 ई. में कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का आंदोलन शुरू कर दिया। इसका मतलब यह था कि कांग्रेस द्वारा चुने गए सत्याग्रही, एक-एक करके, सार्वजनिक स्थलों पर पहुंचेंगे, युद्ध के खिलाफ भाषण देंगे और अपनी गिरफ्तारी देंगे। इस आंदोलन के लिए चुने गए पहले सत्याग्रही विनोबा भावे थे। थोड़े अरसे में ही करीब 25,000 सत्याग्रही गिरफ़्तार होकर

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद महात्मा गांधी के साथ

जेल में बंद हो गए। इनमें कांग्रेस के अधिकांश प्रमुख नेता थे। इनमें थे - श्रीकृष्ण सिन्हा और चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, जो क्रमशः बिहार व मद्रास के प्रीमियर (उन दिनों मुख्यमंत्री को 'प्रीमियर' कहते थे) रह चुके थे, पंजाब कांग्रेस के अध्यक्ष मियां इफ़्तिख़ार-उद्दीन, महाराष्ट्र कांग्रेस के अध्यक्ष जी. वी. गाडगील, सरोजिनी नायडू, जी. वी. मावलंकर, अरुणा आसफ अली और सत्यवती।

इसी बीच दुनिया में बड़े महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे।

जून 1941 ई. में जर्मनी ने सोवियत संघ पर हमला किया और दिसंबर 1941 ई. में जापान ने अमेरिका के नौसेना अड्डे पर्ल हार्बर पर हमला किया। इसके साथ ये दो देश भी युद्ध में शामिल हो गए। फ़ासिस्ट देशों के साथ लड़ने वाले देशों के उद्देश्य अब सुस्पष्ट हो गए। उन्होंने सभी राष्ट्रों की स्वानधीता को अपना समर्थन दिया। जनता द्वारा अपने पसंद की सरकार बनाने के अधिकार को भी उन्होंने समर्थन दिया। इस प्रकार महायुद्ध सभी देशों की स्वाधीनता के लिए और जनतंत्र के लिए एक शक्तिशाली साध्य बन गया। मगर ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि आत्मनिर्णय का सिद्धांत भारत पर लागू नहीं होता। फ़ासिज़्म को मानवता का शत्रु मानने वाले जवाहरलाल नेहरू और अबुल कलाम आज़ाद जैसे नेताओं ने कहा भारतीय जनता अपने देश की सरकार पर नियंत्रण स्थापित कर लेने के बाद फासिज्म के खिलाफ लड़ाई में शामिल हो जाएगी। परतु युद्ध समाप्त हो जाने पर भी भारत को स्वाधीनता देने का वादा करने से ब्रिटिश सरकार ने इन्कार कर दिया।

सन् 1942 ई. के आरंभ में युद्ध की स्थिति ने अंग्रेजों को भारतीय नेताओं से बातचीत के लिए मजबूर कर दिया। जापानी सेना ने दक्षिण-पूर्व एशिया के कई देशों में ब्रिटिश सेना को भारी क्षति पहुंचायी थी। जापानियों ने भारत के कुछ भागो पर हवाई हमले भी किए थे। उसी समय एक ब्रिटिश मंत्री सर स्टाफ़ोर्ड क्रिप्स भारतीय नेताओं से बातचीत करने भारत आया। इसे 'क्रिप्स मिशन' कहा जाता है। लेकिन बातचीत असफल रही। ब्रिटिश एक वास्तविक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुए। उन्होंने राजाओ के हितों को बढ़ावा देने की भी कोशिश की। उन्होंने संविधान सभा की मांग को तो स्वीकार कर लिया, मगर कहा कि राजाओ द्वारा नामजद प्रतिनिधि ही संविधान सभा में भाग लेंगे। रियासतों की जनता को संविधान सभा में प्रतिनिधित्व नहीं मिलेगा।

गांधीजी स्टेफ़ोर्ड-क्रिप्स के साथ

'भारत छोड़ो' आंदोलन

अप्रैल 1942 ई. में क्रिप्स मिशन असफल रहा। उसके बाद चार महीने के भीतर ही आज़ादी के लिए भारतीय जनता का तीसरा महान संघर्ष शुरू हुआ। इस संघर्ष को "भारत छोड़ो" आंदोलन के नाम से जाना जाता है।

बंबई में 8 अगस्त, 1942 ई. को आयोजित अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने एक प्रस्ताव पास किया। प्रस्ताव में घोषणा की गई कि भारत में ब्रिटिश शासन को जल्दी से समाप्त करना अतिआवश्यक हो गया है। आज़ादी और जनतंत्र की विजय के लिए फ़ासिस्ट देशों तथा जापान के विरुद्ध लड़ रहे मित्र राष्ट्रों के लिए भी यह जरूरी है कि भारत को जल्दी से स्वाधीनता मिल जाए। प्रस्ताव में कहा गया कि भारत से ब्रिटिश सत्ता को हटा दिया जाए। प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि स्वतंत्र हो जाने पर भारत अपने संपूर्ण साधनों सहित उन देशों के साथ महायुद्ध में शामिल हो जाएगा जो फ़ासिज़्म और साम्राज्यवादी आक्रमण के ख़िलाफ संघर्ष कर रहे है। प्रस्ताव ने देश की आज़ादी के लिए 'सबसे व्यापक स्तर पर अहिंसात्मक जन-आंदोलन' शुरू करने की स्वीकृति दे दी। प्रस्ताव के पास हो जाने पर गांधीजी ने अपने भाषण में कहा "मैं आपको एक संक्षिप्त मंत्र देता हूं। इसे आप हृदय में पक्का बिठा लीजिए और अपनी प्रत्येक सांस के साथ इसे व्यक्त होने दीजिए। मंत्र है-करो या मरो। इस प्रयास से हम या

बंबई की एक बैठक में भाग लेते हुए गाँधीजी और जवाहरलाल नेहरू। इस बैठक में भारत छोड़ो प्रस्ताव पास किया गया

से आज़ाद होंगे या मर मिटेंगे। भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान "करो या मरो" और "भारत छोड़ो" का रणनाद हर जगह सुनाई पड़ने लगा।

9 अगस्त, 1942 ई की सुबह कांग्रेस के अधिकांश नेता गिरफ्तार कर लिए गए। उन्हें देश के विभिन्न भागों की जेलों में बंद कर दिया गया। कांग्रेस पर प्रतिबंध लगा दिया गया। देश के हर हिस्से में हड़तालें हुईं, प्रदर्शन हुए। सरकार ने दमन का सहारा लिया। गोलियां चलीं, लाठी-चार्ज हुए और सारे देश में गिरफ़्तारियां हुईं। गुस्से में आकर जनता भी हिंसा पर उतर आई। लोगों ने सरकारी सम्पत्ति पर हमले

एक जली हुई ट्राम गाडी का दृश्य

किए, रेल-पटरियों को तोड़ा और डाक-तार व्यवस्था में रुकावटें पैदा कर दीं। कई स्थानों पर पुलिस के साथ मुठभेड़ हुई। आंदोलन के बारे में समाचारों के प्रकाशन पर सरकार ने प्रतिबंध लगा दिया। कई अखबारों ने अपना प्रकाशन बंद कर दिया, क्योंकि उन्हें प्रतिबंध स्वीकार नहीं थे। 1942 ई. के अंत तक करीब 60,000 लोग जेल में बंद हो गए और सैकड़ों की मृत्यु हो गई। मरने वालों में अनेक बच्चे और वृद्ध महिलाएं भी थीं। प्रदर्शन में भाग लेने पर तमलुक (बंगाल) में 73 साल की मातंगिनी हाजरा को, गोहपुर (असम) में 13 साल की कनकलता बरुआ को, पटना (बिहार) में सात तरुण विद्यार्थियों को और अन्य सैंकड़ों को गोलियां मारकर मौत के घाट उतार दिया गया। देश के कुछ भाग - जैसे उत्तर प्रदेश में बलिया, बंगाल में तमलुक, महाराष्ट्र में सतारा, कर्नाटक में धारावाड़ और

पुलिस की गोलियों के शिकार

भारत छोड़ो आंदोलन का एक शहीद बालक श्रीश कुमार

आज़ाद हिंद फ़ौज

दूसरे महायुद्ध के दौरान आज़ादी के संघर्ष की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी आज़ाद हिंद फौज की स्थापना और उसकी गतिविधियां। रासबिहारी बोस ने जो एक क्रांतिकारी थे और भारत से भाग निकलने के बाद कई साल से जापान में रह रहे थे, दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में रह रहे भारतीयों के सहयोग से 'इंडियन इंडिपेंडेंस लीग' की स्थापना की। जापान ने ब्रिटिश फौजों को हराकर दक्षिण-पूर्व एशिया के लगभग सभी
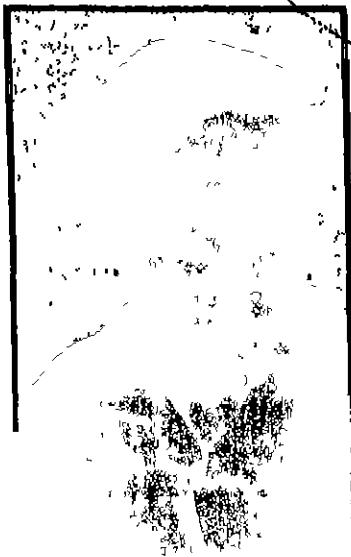
उड़ीसा में बालासोर तथा थलचर-ब्रिटिश शासन से मुक्त कर लिए गए और वहां की जनता ने अपनी सरकारें स्थापित कीं। पूरे महायुद्ध के दौरान जयप्रकाश नारायण, अरुणा आसफ़ अली, एस. एम. जोशी, राममनोहर लोहिया आदि अनेकों द्वारा आयोजित क्रांतिकारी गतिवधियां जारी रहीं।

महायुद्ध के दौरान भारतीय जनता को भयंकर कष्ट झेलने पड़े। ब्रिटिश सेना और पुलिस ने तो यातनाएं दी हीं, बंगाल में भयंकर अकाल भी पड़ा। अकाल में करीब 30 लाख लोग मरे। भूखमरी के शिकार लोगों को राहत पहुंचाने में सरकार ने कोई विशेष दिलचस्पी नहीं ली।

रास बिहारी बोस

देशों पर कब्जा कर लिया था। जापान ने ब्रिटिश सेना के हज़ारों भारतीय सैनिकों को बंदी बना लिया था। लीग ने ब्रिटिश शासन से भारत को आज़ाद करने के उद्देश्य से भारतीय युद्धबंदियों को लेकर आज़ाद हिंद फौज बनाई। जनरल मोहन सिंह ने, जो अंग्रेज़ों की भारतीय सेना में एक अफ़सर थे, आजाद हिंद फौज बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस बीच 1941 ई. में, सुभाष चंद्र बोस भारत से भाग निकलने में सफ़ल हुए। वे भारत की आज़ादी के लिए काम करने हेतु जर्मनी में पहुंच गए। इंडियन इंडिपेंडेंस लीग का नेतृत्व करने और आज़ाद हिंद फ़ौज का पुनर्निमाण करने तथा इसे कार्यक्षम बनाने के लिए सुभाष चंद्र बोस 1943 ई. में सिंगापुर पहुंच गए। आज़ाद हिंद फ़ौज में करीब 45000 सैनिक थे। इसमें भारतीय युद्धबंदियों के अलावा वे भारतीय भी थे जो दक्षिण - पूर्व एशिया के विभिन्न देशों में बसे हुए थे।

21 अक्तूबर, 1943 को सुभाषचंद्र बोस ने, जो अब नेताजी के नाम से प्रसिद्ध हो गए थे, सिंगापुर में स्वतंत्र भारत *(आज़ाद हिंद)* की अंतरिम सरकार की स्थापना की घोषणा की। जापान ने अंदमान द्वीपों पर कब्ज़ा कर लिया था। नेताजी अंदमान गए और वहां भारत का झंडा फहराया। 1944 ई. के आरंभ में आज़ाद हिंद फ़ौज की तीन टुकड़ियों ने अंग्रेज़ों को भारत से खदेड़ने के उद्देश्य से

1940 में मद्रास में सुभाष चन्द्र बोस एक जलूस में ले जाए जाते हुए

भारत के पूर्वोत्तर भाग पर हुए हमले में भाग लिया। आज़ाद हिंद फ़ौज के कुछ सैनिक भारतीय क्षेत्र में पहुंच गए। आज़ाद हिंद फ़ौज के एक प्रमुख अफसर शाह नवाज़ खान के अनुसार, जो सैनिक भारतीय प्रदेश में पहुंच गए थे वे "ज़मीन पर लेट गए और उन्होंने मातृभूमि की पवित्र मिट्टी को चूमा"। मगर आज़ाद हिंद फ़ौज को भारत को आज़ाद करने में सफलता नहीं मिली।

तुमने पहले पढ़ा है कि जापान खुद एक साम्राज्यवादी देश बन गया था और युद्ध में उसने जर्मनी तथा इटली के साथ हाथ मिलाए थे। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने जापान की सरकार को भारत का मित्र नहीं माना। इसकी सहानुभूति उन देशों की जनता के प्रति थी जो जापानी आक्रमण के शिकार हुए थे। मगर नेताजी का विश्वास था कि आज़ाद हिंद फ़ौज की सहायता से और जापान की मदद से और भारत के भीतर किए जाने वाले विद्रोह के सहयोग से भारत में ब्रिटिश शासन को खत्म किया जा सकता है। आज़ाद हिंद फ़ौज, जिसका नारा था "दिल्ली चलो" और जिसका अभिवादन था "जय हिंद", भारतीयों के लिए देश में और देश के बाहर, प्रेरणा का स्रोत थी। नेताजी ने दक्षिण-पूर्व एशिया के सभी पंथों तथा धर्मों के भारतीयों को भारत की आज़ादी के लिए एकमत किया। भारत की आज़ादी की गतिविधियों में भारतीय स्त्रियों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। कैप्टन लक्ष्मी स्वामीनाथन् के नेतृत्व में आज़ाद हिंद फ़ौज में महिलाओं की एक रेजिमेंट बनाई गई थी। भारत की जनता के लिए आज़ाद हिंद फ़ौज एकता और वीरता का प्रतीक बन गई। बताया जाता है कि जापान के समर्पण कर देने के कुछ दिन बाद एक विमान-दुर्घटना में नेताजी की मृत्यु हो गई।

फ़ासिस्ट शक्तियों की पराजय के साथ 1945 ई. में दूसरा महायुद्ध खत्म हो गया। युद्ध में लाखों लोगों की मृत्यु हुई। अब महायुद्ध समाप्ति पर था और इटली तथा जर्मनी की पराजय हो चुकी थी, तब अमेरिका ने दो जापानी नगरों-हिरोशिमा और नागासाकी-के खिलाफ एटम बमों का इस्तेमाल किया। कुछ ही क्षणों में ये नगर पूर्णत: तबाह हो गए और 2,00,000 से ज़्यादा लोगों की मौत हुई। उसके तुरंत बाद जापान ने समर्पण कर दिया। यद्यपि एटम बमों के प्रयोग ने युद्ध को समाप्त कर दिया, मगर इसने दुनिया में नए तनाव पैदा कर दिए और अधिकाधिक विध्वंसक हथियार बनाने की एक नई होड़ शुरू करके मानवता के अस्तित्व को ही खतरे में डाल दिया।

युद्ध के बाद राष्ट्रीयता की लहर

दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के साथ दुनिया के इतिहास में एक नए युग की शुरुआत हुई। दुनिया का राजनीतिक नक्शा बदल गया था। पहले ब्रिटेन एक महान साम्राज्य था, मगर अब दूसरे दर्जे की शक्ति बनकर रह गया था। अब सोवियत संघ दुनिया की दो महान शक्तियों में से एक बन गया था। दूसरी महान शक्ति थी अमेरिका। युद्ध स्वतंत्रता और जनतंत्र के नाम पर लड़ा गया था। युद्ध की समाप्ति के साथ दुनिया में एक नए राजनीतिक वातावरण ने जन्म लिया। पूर्वी यूरोप के कई देश समाजवादी हो गए। सभी साम्राज्यवादी देशों की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति कमज़ोर हो गईं। समूचे एशिया और अफ्रीका में स्वाधीनता के लिए जनता की एक व्यापक लहर उठी। अब स्वाधीनता के आंदोलन को कुचलना आसान नहीं था। इस तरह, युद्ध के परिणाम स्वरूप फ़ासिज़्म का खात्मा हुआ और पुराने साम्राज्यवादी देश भी कमज़ोर पड़ गए। ब्रिटेन में लेबर पार्टी सत्ता में आई। लेबर पार्टी में ऐसे कई व्यक्ति थे जिनकी भारतीय जनता के आज़ादी के संघर्ष के प्रति सहानुभूति थी।

ब्रिटिश शासन के खिलाफ भारत में एक बहुत बड़ी लहर उठी। ब्रिटिश सरकार ने आज़ाद हिंद फ़ौज के तीन अफ़सरों पर दिल्ली

शाहनवाज़ खान

गुरदयाल सिंह ढिल्लों

के लाल किले में मुकद्दमा चलाया। उन पर ब्रिटिश फ़ौजों के खिलाफ लड़ने का अभियोग था। वे तीन अफ़सर थे-शाह नवाज़ खान, पी. के. सहगल और जी. एस. ढिल्लों। मुकद्दमे के विरुद्ध सारे देश में प्रदर्शन और हड़तालें हुईं। तीनों अफ़सरों को सज़ा सुनाई गई, मगर उन्हें रिहा कर देना पड़ा। आज़ाद हिंद फ़ौज के अफ़सरों पर चलाए गए मुकद्दमे के खिलाफ प्रदर्शन आयोजित करने में विद्यार्थियों ने बड़े महत्त्व की भूमिका अदा की। ब्रिटिश शासन को खत्म करने के लिए प्रदर्शनों और हड़तालों का सिलसिला जारी रहा। जनता आज़ादी की अंतिम लड़ाई में कूद पड़ी। नौसेना में भी असंतोष फैला हुआ था। फरवरी 1946 ई. में रायल इंडियन नेवी के नाविकों ने कई स्थानों पर विद्रोह कर दिया। मज़दूरों तथा दूसरों ने उनका साथ दिया। नाविकों तथा उनके समर्थकों और ब्रिटिश फ़ौज तथा पुलिस के बीच जो संघर्ष हुआ उसमें बम्बई में करीब 300 लोगों की मृत्यु हुई। ब्रिटिश

कैलाश नाथ काटजू, तेज बहादुर सप्रू और जवाहरलाल नेहरू आज़ाद हिन्द फ़ौज के अफ़सरों की वकालत के लिए कचहरी में जाते हुए

आज़ाद हिन्द फ़ौज के अफ़सरों के खिलाफ़ मुकदमा चलाने के विरोध में कलकत्ता में हुई एक विशाल जन सभा

शासन के खिलाफ जनता की बढ़ती लहर से और सेना में फ़ैलती जा रही सहानुभूति से यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश शासन के दिन खत्म होने को आ रहे हैं। ब्रिटिश शासकों ने भी महसूस किया कि अब भारतीय जनता को परतंत्रता में रख पाना संभव नहीं है।

स्वतंत्र भारत का उदय

ब्रिटिश सरकार ने 1946 ई. में घोषणा की कि वह भारत में अपना शासन समाप्त करना चाहती है। ब्रिटिश मंत्रिमंडल के कुछ सदस्यों का एक दल, जिसे 'कैबिनेट मिशन' के नाम से जाना जाता है, सत्ता के हस्तांतरण के बारे में भारतीय नेताओं से बातचीत करने के लिए भारत आया। उसने अंतरिम सरकार बनाने और संविधान सभा बुलाने का प्रस्ताव रखा। प्रस्ताव में कहा गया कि संविधान सभा में प्रांतीय विधान सभाओं द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि और भारतीय रियासतों के शासकों द्वारा मनोनीत व्यक्ति होंगे। जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में एक अंतरिम सरकार बनी। संविधान सभा ने दिसंबर 1946 ई. में अपना काम शुरू कर दिया, मगर मुस्लिम लीग और राजाओं ने उसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया।

पुलिस वैन में ले जाए जाते हुए रॉयल इंडियन नेवी के नाविक

शपथ लेने के बाद अंतरिम सरकार के सदस्य। आगे, बाएँ से दाएँ : जवाहर लाल नेहरू, आसफ़ अली, अली ज़हीर, डा. राजेन्द्र प्रसाद और वल्लभभाई पटेल। शरतचन्द्र बोस और जगजीवन राम वल्लभभाई पटेल और डा. राजेन्द्र प्रसाद के पीछे खड़े हैं।

मुस्लिम लीग ने पृथक पाकिस्तान की मांग पर ज़ोर दिया। लार्ड माउंटबेटन ने, जो मार्च 1947 ई. में नए वायसराय बनकर भारत आए थे, भारत को दो स्वतंत्र राज्यों–हिंदुस्तान और पाकिस्तान–में बांटने की योजना प्रस्तुत की। 1946 ई. में बंगाल, बिहार, बम्बई तथा अन्य जगहों में दंगे हुए जिनमें हजारों हिंदुओं तथा मुसलमानों की जानें गईं। विभाजन की घोषणा के बाद और भी दंगे हुए, विशेषकर पंजाब में। कुछ ही महीनों में करीब 5,00,000 हिंदू और मुसलमान मारे गए। लाखों लोग बेघरबार हो गए। इस तरह का नृशंस हत्याकांड देश के इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था। सांप्रदायिक दलों द्वारा फैलाई गई घृणा के परिणाम सामने आए। ब्रिटिश शासकों ने इन सांप्रदायिक दलों को प्रोत्साहन दिया था। दंगों के दौरान मानवता को भुला दिया गया और अत्यंत शर्मनाक तथा नृशंस घटनाएं घटित हुईं। सभी समुदायों के अनेक लोगों ने सांप्रदायिक आग बुझाने के लिए जी–तोड़ कोशिशें कीं। कई लोग दूसरे संप्रदायों के लोगों को बचाने के प्रयास में शहीद हो गए। इन घटनाओं से गांधीजी को भयंकर क्लेश हुआ, क्योंकि उन्होंने हिंदू–मुस्लिम एकता के लिए अथक प्रयास किए थे। उन्होंने दंगाग्रस्त इलाकों का दौरा किया और वे शांति तथा विवेक स्थापित करने के लिए जी–जान से जुट गए।

कांग्रेस शुरू से ही एकीकृत स्वतंत्र भारत के लिए प्रयास करती आ रही थी। मगर अंत में उसने भारत के विभाजन को मान लिया। कांग्रेस ने दो राष्ट्रों के सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया था, मगर महसूस किया कि आज़ादी प्राप्त करने के लिए और बिगड़ती स्थिति को रोकने के लिए विभाजन को स्वीकार करने के सिवा कोई चारा नहीं है। 15 अगस्त, 1947 ई. को भारत स्वतंत्र हो गया। पश्चिमी पंजाब, पूर्वी बंगाल, सिंध और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत को मिलाकर पाकिस्तान का पृथक राज्य बना। भारतीय जनता ने करीब एक सदी के संघर्ष के बाद विदेशी शासन को उखाड़ फेंका, हालांकि यह भयंकर दुःखद घटनाओं के बीच हुआ। जवाहरलाल नेहरू स्वतंत्र भारत के पहले प्रधानमंत्री बने। आधी रात को जब 15 अगस्त का दिन शुरू हुआ तो, जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, भारत में जीवन और स्वतंत्रता का उदय हुआ।

संविधान सभा स्वतंत्र भारत की संसद के रूप में भी काम करने लगी। 14 अगस्त, 1947 को नेहरू ने संविधान सभा में भाषण देते हुए भारतीय जनता के अगले कार्यों और

कर्तव्यों के बारे में बतलाया। ये कार्य थे- "गरीबी, अज्ञान, रोग और अवसरों की असमानता को दूर करना।" उन्होंने "भारत, भारत की जनता और उससे भी बढ़कर मानवता की सेवा" करने का व्रत लेने को कहा। उन्होंने स्वतंत्र भारत के लिए एक ऐसा भव्य प्रासाद बनाने को कहा जहा भारत के सभी बच्चे रह सकें। 15 अगस्त की सुबह लाल किले पर स्वतंत्र भारत का झंडा फहराया गया। भारत के लोग स्वयं अपने भाग्य के निर्माता बन गए। नए भारत के निर्माण का कार्य शुरू हो गया।

भारत एक स्वतत्र राष्ट्र

स्वतंत्र भारत को जिस मार्ग पर आगे बढ़ना था वह आज़ादी के संघर्ष के दौरान ही निश्चित हुआ था। आज़ादी की लड़ाई भारतीय जनता को प्रभुसत्ता-सम्पन्न बनाने के उद्देश्य से लड़ी गई थी। अर्थात, यह लड़ाई एक ऐसा जनतंत्र स्थापित करने के लिए थी जिसमें सारी सत्ता समूची जनता के हाथों में रहनी थी, न कि किसी एक या दूसरे समूह के हाथों मे।

भारत में विभिन्न धर्मों को मानने वाले, विभिन्न भाषाएं बोलने वाले और विभिन्न

स्वतन्त्र भारत के प्रथम मन्त्री के रूप में शपथ ग्रहण करते हुए जवाहरलाल नेहरू

रीति-रिवाजों का अनुसरण करने वाले लोग थे। यद्यपि देश में विभेद पैदा करने वाले सांप्रदायिक दलों जैसे तत्व मौजूद थे, मगर आज़ादी के आंदोलन को क़िसी एक या दूसरे समुदाय का आंदोलन बनाने में उन्हें सफ़लता नहीं मिली। इस प्रकार, राष्ट्रीय आंदोलन एक धर्मनिरपेक्ष आंदोलन था। अर्थात् यह सभी समुदायों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाला एक ऐसा आंदोलन था जो धर्म को व्यक्ति का निजी मामला समझता था। प्रत्येक नागरिक को अपने धर्म का पालन करने का अधिकार दिया गया। किसी भी धर्म को कोई विशेष स्थान नहीं दिया गया। धर्म-निरपेक्षता हर जनतांत्रिक आंदोलन का अभिन्न अंग होती है। जनतंत्र में सब नागरिक बराबर होते हैं। अर्थात्, सबके समान अधिकार होते हैं। समान अधिकार- फिर वे भाषण देने के हों या धर्म-पालन के हों-तभी संभव है जब सभी नागरिक समान हों। इस प्रकार, राष्ट्रीय आंदोलन ने देश में जनतंत्र की स्थापना को अपना प्रमुख लक्ष्य बनाया था। यह भारत को एक धर्म-निरपेक्ष देश बनाना चाहता था। राष्ट्रीय आंदोलन स्वतंत्र भारत में धर्म के आधार पर कोई भेदभाव नहीं चाहता था और धर्म को लोगों का निजी मामला बनाना चाहता था।

राष्ट्रीय आंदोलन ने एक न्यायोचित समाज की स्थापना के लिए भारतीय समाज के पुनर्निर्माण का लक्ष्य भी अपने सामने रखा था। यह लक्ष्य समाजवादी विचारों के प्रसार के साथ अधिक स्पष्ट हो गया था। इस लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु स्वतंत्र भारत को समाज में मौजूद असमानताओं को दूर करने के लिए, तेज़ी से आर्थिक विकास करने के लिए और आर्थिक शक्ति के सकेंद्रण को रोकने के लिए कड़ा संघर्ष करना था।

राष्ट्रीय आंदोलन ने दुनिया के मामलों में भी एक नीति बनाई थी। यह सभी लोगों की समानता के सिद्धांत पर आधारित थी। अत: इसका अर्थ यह था कि स्वतंत्र भारत उस सभी लोगों को सहयोग देगा जो राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लड़ रहे हैं। राष्ट्रीय आंदोलन का दृढ़ विश्वास था कि स्वतंत्रता अविभाज्य है और जब तक हर एक देश स्वतंत्र नहीं होता तब तक किसी भी देश की स्वतंत्रता सुरक्षित नहीं है। उसने शांति की नीति पर भी ज़ोर दिया था, क्योंकि शांति रहने पर ही पुनर्निर्माण का कार्य पूरा हो सकता है और विश्वबंधुत्व की भावना का विकास किया जा सकता है। शांति की नीति इस विश्वास पर भी आधारित थी कि संसार के सभी आम लोगों के हितों में कोई विरोध नहीं है। इस तरह, आज़ादी

और. शांति स्वतंत्र भारत की विदेश नीति का आधार बन गई।

इन सिद्धांतों से प्रेरित होकर भारत की जनता ने 1947 ई. में एक स्वतंत्र राष्ट्र की जीवन यात्रा आरंभ की।

तात्कालिक कार्य

स्वतंत्र भारत के सामने कई तात्कालिक कार्य थे। पहला कार्य देश में राजनीतिक एकता स्थापित करना था। तुम पहले देशी राज्यों की जनता के संघर्ष के बारे में पढ़ चुके हो। जब ब्रिटिश शासन का समाप्त होना निश्चित हो गया, तो राजा-महाराजाओं ने अपने दमन में वृद्धि कर दी। जम्मू तथा कश्मीर, हैदराबाद, त्रावणकोर तथा राजस्थान की कुछ रियासतों में यह दमन अधिक बर्बर था। कुछ राजाओं ने स्वतंत्र शासक बनने की योजना बनाई थी। राष्ट्रीय आंदोलन ने, राज्यों की जनता की मदद से, उनकी योजना को विफल कर दिया। राज्यों का विभाग
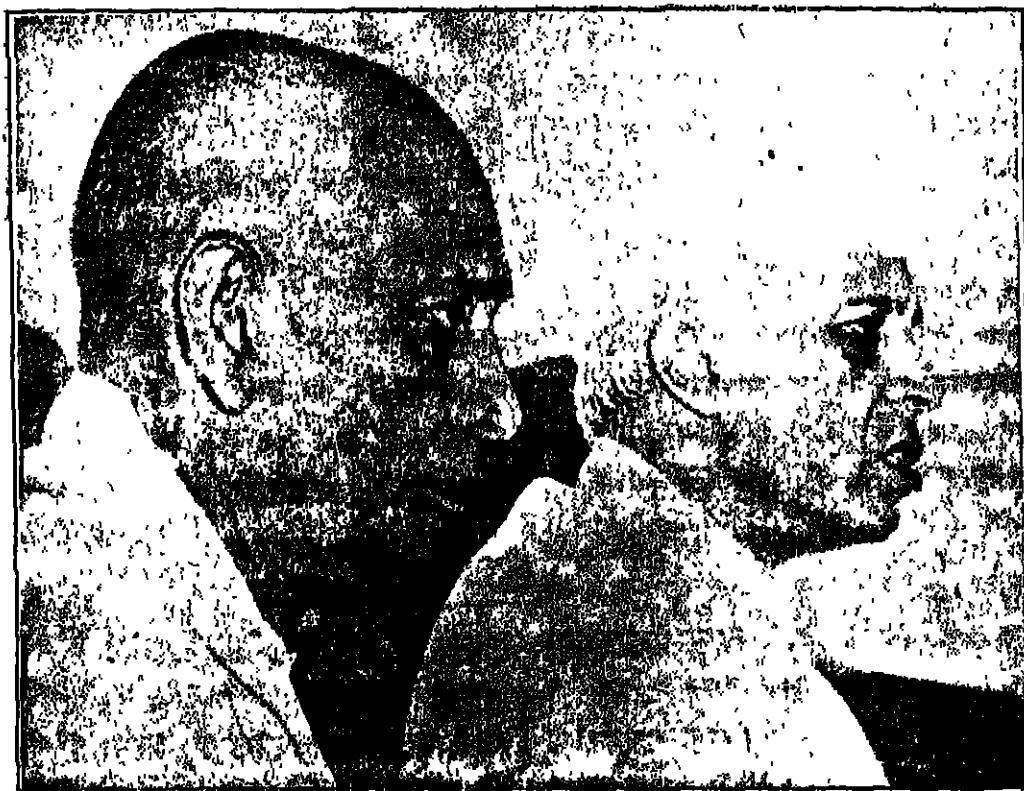
सरदार पटेल, जवाहरलाल नेहरू के साथ। राज्यों का विभाग सरदार पटेल के जिम्मे था। उन्होंने देशी रियासतों का भारत के साथ विलय कराया।

सरदार बल्लभभाई पटेल के ज़िम्मे था। उनके प्रयास से भारत के स्वतंत्र होने के पहले ही सभी राज्यों को भारत में मिला लिया गया था। केवल तीन ही राज्य 15 अगस्त 1947 ई. तक भारत में नहीं मिले थे। वे तीन राज्य थे-जम्मू तथा कश्मीर, हैदराबाद और जूनागढ़। स्वतंत्रता के तुरंत बाद कश्मीर पर पाकिस्तान ने हमला कर दिया। मगर जम्मू तथा कश्मीर की जनता अपने को भारत का अंग समझती थी। उसने पाकिस्तानी हमलावरों को डटकर मुकाबला किया। वे राज्य भारत में मिल गए। पाकिस्तानी हमलावरों को मार भगाने के लिए भारतीय सेना वहां भेजी गई।

जूनागढ़ का नवाब पाकिस्तान भाग गया। फरवरी 1948 ई. में जूनागढ़ की जनता ने भारत में मिल जाने के पक्ष में मत दिया। हैदराबाद के निज़ाम ने मान लिया कि जनता के प्रतिनिधियों द्वारा बनाई गई एक सरकार भारत में मिल जाने के बारे में फ़ैसला करेगी। मगर उसने इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाए। विपरीत, उसने हथियारबंद धर्मांधों को जनता पर जुल्म करने के लिए उकसाया। सितंबर 1948 ई. में भारतीय सैनिक सिकंदराबाद में घुसे और निज़ाम ने आत्मसर्पण कर दिया। बाद में वह राज्य भारत में मिल गए।

भारत की स्वाधीनता और राजनीतिक एकीकरण से संबंधित इस प्रकरण को समाप्त करने के पहले कुछ ऐसे मामलों का ज़िक्र करना आवश्यक है जो स्वाधीनता तथा एकीकरण की प्रक्रिया के अंग हैं, मगर काफ़ी बाद में घटित हुए। ये मामले भारत में पुर्तगाल और फ़्रांस के उपनिवेशों से संबंधित हैं। इन उपनिवेशों का इस पुस्तक में पहले जिक्र तो हुआ है, मगर इन क्षेत्रों के आज़ादी के आंदोलन के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया। ये क्षेत्र थे-फ़्रांसीसी शासन के अंतर्गत पांडिचेरी, कराइकल, यनम, माहे तथा चंद्रनगर और पुर्तगाली शासन के अंतर्गत गोवा, दमन, दीव तथा दादरा व नगर हवेली। इन क्षेत्रों में भी आज़ादी के आंदोलन का और शेष भारत के साथ मिल जाने का लंबा इतिहास है। मगर इन क्षेत्रों में विदेशी शासन का अंत भारत के स्वतंत्र होने के कई साल बाद हुआ।

फ़्रांस के भारतीय उपनिवेशों में आज़ादी के लिए संघर्ष काफी पहले शुरू हो गया था, मगर दूसरे महायुद्ध के बाद यह ज़्यादा तीव्र हो गया। 1948 ई. में माहे में विद्रोह हुआ और प्रशासन ने समर्पण कर दिया। 1949 ई. में चन्द्रनगर भारत में मिल गया। 1954 ई. में फ़्रांस द्वारा शासित क्षेत्रों की जनता ने भारी बहुमत से भारत में मिलने का फैसला किया।

तब भारत और फ़्रांस के बीच एक समझौता हुआ जिसके अंतर्गत सभी फ़्रांस-शासित क्षेत्र भारत में मिल गए।

पुर्तगाल उपनिवेशों में सशस्त्र संघर्ष काफ़ी पहले शुरू हो गया था और अठारहवीं, उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदियों में जारी रहा। गोवा में राष्ट्रीय आंदोलन के पिता त्रिस्ताओ ब्रगांजा कुन्हा थे। उन्होंने 1928 ई. में कांग्रेस कमेटी की स्थापना की थी। गोवा के अनेक स्वाधीनता सेनानियों को यातनाएं दी गईं और जेलों में ठूसा गया। उनमें से कुछ को तो अनेक सालों तक पुर्तगाल की जेलों में रखा गया। कइयों को मृत्युदंड दिया गया।

त्रिस्ताओ ब्रगांज़ा कुन्हा

1954 ई. में स्वाधीनता सेनानियों ने दादरा, और नगर हवेली को पुर्तगाली शासन से मुक्त किया।

भारत सरकार लंबे समय तक पुर्तगाल की सरकार को समझाती रही कि यह अपने उपनिवेश छोड़ दे। उस समय पुर्तगाल यूरोप का एक सबसे पिछड़ा हुआ देश था और उस पर एक तानाशाह का शासन था। बावजूद इसके, कई पाश्चात्य देश उसका समर्थन कर रहे थे, विशेषकर ब्रिटेन। अमेरिका भी इस बेहूदे दावे का समर्थन करता रहा कि गोवा पुर्तगाल का एक प्रांत है। 1955 ई. में एक सत्याग्रही आंदोलन शुरू हुआ। निहत्थे सत्याग्रहियों ने गोवा में प्रवेश किया। पुर्तगाली सैनिकों ने उन पर गोलियां चलाईं और उनमें से कइयों को मार दिया। पुर्तगाल के शासन को उखाड़ फेंकने के लिए गोवा के कुछ लोगों ने सशस्त्र दल बनाए। अंत में दिसंबर 1961 ई. में भारतीय सेना गोवा में पहुंची और पुर्तगालियों ने समर्पण कर दिया। गोवा भारत का अंग बन गया। उसके साथ ही समूचा भारत स्वतंत्र हो गया। तुम्हारे लिए यह जानकारी दिलचस्पी होगी कि कुछ साल बाद पुर्तगाल की जनता ने अपने देश की उस तानाशाही को खत्म कर दिया जिसने उनका कई दशकों तक दमन किया था। उसके तुरंत बाद पुर्तगाल की नई सरकार ने *अफ़्रीका*

के पुर्तगाल उपनिवेशों के आज़ादी के आंदोलनों के नेताओं से बातचीत की और वहां पुर्तगाल शासन समाप्त हो गया।

भारत के स्वतंत्र होने के कुछ ही दिनों बाद भारतीय जनता को एक महान विपत्ति का सामना करना पड़ा। गांधीजी ने भारतीय जनता की जागृति में महान भूमिका अदा की थी। उन्होंने आज़ादी की लड़ाई में भारतीय जनता का अनेक सालों तक नेतृत्व किया था। वे आधुनिक भारत के महानतम मानव थे और मानवता के इतिहास के एक श्रेष्ठतम पुरुष थे। उनके मार्गदर्शन और नेतृत्व में भारत ने आज़ादी की लड़ाई लड़ी और अंत में आज़ादी प्राप्त की। इसीलिए उन्हें राष्ट्रपिता माना जाता है। जिन कार्यों के लिए उन्होंने अपना जीवन अर्पित किया था उनमें से एक प्रमुख था हिंदू-मुस्लिम एकता का कार्य। जब सांप्रदायिक दंगे भड़क उठे तो उन्होंने दंगाग्रस्त क्षेत्रों का दौरा किया और शांति तथा सांप्रदायिक मैत्री स्थापित करने के लिए प्रेम तथा बंधुत्व का उपदेश दिया। जिस दिन भारत स्वतंत्र हुआ उस दिन गांधीजी कलकत्ता के दंगों से प्रभावित क्षेत्र में थे। हिंदुओं तथा मुसलमानों की हत्याओं से और देश के विभाजन से उन्हें बेहद पीड़ा हुई थी। कुछ लोग प्रेम और बंधुभाव के उनके संदेश को पसंद नहीं करते थे। दूसरे समुदायों के प्रति उनके दिमागों में नफ़रत का ज़हर भरा था। 30 जनवरी, 1948 ई. को एक हिंदू धर्मांध ने गांधीजी को, जब वे प्रार्थना सभा में जा रहे थे, गोली मार दी। भारतीय जनता विगत साल में हुई सांप्रदायिक हत्याओं तथा विनाश के आघात से जैसे-तैसे अपने को संभालने का प्रयास कर रही थी, तो पुनः गहन शोक में डूब गई। जवाहर लाल नेहरू ने कहा कि, "हमारे जीवन से प्रकाश गायब हो गया है"। गांधीजी कलह से भरे विश्व मे प्रेरणा के स्रोत और प्रकाश के स्तंभ थे। वे सारे संसार में महात्मा के नाम से जाने जाते थे। उन्होंने हर व्यक्ति के आंसू पोंछने और हर जगह से दुःख दूर करने के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया था। उनके सपने को पूरा करना हम सबका कर्तव्य है।

स्वतंत्र भारत के सामने एक तात्कालिक प्रमुख समस्या थी-विस्थापितों को फिर से बसाना। जो इलाके पाकिस्तान के हिस्से में गए थे वहां से लाखों लोग बेघरबार होकर भारत आए थे। उनको सहायता तथा रोजगार देने और बसाने की समस्या आई। उन्होंने भी अपनी तकलीफ़ साहस के साथ झेलीं और स्थिर होकर नई जिंदगी शुरू कर दी।

देश के विभाजन ने कई आर्थिक समस्याएं पैदा कीं। कई उद्योगों के लिए कच्चे माल का अभाव हो गया। जूट तथा

1947 ई. में भारत
भारत की वर्तमान बाह्य सीमा
पाकिस्तान
जम्मू और कश्मीर
पश्चिम पाकिस्तान
पूर्व पाकिस्तान
चंदरनगर
जूनागढ़
दीव
दादरा और नागर हवेली
हैदराबाद
यानम
गोवा
पांडिचेरी
माहे
कारेकाल
लक्षद्वीप (भारत)
अंडमान और निकोबार द्वीप समूह (भारत)
तीन देशीय राज्य - जम्मू कश्मीर, हैदराबाद और जूनागढ़ आज़ादी के बाद हिन्दुस्तान में शामिल हुए चन्दरनगर, जो फ्रांसीसियों के कब्ज़े में था, 1949 में भारत का अंश बना। दूसरे फ्राँसीसी क्षेत्र पांडिचेरी, कारेकाल, माहे और यानम 1954 में भारत में शामिल हुए।
दादर और नागर हवेली 1954 में, और गोवा, दमन और दीव 1961 में पुर्तगाल से आज़ाद हुए और भारत का अंग बने। 1972 में सिक्किम भारत का एक राज्य बना। 1971 में पूर्व पाकिस्तान आज़ाद हुआ और बांग्लादेश कहलाया।

सूती कपड़े के अधिकांश कारखाने भारत में रह गए, मगर जूट तथा कपास का उत्पादन करने वाले अधिकांश क्षेत्र पाकिस्तान के हिस्से में चले गए। परिणाम-स्वरूप, जूट और सूती कपड़े के कई कारखाने बंद हो गए। बड़ी मुश्किल से कच्चे माल का अभाव मिटाया जा सका। गेहूं और चावल पैदा करने वाले विशाल क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए थे। आबादी के अनुपात की दृष्टि से सींचित भूमि का बड़ा हिस्सा पाकिस्तान में चला गया था। इसलिए कुछ दिनों तक भारत में अन्न का अभाव भी रहा। दूसरे महायुद्ध और विभाजन के कारण देश की परिवहन-व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त हो गई थी।

इसी बीच स्वतंत्र भारत के लिए संविधान बनाने का कार्य भी चल रहा था। संविधान सभा ने अपना कार्य 26 नवम्बर, 1949 ई. को पूरा किया। 26 जनवरी, 1950 ई. को भारत एक गणतंत्र बन गया। उसी दिन संविधान लागू हो गया। वह दिन 1930 ई. से ही स्वतन्त्रता दिवस के रूप में मनाया जा रहा था। उस दिन भारत को गणतन्त्र घोषित किया गया, इसलिए तब से वह दिन गणतंत्र दिवस के रूप में मनाया जाता है।

अभ्यास

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो :
   1. द्वितीय विश्व युद्ध के प्रति राष्ट्रीय आन्दोलन का क्या रुख था ?
   2. आज़ाद हिंद फौज की स्थापना क्यों हुई? भारत की स्वतन्त्रता के लिए उसने क्या किया?
   3. किन परिस्थितियों में भारत को स्वतंत्रता मिली ?
   4. स्वतंत्रता मिलने के बाद भारतीय जनता के सामने कौन-सी समस्याएँ आईं?
   5. ब्रिटिश शासन के दौरान पांडिचेरी और गोवा की क्या स्थिति थी? वे कब और कैसे स्वतंत्र हुए?
   6. भारत छोड़ो आंदोलन का क्या अर्थ है? यह कब शुरू हुआ? भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में इसका क्या महत्त्व है?

2. कालम "क" में कुछ घटनाएँ और कालम "ख" में कुछ तिथियाँ दी गई हैं। कालम "ख" को इस तरह व्यवस्थित करो कि तिथियों का घटनाओं से सही संबंध स्थापित हो जाए।

	"क"		"ख"
1.	कांग्रेस ने "भारत छोड़ो" प्रस्ताव पास किया।	1.	194.
2.	गांधी-हत्या	2.	15 अगस्त 1947
3.	स्वतंत्रता-प्राप्ति	3.	26 जनवरी 1950
4.	भारत गणतंत्र बना।	4.	8 अगस्त 1942
5.	ब्रिटिश सरकार ने कैबिनेट मिशन की नियुक्ति की।	5.	30 जनवरी 1948

3. करने के लिए कार्य

1. स्वतंत्रता-आंदोलन के इतिहास के सन् 1939 से 1947 ई. तक की महत्त्वपूर्ण तिथियों और घटनाओं को एक काल रेखा बनाकर दिखाओ।
2. अपने शिक्षको, सहपाठियों और स्कूल के वरिष्ठ छात्रों की सहायता से स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास के संबंध में एक प्रदर्शनी आयोजित करो। प्रदर्शनी में अन्य चीज़ों के अतिरिक्त नेताओं तथा घटनाओं की तस्वीरें एवं रेखाचित्र तथा पुराने समाचार पत्रों में छपी रिपोर्टों तथा महत्त्वपूर्ण प्रस्तावों की तस्वीरें शामिल करो।
3. स्वतंत्र भारत का एक मानचित्र तैयार करो।